WORLD HISTORY

विश्व इतिहास

Class Notes (Hindi)

- प्राचीन मध्य एवं आधुनिक विश्व का उद्भव
- पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आंदोलन आदि
- प्रबोधन
- अमेरिकी क्रांति एवं गृह युद्ध
- फ्रांस की क्रांति
- 1815 के बाद का यूरोप
- औद्योगिक क्रांति
- समाजवाद एवं मार्क्सवाद
- उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद
- प्रथम विश्व युद्ध
- पेरिस शांति सम्मलेन
- पूंजीवाद का प्रथम बड़ा संकट (प्रथम विश्व युद्ध)
- पूंजीवाद का दूसरा बड़ा संकट (विश्व आर्थिक मंदी)
- विश्व आर्थिक मंदी के विरुद्ध विध्वंसात्मक प्रतिक्रिया- फ़ासीवाद एवं नाज़ीवाद
- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात यूरोप
- विश्व युद्धोत्तर विश्व की दशा एवं दिशा
- समकालीन विश्व

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform

■ विश्व इतिहास के अध्ययन का अर्थ है परिवर्तन के तत्वों को रेखांकित करना तथा इस क्रम में अतीत से वर्तमान तक के विकास को रेखांकित करना।

- परिवर्तन के प्रक्रम को समझने के लिए निम्नलिखित फार्मूला का उपयोग

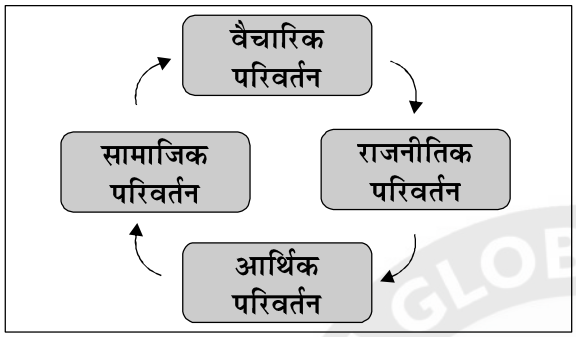

■ **महत्वपूर्ण टॉपिक:**

- राजतंत्र का उद्भव तथा राष्ट्रीय-राज्य की स्थापना (इस परिवर्तन को समझने के लिए 14वीं सदी से 18वीं सदी के बीच यूरोप में होने वाले परिवर्तनों को समझना आवश्यक है।)
- प्रबोधन तथा यूरोप का आधुनिकीकरण।
- अमेरिकी क्रांति तथा अमेरिकी संविधान।
- फ्रांस की क्रांति तथा इसका प्रभाव एवं नेपोलियन बोनापार्ट।
- यूरोप में उदारवाद तथा राष्ट्रवाद एवं यूरोप पर इसका प्रभाव - इटली एवं जर्मनी का एकीकरण, ऑटोमन साम्राज्य एवं बाल्कन प्रश्न।
- औद्योगिक क्रांति- ब्रिटेन, जर्मनी, रूस एवं जापान।
- एशिया में साम्राज्यवाद तथा अफ्रीका का विभाजन।
- समाजवाद एवं वामपंथ
- प्रथम विश्व युद्ध का उद्भव एवं प्रभाव, पेरिस शांति सम्मेलन एवं अरब राष्ट्रवाद।
- विश्व आर्थिक मंदी तथा इटली एवं जर्मनी में फासीवाद एवं नाजीवाद का उद्भव।
- मुसोलिनी एवं हिटलर की विदेश नीति तथा द्वितीय विश्व युद्ध - एशिया एवं अफ्रीका पर प्रभाव।
- शीतयुद्ध एवं गुटनिरपेक्ष आंदोलन, अंतर्राष्ट्रीय संकट; जैसे- स्वेज नहर संकट, क्यूबा प्रक्षेपास्त्र संकट, वियतनाम संकट।

■ **अध्ययन का विशिष्ट तरीका**

- **अध्ययन की लंबवत् पद्धति:** टॉपिक विशेष का गहराई से अध्ययन-

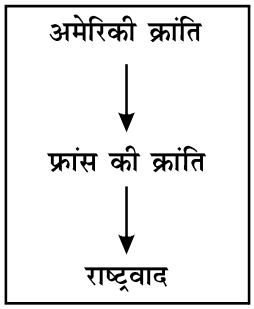

- **अध्ययन का क्षैतिज दृष्टिकोण:** एक टॉपिक को दूसरे टॉपिक से जोड़ते हुए परिवर्तन के तत्वों को रेखांकित करना-

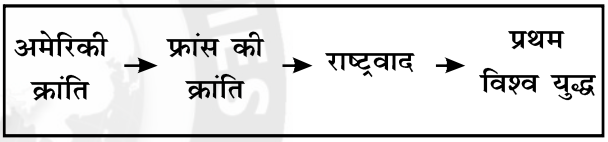

■ **अन्तर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण (Interdisciplinary approach)**- इतिहास विषय के माध्यम से अन्य विषयों की समझ विकसित करना।

- **विश्व इतिहास**- विश्व इतिहास का उपयोग हम अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, राजव्यवस्था और संविधान की समझ को विकसित करने में भी कर सकते हैं।

■ **विश्व इतिहास के अध्ययन को यूरो-केंद्रित (Euro-centric) क्यों माना जाता है?**

- पश्चिमी विचारकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विश्व की महान भौतिक एवं वैचारिक उपलब्धियाँ पश्चिमी विश्व में ही प्रकट हुईं तथा पश्चिम से ही उनका प्रसार विश्व के अन्य क्षेत्रों में हुआ।

■ **यूरो-केंद्रित (Euro-centric) विचार से सहमत होना क्यों कठिन है?**

- विश्व की प्राचीनतम सभ्यताएँ एशिया एवं अफ्रीका में विकसित हुईं, यथा– पश्चिम एशिया में मेसोपोटामिया की सभ्यता, भारत में सिंधु घाटी की सभ्यता तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में मिस्र की सभ्यता। इसके थोड़े समय बाद की चीन की सभ्यता थी। जहाँ तक यूरोप का सवाल है तो यूरोप की प्राचीनतम सभ्यता, यूनान की सभ्यता (ग्रीक सभ्यता), ऊपर वर्णित सभ्यताओं से बहुत बाद की है।
- उसी प्रकार, प्रथम वैश्विक साम्राज्य की स्थापना यूरोप में नहीं, बल्कि पश्चिम एशिया में हुई तथा इसे अखमनी साम्राज्य (Achaemenid Empire) के नाम से जाना गया। इतना तक कि यूरोपीय पुनर्जागरण के उद्भव में भी पूर्वी सभ्यताओं का योगदान रहा है।

प्राचीन यूरोप

■ **प्राचीन यूरोप में राजनीतिक संरचना (Political structure during Ancient Europe):**

- विश्व के विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप में तथा क्रमिक रूप में विकसित हुये। मानव पहले शिकारी एवं खाद्य संग्राहक था, नवपाषाण काल में पहली बार वह खाद्य उत्पादक की अवस्था में पहुँचा। फिर मानव ने पहले धातु के रूप में ताँबे का प्रयोग आरम्भ किया। अतः इस कालखण्ड को ताम्र-पाषाणकाल के नाम से जाना गया। फिर विश्व के कुछ समुदायों ने ताँबे से काँसे का विकास किया। यह ताँबे की तुलना में अधिक ठोस धातु थी तथा उत्पादन में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण थी, इसलिए यह समुदाय अधिक विकसित होकर सभ्यता की अवस्था में पहुँच गया, फिर यह नगरीकरण की अवस्था में पहुँच गया तथा लिपि का प्रचलन भी आरम्भ हो गया।
- विश्व की इन प्राचीनतम् सभ्यताओं में उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका में मिस्र की सभ्यता, इराक में दजला-फुरात की घाटी में मेसोपोटामिया की सभ्यता तथा भारत में हड़प्पा सभ्यता अस्तित्व में आयीं। लगभग उसी काल में 1500 ई.पू. में अमेरिका में माया सभ्यता विकसित हुई। चीन की सभ्यता इसके बाद की है। यूरोप इनके बहुत बाद सभ्यता की अवस्था में पहुँचा। सबसे पहले दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में यूनान की सभ्यता आयी। इसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण यह नगर, राज्य (800 ई.पू.) की अवस्था में पहुँच गया।
- ताँबे के पश्चात् मानव समुदाय लोहे की अवस्था में पहुँचा। लोहा एक मजबूत धातु था तथा इसकी प्रचुरता भी अधिक थी। अतः इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। इसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना सम्भव हुई। इस प्रकार साम्राज्यों का युग आरंभ हुआ। इसके तहत निम्नलिखित साम्राज्यों की व्याख्या की जा सकती है-
- **अखमिनी साम्राज्य** (Achaemenid Empire)- यह साम्राज्य पश्चिम एशिया के ईरान में डेरियस के अधीन विकसित हुआ। इसे पहला वैश्विक साम्राज्य माना जाता है जो दक्षिणी पश्चिमी यूरोप से लेकर मध्य एशिया और उत्तर-पश्चिम भारत तक फैला हुआ था। वही समय है जब भारत में मगध साम्राज्य का उद्भव और विस्तार आरम्भ हुआ।

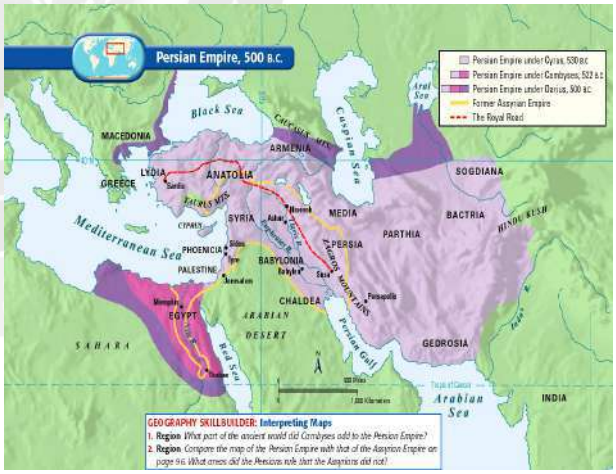

- **सिकन्दर का साम्राज्य (Alexander's Empire)**- आगे डेरियस के साम्राज्य के पतन के पश्चात् सिकन्दर के साम्राज्य का उद्भव एवं विस्तार हुआ। इसका आधार यूनान में मकदूनिया था। सिकन्दर के पिता फिलिप ने दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में यूनान के नगर राज्यों को जीत लिया था। उसके द्वारा ही एक साम्राज्य का निर्माण किया गया। आगे उसके पुत्र सिकन्दर ने इसे उत्तर-पश्चिम भारत में व्यास नदी तक तथा उत्तर में मध्य एशिया तक फैलाया। परन्तु जब 323 ईसा पूर्व में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी, तो उसका साम्राज्य तीन भागों में बँट गया।

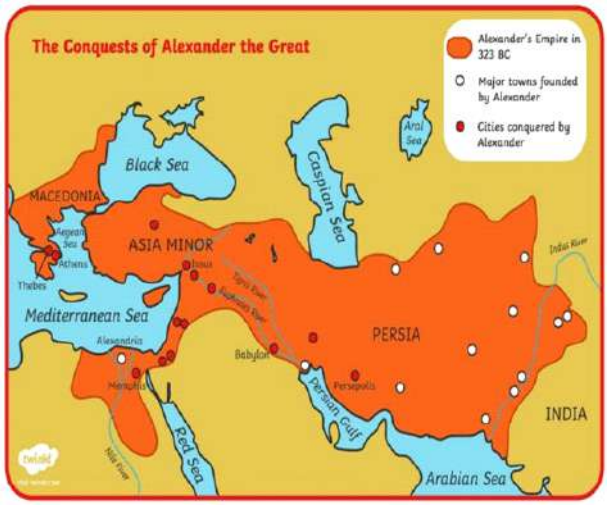

- **रोमन साम्राज्य (Roman Empire)** – इसी समय यूरोप में एक नये साम्राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ जिसे रोमन साम्राज्य के नाम से जाना गया। जैसा कि हमने पीछे देखा कि दक्षिणी पूर्वी यूरोप में एक यूनान की सभ्यता स्थापित हो गयी थी, परन्तु चौथी सदी ईसा पूर्व के मध्य में सिकन्दर के पिता फिलिप ने यूनानी नगर राज्यों को जीत लिया था। इसलिए यूनान की सभ्यता साम्राज्य की अवस्था में नहीं पहुँच सकी थी, परन्तु इसके पश्चात् दक्षिणी यूरोप में एक रोमन सभ्यता का विकास हुआ।

- अगर यूनानी लोगों की दृष्टि अधिक बौद्धिक थी तो रोमन लोगों की दृष्टि अधिक व्यावहारिक। इसलिए रोमन लोगों ने एक साम्राज्य का निर्माण किया। आरम्भ में यह एक गणतंत्र था, परन्तु आगे चलकर यह राजतंत्र के रूप में स्थापित हो गया। फिर तीसरी सदी ई. के पश्चात् इसके विशाल आकार को देखते हुये इसका विभाजन पूर्वी रोमन साम्राज्य एवं पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच हो गया। पश्चिमी रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम थी, तो पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया (Constantinople)। परंतु आगे पश्चिमी रोमन साम्राज्य को निरंतर जर्मन आक्रमण का सामना करना पड़ा। इस कारण लगभग 476 ईस्वी में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का

विघटन हो गया, जबकि पूर्वी रोमन साम्राज्य लगभग 1000 वर्ष आगे तक चलता रहा।

- **मौर्य साम्राज्य (Mauryan Empire)**– जिस समय यूरोप में रोमन साम्राज्य अस्तित्व में आया, लगभग उसी समय भारत में प्रथम बड़े साम्राज्य के रूप में मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुयी। यह साम्राज्य उत्तर–पश्चिम में हिन्दुकुश क्षेत्र से लेकर दक्षिण में कर्नाटक के ब्रह्मगिरी तक फैला हुआ था। परन्तु यह रोमन साम्राज्य जितना दीर्घजीवी सिद्ध नहीं हुआ तथा दूसरी सदी ईसा पूर्व के मध्य में इसका विघटन हो गया।

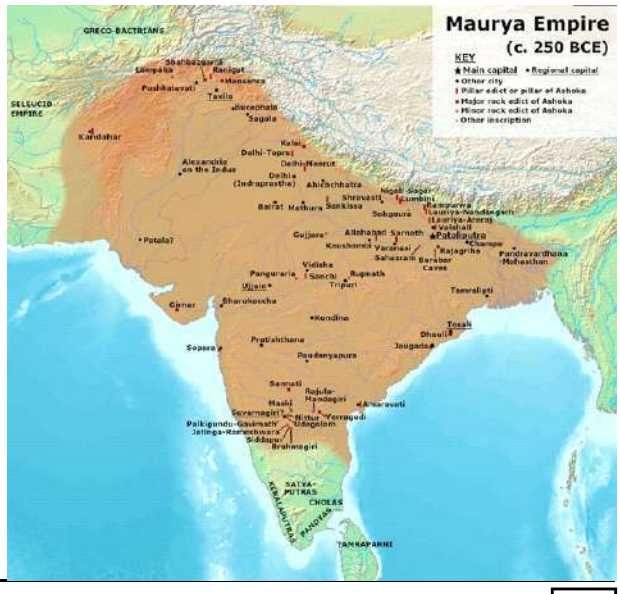

- **कुषाण साम्राज्य (Kushana Empire)**- मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् भारत में अनेक राज्य स्थापित हुए थे, किन्तु इनमें से दो राज्य, साम्राज्य के स्तर तक पहुँच गए- कुषाण एवं सातवाहन। कुषाण साम्राज्य ने एक विशाल आकार ग्रहण किया, जो पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया से लेकर उत्तर भारत में बनारस तक फैला हुआ था। यह रेशम मार्ग के एक भाग पर भी नियंत्रण रखता था।

- **हान साम्राज्य (Han Empire)**- लगभग इसी काल में चीन में एक बड़े साम्राज्य, हान साम्राज्य का विकास हुआ। यह चीन का एक महत्वपूर्ण साम्राज्य था। यह दूसरी सदी ईसा पूर्व से दूसरी सदी के बीच लगभग 400 वर्षों तक अस्तित्व में रहा। इसके अन्तर्गत चीन में स्थायित्व एवं समृद्धि आयी। रेशम मार्ग के संचालन में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

■ प्राचीन यूरोप की अर्थव्यवस्था (Economy Ancient Europe) :

- **कृषि अर्थव्यवस्था (Agrarian economy)**- कृषि अर्थव्यवस्था दासों के श्रम पर आधारित थी। (यूरोप में दासों पर आधारित उत्पादन प्रणाली थी, वहीं भारत में दासों को घरेलू कार्य के लिए लगाया जाता था। भारत में दासों पर आधारित उत्पादन प्रणाली नहीं थी।)
- **वाणिज्य-व्यापार और नगरीय अर्थव्यवस्था (Trade & Commerce and Urban economy)**- चूंकि रोमन साम्राज्य का नियंत्रण महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों पर रहा था। इसलिए व्यापार और नगरीय अर्थव्यवस्था विकसित अवस्था में थी। प्रसिद्ध रेशम मार्ग का संचालन इसी काल में हुआ था। तीन साम्राज्यों के द्वारा इसे संरक्षण दिया जाता रहा। यह मार्ग पूरब में चीन को पश्चिम में रोमन साम्राज्य से जोड़ता था तथा यह मार्ग मध्य एशिया से होकर गुजरता था। चीन में हान साम्राज्य, भारत में कुषाण साम्राज्य और पूर्वी यूरोप में रोमन साम्राज्य (विभाजन के पश्चात् पूर्वी रोमन साम्राज्य अथवा बिजेन्टीयन साम्राज्य) इसे संरक्षण देते थे।
- भारत को रेशम मार्ग से विशेष लाभ इसलिए होता था कि रेशम मार्ग के एक भाग पर कुषाणों का भी नियन्त्रण था। फिर चूँकि पश्चिमी रोमन साम्राज्य तथा पूर्वी रोमन साम्राज्य की ईरान के ससानियन साम्राज्य से शत्रुता थी, इसलिए ससानियन साम्राज्य के द्वारा प्रायः यह मार्ग अवरूद्ध कर दिया जाता था। ऐसी स्थिति में चीन से आने वाला रेशम भूमि मार्ग से भारत की ओर मुड़ जाता था और फिर गुजरात के बन्दरगाह से होकर अरब सागर होते हुये रोमन साम्राज्य को भेजा जाता था।
- साथ ही, यह भी गौर करने वाली बात है कि प्राचीन काल से लेकर यूरोपीय औपनिवेशीकरण तक यूरोप और एशिया के बीच होने वाले व्यापार में व्यापार संतुलन हमेशा एशिया के पक्ष में रहा था। इसका कारण रहा था एशियाई उत्पादों के प्रति यूरोप का आकर्षण, दूसरी तरफ, एशिया में यूरोपीय उत्पादों की माँग नहीं होना। इसलिए रोमन साम्राज्य को चीन एवं भारत के उत्पादों की अदायगी कीमती धातु देकर करनी होती थी।

■ प्राचीन यूरोप की सामाजिक स्थिति (Social condition of Ancient Europe):

- प्राचीन यूनानी और रोमन साम्राज्य मुख्यतः दो भागों में विभाजित था- दासों के स्वामी तथा दास। भूमि स्वामी, सामान्यतः दासों के श्रम पर ऐशो-आराम का जीवन जीते थे।

■ **प्राचीन यूरोप की धार्मिक स्थिति (Religious condition of Ancient Europe):**

- **भारत**- भारत में **वैदिक धर्म** अति प्राचीन धार्मिक पंथ माना जाता रहा है। यह लगभग 1500 ईसा पूर्व से सम्बद्ध रहा था। फिर छठी सदी ईसा पूर्व में कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में **बौद्ध एवं जैन पंथ** का उद्‌भव हुआ। बौद्ध पंथ का दृष्टिकोण अधिक रैडिकल (मूल परिवर्तन दृष्टिकोण) था। इसने कुछ ऐसे मूलभूत प्रश्न उठाये जिसने भारत के बाहर के लोगों को भी आकर्षित किया। फिर इसे मौर्य साम्राज्य एवं कुषाण साम्राज्य का भी संरक्षण मिल गया। यही वजह है कि यह विश्व धर्म के रूप में स्थापित हो गया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया, चीन, तिब्बत और जापान से होते हुये पश्चिम एशिया और मध्य एशिया तक पहुँच गया।
- **जरथ्रुष्ट पंथ (Zorostrianism)**- इस पंथ का विकास ईरान में हुआ। इसके प्रवर्तक जरथ्रुष्ट नामक चिन्तक थे। इनका मानना था कि विश्व में हमेशा प्रकाश और अंधकार की शक्ति के बीच संघर्ष होता है और जीत, प्रकाश की शक्ति की होती है। इसमें अग्नि पूजा को विशेष महत्व दिया गया था। इसे ईरान के अखमिनी साम्राज्य का संरक्षण मिला था, अतः ईरान में इसका प्रसार हुआ। आगे जब इस्लामी शक्ति की स्थापना के बाद इसके अनुयायियों को उत्पीड़ित किया जाने लगा, तो फिर ये इधर-उधर बिखर गये तथा 8वीं सदी में इनकी एक शाखा भारत भी आयी। वे पारसी के नाम से जाने गये।
- **चीन में ताओवाद एवं कन्फ्युशियसवाद (Taoism and Confucianism in China)**- ये दोनों धार्मिक पंथ लगभग छठी सदी ईसा पूर्व में अस्तित्व में आये। ताओवाद का प्रवर्तक लाओत्से था। यह मानव की सहज प्रकृति तथा प्रकृति सौन्दर्य पर बल देता है। दूसरी तरफ, कन्फ्युशियसवाद एक धार्मिक दर्शन की तुलना में सामाजिक दर्शन अधिक है। जिस समय कन्फ्युशियस का आगमन हुआ था, उस समय चीन उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। इसलिए कन्फ्युशियस ने इस बात पर बल दिया कि लोगों को परम्परा का पालन करना चाहिए, पदानुक्रम को समझना चाहिए, माता, पिता एवं गुरू को सम्मान देना चाहिए और अपने जीवन में अनुशासन का पालन करना चाहिए।
- ऐसा माना जाता है कि चीनी लोगों की चेतना पर कन्फ्युशियसवाद का गहरा प्रभाव रहा है। यही वजह है कि चीन में साम्यवाद भी वैश्विक साम्यवाद से पृथक् हो गया। दुनिया में साम्यवादी सरकारों का पतन हो गया है, परन्तु चीन में यह अभी भी बरकरार है क्योंकि कन्फ्युशियस ने लोगों में एक ऐसी मानसिकता विकसित कर दी है कि सत्ता एवं वरिष्ठ जन का सम्मान करना चाहिए।
- **प्राचीन यूनान और रोम के धार्मिक पंथ**- प्राचीन यूनान और रोम में बहुदेववाद (एक से अधिक देवताओं की उपासना) का प्रचलन रहा था। इसके साथ ही मूर्तिपूजा प्रचलित रही थी। प्राचीन यूनान और रोम में बड़ी ही सुडौल मूर्तियाँ बनायी जाती थीं, जहाँ प्राचीन यूनानी देवताओं को प्रतिनिधित्व दिया जाता था। (यूनानी रोमन मूर्तिकला का प्रभाव आगे भारत की गांधार कला पर देखा जा सकता है।) फिर रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत राजाओं की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। इन मूर्तियों की पूजा भी की जाती थी। यही कारण है कि आगे रोमन साम्राज्य का पहले यहूदी पंथ और फिर ईसाई पंथ के साथ विवाद हुआ तथा रोमन साम्राज्य के द्वारा उन्हें उत्पीड़ित किया गया।
- **यहूदी पंथ (Judaism)**- यहूदी पंथ का विकास मेसोपोटामिया क्षेत्र में हुआ था। इसके पैगम्बर अब्राहम थे। इन्होंने मेसोपोटामिया से यहूदियों को फिलिस्तीनी क्षेत्र में लाया, लेकिन जब फिलिस्तीनी क्षेत्र रोमन साम्राज्य के नियन्त्रण में आ गया तो फिर रोमन शासकों के द्वारा इन्हें उत्पीड़ित किया जाने लगा। फिर यहूदियों की एक बड़ी संख्या मिस्र की ओर चली गयी, परन्तु वहाँ भी उन्हें उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। फिर मिस्र से मूसा नामक सुधारक उन्हें फिर फिलिस्तीनी क्षेत्र में स्थापित किया। वस्तुतः यहूदी पंथ पश्चिम का पहला ऐसा धार्मिक पंथ था जिसने एकेश्वरवाद (एक ईश्वर एवं निराकार ईश्वर) की अवधारणा को स्वीकार किया था। उन्होंने ईश्वर की परिकल्पना याहवे के रूप में की, परन्तु चूँकि यह मूर्ति पूजा का विरोध करता था, इसलिए रोमन साम्राज्य ने इसे उत्पीड़ित करना आरम्भ किया।
- **ईसाई पंथ (Christianity)**- ईसा मसीह पश्चिम एशिया में जेरुशलम के पास बेथेलहम में पैदा हुये थे। 29 वर्ष की अवस्था में उन्होंने सत्य एवं ईश्वर के विषय में मनन-चिन्तन के लिए रेगिस्तान में अपना कुछ समय बिताया और फिर उन्होंने अपने विचारों को फैलाना आरम्भ किया। उन्होंने भी एकेश्वरवाद पर बल दिया तथा सभी प्रकार के धार्मिक कर्मकाण्ड एवं मूर्ति पूजा का विरोध किया। वे जनसामान्य के बीच रहने लगे और उन्हें बहुत अधिक लोकप्रियता मिलने लगी।
- रोमन साम्राज्य को यह प्रतीत हुआ कि ईसा मसीह उसके विरूद्ध जनसामान्य का विद्रोह संगठित करना चाहते हैं। इसलिए कुछ यहूदी पुरोहित ही उन्हें पकड़ कर ले गये फिर जूडिया के गवर्नर ने उन्हें शूली पर चढ़ा दिया।

आरम्भ में उनके पंथ को पृथक् नहीं समझा गया था, परन्तु उनकी मृत्यु के कुछ समय पश्चात् उनके पंथ को एक पृथक धार्मिक पंथ ईसाई पंथ के रूप में मान्यता मिल गयी। आगे एक रोमन सम्राट कॉन्स्टेनटाईन ने उसे स्वीकृति दे दी। फिर यह रोमन साम्राज्य का राजधर्म बन गया। फिर देखते-देखते यह यूरोप में फैल गया।

मध्यकालीन यूरोप

■ मध्यकालीन यूरोप की राजनीतिक स्थिति (Political condition of Medieval Europe):

- जैसा कि हमने देखा कि रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट चुका था, पश्चिमी रोमन साम्राज्य एवं पूर्वी रोमन साम्राज्य। फिर जैसा कि हमें ज्ञात होता है कि तीसरी सदी से उत्तर से पश्चिमी रोमन साम्राज्य पर निरन्तर आक्रमण होने लगा था। इस कारण पश्चिमी रोमन साम्राज्य का विघटन हो गया और फिर यूरोप में वर्ण व्यवस्था कायम हुयी, जिसे हम 'सामन्तवाद' के नाम से जानते हैं। वहीं दूसरी तरफ पूर्वी रोमन साम्राज्य आगे एक हजार वर्षों तक चलता रहा तथा आगे 1453 में कुस्तुनतुनिया के पतन के साथ ही उसकी समाप्ति हुयी।
- **सामतंवाद की राजनीतिक-प्रशासनिक विशेषता (Political-Administrative features of feudalism)**- रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् राजतंत्र का पतन हो गया तथा जर्मन आक्रमणकारी अपने कबीले के साथ अलग-अलग क्षेत्रों में बस गए तथा क्षेत्रीय स्तर पर अपना शासन स्थापित कर लिया। फिर युद्ध एवं वैवाहिक स्तर पर उनके बीच भी एक पिरामिडनुमा ढाँचा तैयार हो गया जिसके निम्नलिखित प्रकार हैं-

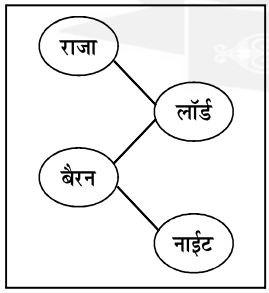

- इस पद्धति के तहत राजा का प्रजा के साथ सीधा संबंध नहीं रह गया, बल्कि ऊपर से नीचे तक एक पिरामिडनुमा ढाँचा तैयार हुआ। राजा लॉर्ड को जागीर देता, बदले में लॉर्ड राजा को सैनिक सेवा प्रदान करता और एकमुश्त वार्षिक रकम देता, ताकि राजा इससे अपना भरण-पोषण कर सके। राजा के पास अपनी सेना नहीं होती। नीचे लगभग यही संबंध लॉर्ड और बैरन के बीच तथा बैरन एवं नाईट के बीच कायम होता। दिलचस्प तथ्य यह था कि राजा सीधे तौर पर बैरन अथवा नाईट के साथ संपर्क नहीं कर सकता था।

■ मध्यकालीन यूरोप की आर्थिक स्थिति (सामंतवाद का आर्थिक पहलू) (Economic condition of Medieval Europe):

- रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् व्यापार एवं नगरीय अर्थव्यवस्था का भी पतन हो गया। फिर सामंतवाद के काल में अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएं उभर कर आई-

यूरोप - सामंतवाद

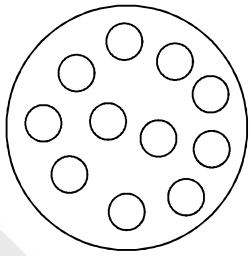

1. अर्थव्यवस्था का ग्रामीणीकरण तथा कृषि अर्थव्यवस्था का महत्व बढ़ गया।
2. अर्थव्यवस्था का क्षेत्रीय रूप विकसित हुआ तथा मुद्रा का प्रचलन अत्यधिक सीमित हो गया।
3. सामंत एवं रैयत दोनों कृषि अर्थव्यवस्था पर ही निर्भर थे। अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए सामंतों ने किसानों को भूमि से बाँध दिया। किसान अथवा रैयत भूमि खाली करके नहीं जा सकते थे तथा उन्हें सांमतों के खेत में सप्ताह के कुछ निश्चित दिन मुफ्त रूप में खेती करनी पड़ती थी। इसे कृषि दासता (सर्फडम) कहा गया।

- सामंतवाद एक अखिल यूरोपीय मध्ययुगीन संस्था थी। आगे राष्ट्रीय राज्य का विकास हो, इसलिए इसका टूटना आवश्यक था।

■ सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था (Universal Church System):

- ईसा मसीह ने जिस ईसाई धर्म को प्रतिपादित किया था, वह सादा एवं आडम्बर मुक्त था। आगे सेंट पॉल एवं सेंट ऑगस्टाईन जैसे ईसाई संत हुए। इन संतों ने भी ईसाई धर्म को हर प्रकार के आडम्बर से मुक्त रखते हुए यह घोषणा की कि आस्था ही मानव की मुक्ति का साधन है। परंतु कुछ शताब्दियों के बाद दो अन्य संत (पीटर लोम्बार्ड तथा टॉमस एक्वीनॉस) आए, जिन्होंने आस्था के बदले अच्छे कार्य को मानव मुक्ति का साधन बताया। परंतु अच्छे कार्य को उन्होंने अपने ढंग से परिभाषित करते हुए पुरोहितवाद (पादरी) और संस्कारवाद पर बल दिया अर्थात् प्रत्येक ईसाई को पुरोहित (पादरी) का निर्देश मानना और सात

संस्कारों को पालन करना है। इसी के साथ रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था विकसित हुई तथा ईसाई धर्म कर्मकाण्ड प्रधान हो गया। इस व्यवस्था के तहत रोम में चर्च का मुख्यालय स्थापित था और इसकी शाखा संपूर्ण यूरोप में फैली हुई थी। इस व्यवस्था के निम्नलिखित विशेषताएँ थीं-

सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था

1. यह अपने स्वरूप में अखिल यूरापीय (संपूर्ण यूरोप) था।
2. इसके पास बड़ी भूमि संपदा होती।
3. क्षेत्रीय चर्च लोगों पर धार्मिक कर लगाते।
4. शिक्षा एवं ज्ञान पर चर्च का एकाधिकार होता।

- सबसे बढ़कर चर्च व्यवस्था भी सामंतवाद की तरह एक मध्ययुगीन संस्था थी, जो राष्ट्रीय-राज्य के उद्भव तथा यूरोप के आधुनिकीकरण के मार्ग में एक बड़ी बाधा थी। यूरोप के बदलाव के लिए इसका टूटना आवश्यक था।

■ इस्लाम का उद्भव तथा धर्मयुद्ध (Rise of Islam and Crusades) :

- अरब क्षेत्र एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई था तथा इसके पूर्व में फारस की खाड़ी, पश्चिम में लाल सागर, दक्षिण में अरब सागर और उत्तर में भूमध्य सागर स्थित था। यह मरूस्थलीय क्षेत्र था, केवल मक्का में एक हरित पट्टी उपलब्ध थी जहाँ खेती होती थी। यहाँ विभिन्न जनजातियाँ बसती थी, इन्हें 'बेदुईन' कहा जाता था। ये ऊँट पालते थे और हथियारबंद होकर चलते थे तथा प्रायः इनके बीच आपस में संघर्ष होता रहता था। ये अर्द्धसभ्य लोग थे। यहाँ शिक्षा का भी प्रसार नहीं हुआ था। छठी सदी में पूर्वी रोमन साम्राज्य और ससानियन साम्राज्य के बीच संघर्ष के कारण जब फारस की खाड़ी का व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध हो गया और फिर व्यापार लाल सागर की ओर मुड़ गया, जिसका फायदा अरब जनजातियों को मिला।
- विभिन्न जनजातियाँ अलग-अलग धार्मिक पंथ से जुड़ी थीं। इनमें से कुछ मूर्ति पूजक भी थीं। तभी मुहम्मद का उद्भव एक पैगम्बर के रूप में हुआ और वे 612 ईस्वी से 632 ईस्वी के बीच इस क्षेत्र में एक नये धर्म के प्रसार का प्रयास करते रहे। इसे 'इस्लाम' के नाम से जाना गया। इसके अनुयायी मुसलमान कहलाये। पैगम्बर ने यह घोषित किया कि "ईश्वर एक है, वह है अल्लाह और मुहम्मद उसके पैगम्बर (संदेश वाहक) है"।

(एक तरह से अगर देखा जाये तो इस्लाम के द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवाद उसी अब्राहमी परम्परा से जुड़ा हुआ है जिससे पहले यहूदी और ईसाई जुड़े रहे थे। परन्तु इस्लाम का दृष्टिकोण आगे चलकर इस रूप में कट्टर हो गया कि इसने यह दावा किया कि मुहम्मद ही अन्तिम पैगम्बर है और इनकी वाणी ही सत्य है अर्थात् अगर पिछले पैगम्बरों का विचार मुहम्मद से टकराता है, तो वह स्वयं अप्रभावी हो जायेगा।)

- पैगम्बर मुहम्मद के एकेश्वरवाद का विचार वहाँ के मूर्ति पूजक और कट्टरपंथियों के लिए कष्टकर बन गया। अतः मक्का में पैगम्बर मुहम्मद पर जानलेवा हमला हुआ। इसलिए वे 622 ईस्वी में मदीना आ गये और मदीना में ही उन्होंने शक्ति अर्जित की तथा 630 ईस्वी में उन्होंने मक्का पर भी कब्जा कर लिया। इस प्रकार, इस्लामी राज्य की स्थापना हुयी तथा मदीना और मक्का उसके दो केन्द्र बने। *(इस्लाम में धर्म पहले है तथा समाज और राज्य उसके पश्चात्। यही समस्या आज इस्लामी राज्य को झेलनी पड़ रही है क्योंकि वहाँ उलेमा और कट्टरपंथी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों पर आधारित राष्ट्रीय सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।)*
- 632 ई. में पैगम्बर मुहम्मद का देहांत हो गया। उनके पश्चात चार आरम्भिक खलीफा हुये। इन्हें निर्वाचित खलीफा कहा गया, ये थे- अबुबक्र, उमर, उस्मान और अली (632-631 ई.)। इस बीच इस्लाम ने एक बड़े साम्राज्य का रूप ले लिया। इसने मिस्र, सीरिया, ईरान, इराक आदि पुरानी सभ्यताओं और साम्राज्यों को जीत लिया। 661 ई. में खलीफा का पद वंशानुगत हो गया। पहले उम्मैया वंश (661-750 ई.) के खलीफा और फिर अब्बासी खलीफा स्थापित हुये।
- इस बीच स्वयं अरब समुदाय की संरचना तथा इस्लाम का स्वरूप भी बदलने लगा था। इस काल में इस्लाम के अन्तर्गत होने वाले कुछ महत्वपूर्ण विकास को निम्नलिखित रूप में रेखांकित किया जा सकता है-

1. मक्का और मदीना के छोटे से राज्य से आगे बढ़कर इस्लाम ने एक वृहद् साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। सामान्यतः इस्लाम के प्रसार के लिए तलवार के सिद्धान्त पर बल दिया जाता है, परन्तु सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि महज तलवार के आधार पर यह सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती, बल्कि इसमें विचार की शक्ति ने अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मुस्लिम मिल्लत

(बन्धुता/समानता) की अवधारणा ने विभिन्न समुदायों को आकर्षित किया।

2. अरब क्षेत्र के लोग पहले अर्द्धसभ्य और अशिक्षित थे, परन्तु अपने प्रसार के मध्य वे विश्व की अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आये, यथा-मिस्र, ईरान, सीरिया और भारत। उन्होंने वहाँ से ज्ञान का संग्रह करने और उस ज्ञान को फैलाने में गहरी रूचि दिखाई। वस्तुतः अब्बासी खलीफाओं के समय बगदाद में एक अनुवाद विभाग स्थापित था तथा भारत समेत दुनिया के अन्य ग्रन्थों, जिनमें प्राचीन यूनानी और रोमन क्लासिकल साहित्य भी शामिल था, का अरबी में अनुवाद किया गया।

(इस्लाम का मूल्यांकन करते हुये इस बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि एक समय था कि शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में अरब वालों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। अरब का पुस्तकालय विश्व का सबसे समृद्ध पुस्तकालय रहा था जिसे चँगेज खाँ के पौत्र हलाकू खाँ ने नष्ट कर दिया था। इस कारण यह क्षति मानव जाति की क्षति मानी जाती है।)

3. पहले अरब जनजाति, मुस्लिम समूह में शामिल हुयी थी फिर पश्चिम एशिया के समुदायों ने इस्लाम कबूल किया। आगे फिर तुर्क और मंगोल भी इसमें शामिल हो गये। अपने प्रसार के क्रम में इस्लाम ने उत्तरी अफ्रीका, पश्चिम एशिया, मध्य एशिया, पूर्वी एशिया और दक्षिण एशिया तक अपना प्रसार किया। इस प्रकार, इस्लाम ने पहली ग्लोबल व्यवस्था कायम की जो 7वीं सदी से 15वीं सदी तक चली थी। *(इसलिए कोलम्बस और वास्कोडिगामा के द्वारा वैकल्पिक मार्ग की खोज का प्रतीकात्मक अर्थ था इस्लामी भूमण्डलीकरण का अंत और ईसाई भूमण्डलीकरण का आरम्भ, जो 15वीं सदी से 2000 ई. तक चलना था।)*

- **इस्लामी एवं ईसाई शक्ति के बीच धर्म युद्ध अथवा क्रुसेड**- इस्लामी शक्ति ने अपने प्रसार के क्रम में लगभग सम्पूर्ण विश्व को जीत लिया था, केवल पश्चिमी यूरोप के देश बचे रहे थे। आगे इन्होंने जेरूशलम पर कब्जा करने के लिए आपस में गठबन्धन बनाकर इस्लामी शक्ति का सामना किया। इसे 'क्रुसेड' अथवा 'धर्मयुद्ध' के नाम से जाना गया। 1095 और 1291 ई. के बीच तीन प्रमुख धर्मयुद्ध घटित हुये थे।

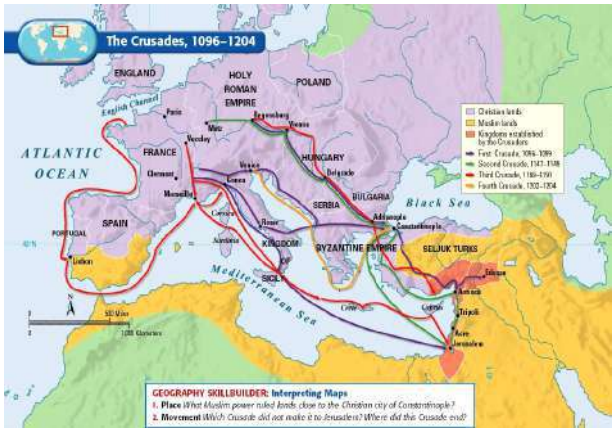

■ मध्यकालीन यूरोपीय समाज (Society of Medieval Europe):

- मध्यकालीन यूरोपीय समाज तीन वर्गों में विभाजित था-

1. **कुलीन वर्ग (Aristocratic class)**- सामंत कुलीन समाज के शीर्ष पर थे। इनके पास भूमि संपदा होती थी तथा इन्हें वर्गीय विशेषाधिकार प्राप्त था।
2. **पादरी वर्ग (Clergy class)**- सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् एक पादरी वर्ग अस्तित्व में आ चुका था, उसे भी वर्गीय विशेषाधिकार प्राप्त था। फिर चूंकि चर्च के पास भूमि संपदा होती थी। अतः यह चर्च के नाम पर स्वयं ही भूमिधारी बन बैठा था।
3. **जनसामान्य (Commoners)** - इसमें सभी अन्य लोग शामिल होते थे, यथा- किसान, शिल्पी एवं कारीगर, छोटे व्यापारी आदि। यह समाज का विशेषाधिकार विहीन वर्ग होता था तथा इसे सभी प्रकार का कर चुकाना होता था।

■ पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire):

- जर्मन जनजातियों ने रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् विभिन्न क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था। इनमें एक जनजाति फ्रेंकों जनजाति थी, जिसने गॉल क्षेत्र पर कब्जा किया। इसी जनजाति समूह से एक शक्तिशाली राजवंश कैरोंलिन्जियन वंश की स्थापना हुई। इस वंश का एक महत्वपूर्ण शासक शार्लमां था। उसने यूरोप में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जो उत्तरी यूरोप से लेकर दक्षिणी यूरोप तक फैला हुआ था। इसकी शक्ति देखकर रोम का पोप इसकी ओर आकर्षित हुआ तथा 8वीं सदी के अंत में अपने हाथ से राजमुकुट लेकर उसके सर पर रखते हुए यह घोषित किया कि आप पवित्र रोमन सम्राट हैं। अतः शार्लमां का साम्राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य कहा जाने लगा। इस साम्राज्य का जुड़ाव ईसाई धर्म के साथ हो चुका था।

आरंभ में इसने धर्मयुद्ध में भूमिका निभाई तथा फिर यह रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था के रक्षक के रूप में कार्य करता रहा।

- सामंतवाद और सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था की तरह यह भी एक अखिल यूरोपीय संस्था थी तथा यूरोप के आधुनिकीकरण एवं बदलाव के लिए इसका विघटन भी आवश्यक था। था।

■ मध्ययुगीन यूरोपीय व्यवस्था के लक्षण (Features of Medieval Europe)-

1. **राजनीतिक क्षेत्र में सामंतवाद**- यह एक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था थी जिसमें राजा की शक्ति कमजोर थी तथा वास्तविक शक्ति सामंतों के हाथों में थी।
2. **आर्थिक क्षेत्र में कृषि दासता पर आधारित व्यवस्था**- इस व्यवस्था के तहत यूरोपीय अर्थव्यवस्था अपने स्वरूप में क्षेत्रीय हो गई थी। व्यापार की भूमिका सीमित थी और मुद्रा का प्रचलन बहुत ही कम था।
3. **सामाजिक क्षेत्र में वर्गीय विशेषाधिकार पर बल**- कुलीन वर्ग और पादरी वर्ग के पास भूमि संपदा थी और जनसामान्य उससे वंचित थे।
4. **धार्मिक क्षेत्र में सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था**- सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर चर्च का विशेषाधिकार था। शिक्षा पर भी चर्च का एकाधिकार था। चर्च रूढ़िवादी तर्कशास्त्र को प्रोत्साहन दे रहा था। इसके अनुसार, मनन और चिंतन ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। इस आधार पर चर्च ने यह घोषित किया कि इस ब्रह्माण्ड के मूल में पृथ्वी है और सारे गृह एवं नक्षत्र पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं।

प्रश्न : उन कारकों की व्याख्या कीजिए जिनके परिणामस्वरूप यूरोप का मध्ययुग से आधुनिक युग में रूपांतरण संभव हुआ।

प्रश्न-विश्लेषण:- यह प्रश्न अपने स्वरूप में Hypothetical है। इसमें Keyword हैं– 'मध्य युग से आधुनिक युग में रूपांतरण' तथा Directory word है 'व्याख्या कीजिए'। आप उत्तर की शुरुआत एक सटीक परिचयात्मक वाक्य (Introductory Sentence) से कर सकते हैं। अगली पंक्ति में एक 'थेसिस वाक्य' (Thesis Statement) दिया जाना चाहिए। 'थेसिस वाक्य' दर्शाता है कि संपूर्ण उत्तर की दिशा क्या होगी। आगे विचारों, तथ्यों एवं उदाहरणों की सहायता से 'थेसिस वाक्य' को सिद्ध करने की जरूरत है। फिर एक वाक्य में एक निष्कर्ष दिया जाना चाहिए। सामान्य अध्ययन के पत्र में थेसिस वाक्य को सिद्ध करने वाले तर्क एवं विचार छोटे पैराग्राफ में लिखे जा सकते हैं या फिर प्वॉइंट में। लेखन के मध्य कुछ महत्वपूर्ण शब्द या फिर किसी पंक्ति विशेष को उसी पेन की सहायता से रेखांकित किया जा सकता है। आपका कुल प्रयास यह होना चाहिए कि आपके उत्तर का मूल्यांकन परीक्षक के लिए सुगम हो सके। यह तभी संभव होगा जब विचार एवं अभिव्यक्ति में स्पष्टता हो।

मॉडल उत्तर:- मध्य युग से आधुनिक युग में रूपांतरण के मार्ग में बाधाएँ तीन प्रमुख संस्थाएं थीं, यथा- सामंतवाद, यूरोपीय चर्च व्यवस्था एवं पवित्र रोमन साम्राज्य। जब इन तीनों संस्थाओं का विघटन हुआ, तो फिर आधुनिक युग का आगमन संभव हुआ।

निम्नलिखित कारकों ने इन संस्थाओं के विघटन को संभव बनाया–

- कृषि के क्षेत्र में तकनीकी सुधार तथा व्यावसायिक क्रांति के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र में मुद्रा का प्रवेश हुआ। अत: सामंती ढाँचा चरमराने लगा। एक तरफ सामंतवाद के पतन के पश्चात् पूंजीवाद का विकास हुआ, तो दूसरी तरफ इस स्थिति का फायदा उठाकर यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने अपने को पुनर्स्थापित किया।
- उसी प्रकार, प्रोटेस्टेंट आंदोलन ने अखिल यूरोपीय चर्च व्यवस्था को विघटित कर दिया। इसके पश्चात् ही राष्ट्रीय राज्य का उत्थान संभव हुआ।
- अंत में, तीस वर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप पवित्र रोमन साम्राज्य का विघटन हुआ तथा आधुनिक राज्य व्यवस्था की शुरुआत हुई। वस्तुत: वेस्टफेलिया की संधि के साथ यूरोपीय राज्यों के संबंध बदल गए।

इस प्रकार यूरोप का मध्य युग से आधुनिक युग में रूपांतरण संभव हुआ।

■ यूरोप में आधुनिकता का आगमन (Emergence of modernity in Europe) :

- आधुनिकता के लिए परिवर्तन आवश्यक था और परिवर्तन के प्रक्रम को समझने के लिए निम्नलिखित फॉर्मूला का उपयोग किया जा सकता है-

आर्थिक परिवर्तन ⟶ वर्गीय समीकरण में परिवर्तन (सामाजिक परिवर्तन) ⟶ वैचारिक परिवर्तन ⟶ राजनीतिक परिवर्तन ⟶ (आगे परिवर्तन का यही क्रम चलता रहता है)

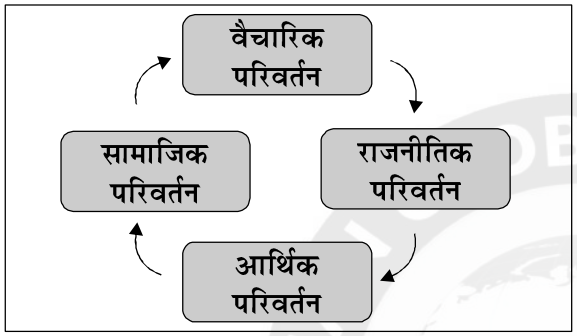

- सामान्यत: बदलाव को समझने के लिए परिवर्तन के क्रम को समझना आवश्यक है। जब आर्थिक परिवर्तन घटित होता है तो वर्गीय समीकरण में परिवर्तन आ जाता है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप एक वर्ग का वर्चस्व टूटता है और दूसरे वर्ग का वर्चस्व स्थापित हो जाता है। इससे वैचारिक परिवर्तन का रास्ता तैयार होता है क्योंकि पहले जो प्रभावी वर्ग था उसके पतन के साथ उसकी विचारधारा का प्रभाव भी सीमित हो जाता है और फिर एक नव-स्थापित वर्ग की विचारधारा कहीं अधिक प्रभावी हो जाती है। इससे वैचारिक परिवर्तन का मार्ग तैयार होता है। फिर वैचारिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तन को प्रोत्साहन देता है और इस प्रकार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है।
- अत: ऐसा माना जाता है कि आधुनिक पश्चिम के उद्‌भव में व्यापारिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसे 'व्यावसायिक क्रांति' के नाम से जाना गया।

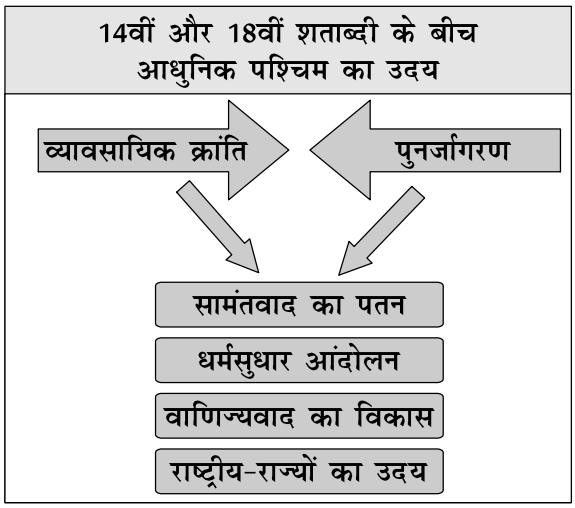

■ व्यावसायिक क्रांति (Commercial Revolution):

- व्यावसायिक क्रांति के परिणामस्वरूप यूरोप की क्षेत्रीय, स्थिर एवं सामंती अर्थव्यवस्था वैश्विक, गतिशील एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में रूपांतरित हो गई। एक बार फिर व्यापार एवं नगरीय अर्थव्यवस्था का उत्थान हुआ तथा मुद्रा एवं बैंकिंग का विकास हुआ।
- **व्यापार के उत्थान या व्यावसायिक क्रांति के कारण (Factors behind growing commercial activities):**

1. **तकनीकी विकास (Technological innovation)**- कृषि क्षेत्र में तकनीकी विकास के कारण कृषि अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिला तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप एक संपन्न भूमिधारी वर्ग स्थापित हुआ जिसने वस्तुओं की माँग बढ़ा दी।
2. **धर्मयुद्ध (Crusades)**- धर्मयुद्ध जैसी विध्वंसात्मक घटना ने भी यूरोप की अर्थव्यवस्था पर संरचनात्मक प्रभाव छोड़ा। जब यूरोप के ईसाई देशों की सेना पूरब से धर्मयुद्ध लड़ने के लिए पश्चिम एशिया के येरूशलम की ओर गई तो इसके साथ ही उत्तरी-पश्चिमी यूरोप और पश्चिमी एशिया के बीच का व्यापारिक मार्ग खुल गया।
3. **कुस्तुनतुनिया का पतन (Decline of Constantinople)**- सबसे बड़ी विध्वंसात्मक घटना सिद्ध हुई कुस्तुनतुनिया का पतन, परंतु यह यूरोप में आधुनिक युग के आगमन का सूचक बन गई। 1453 ई. में ओटोमन तुर्क के अधीन मुस्लिम शक्ति ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को पराजित कर उसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया पर कब्जा कर लिया। इसके कारण भारत और यूरोप के बीच जितने भी व्यापारिक मार्ग थे, सभी ठप हो गए, जबकि यह वह काल था जब यूरोप में पूरब से आने वाले मसालों की अत्यधिक माँग थी। दूसरी तरफ, मुस्लिम शक्ति ने यूरोपीय देशों को उनकी सीमाओं में कैद कर

दिया था। परंतु यह भी एक समय था कि जब यूरोप ने अपनी आंतरिक ऊर्जा दिखाते हुए इस चुनौती को स्वीकार किया और वैकल्पिक मार्ग की खोज आरंभ कर दी। इस दिशा में सर्वप्रथम पुर्तगाल और स्पेन ने पहल की और इसी क्रम में कोलम्बस ने 1492 में अमेरिका और वास्कोडिगामा ने 1498 में भारत के वैकल्पिक मार्ग की खोज की।

- नए क्षेत्रों की खोज के साथ उन क्षेत्रों में यूरोपीय व्यापार का विस्तार हुआ। इसे व्यावसायिक क्रांति के नाम से जाना गया। अमेरिका की खोज एक आकस्मिक घटना थी, परंतु यूरोपीय अर्थव्यवस्था के लिए व्यापक महत्व था क्योंकि भारत एवं पूर्वी देशों से खरीदे गए वस्तुओं के बदले यूरोपीय व्यापारी अमेरिकी महाद्वीप से प्राप्त कीमती धातु दे पाते थे। इस तरह अमेरिकी धातु के माध्यम से ही यूरोपीय देश पूर्वी व्यापार का संचालन कर सके।

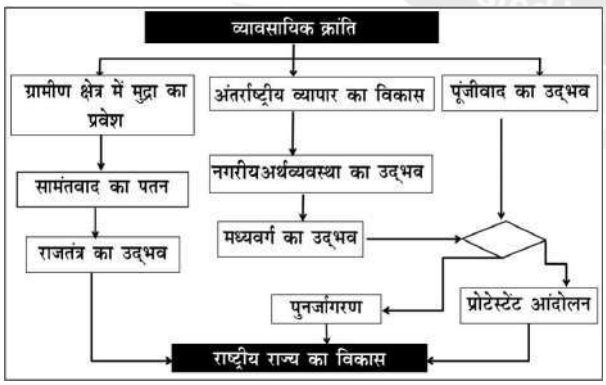

- **व्यावसायिक क्रांति का प्रभाव (Impact of Commercial Revolution)** : जैसाकि हमने देखा कि व्यावसायिक क्रांति ने यूरोप में संरचनात्मक परिवर्तन लाया और फिर इस परिवर्तन ने आगे के परिवर्तनों का रास्ता तैयार कर दिया। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं –

1. **सामंतवाद का पतन (Decline of Feudalism)**– जैसा कि हम जानते हैं सामंतवाद का आर्थिक आधार कृषि दासता तैयार कर रही थी। अत: यह स्पष्ट था कि यदि कृषि दासता का पतन होता, तो सामंती संरचना का भी विघटन हो जाता है। फिर जैसा कि हम देखते हैं कि जब ग्रामीण क्षेत्र में मुद्रा का प्रवेश हुआ तो कृषि दासता टूटने लगी। वस्तुत: सामंतों के द्वारा किसानों को जीवन-यापन करने के लिए थोड़ी सी जमीन दी गई थी और बदले में उन्हें सामंतों की जमीन पर मुफ्त में श्रम देना होता था परंतु अब जब मुद्रा का प्रवेश हुआ तो फिर सामंत और रैयत दोनों मुद्रा की तरफ आकर्षित हो गए। रैयतों को यह लगा कि अगर थोड़ी सी रकम के बदले सामंत हमें सेवा की शर्तों से मुक्त कर देते हैं तो हम अपने श्रम को बाजार में बेचकर मुनाफा कमा सकते हैं, वहीं सामंतों को भी ऐसा महसूस हुआ कि रैयत उन्हें सेवा के बदले रकम देते, तो बेहतर है। अत: कृषि दासता टूट गई।

2. **यूरोपीय राजतंत्र का उत्थान (Rise of Autocratic Monarchy in Europe)** – सामंतों के उद्भव के कारण राजा की स्थिति कमजोर हो चुकी थी। अब वह पूर्णत: सामंतों पर निर्भर हो गया था, परंतु जब सामंतवाद का पतन हुआ तो यूरोप के महत्वाकांक्षी शासक अपने आप को पुनर्स्थापित करने का प्रयास करने लगा। इन शासकों में ब्रिटिश शासक हेनरी षष्टम, हेनरी अष्टम, फ्रांस का हेनरी चतुर्थ और आगे प्रशा के फ्रैडरिक द ग्रेट तथा ऑस्ट्रिया के जोसेफ-II आदि प्रमुख थे।

3. **पूँजीवाद का उद्भव (Rise of Capitalism)** – पूँजीवाद अपने स्वरूप में सामंतवाद से पृथक् था। सामंतवाद का आधार कृषि अर्थव्यवस्था थी, तो पूँजीवाद का आधार व्यापार। उसी प्रकार, सामंतवाद परंपरा तथा व्यक्तिगत वफादारी के आधार पर संचालित होता था, तो पूँजीवाद मुनाफे के आधार पर। इसके अतिरिक्त, सामंतवाद का सामाजिक आधार कुलीन वर्ग एवं चर्च ने तैयार किया, तो पूँजीवाद का आधार मध्यवर्ग ने।

4. **मध्यवर्ग का उद्भव (Rise of Middle Class)**– मध्यकालीन यूरोपीय समाज तीन भागों में विभाजित था– कुलीन वर्ग, पादरी वर्ग तथा जनसामान्य। परंतु व्यावसायिक क्रांति ने एक नया सामाजिक वर्ग, व्यापारिक वर्ग को जन्म दिया। व्यापारिक वर्ग ने ही आरंभिक मध्यवर्ग का रूप ले लिया। आगे इस वर्ग में अनेक समूह जुड़ते चले गए।

- गौर करने वाली बात यह है कि पहले जहाँ यूरोपीय समाज कुलीन वर्ग और पादरी वर्ग के हित से परिचालित हो रहा था, वहीं अब यह मध्य वर्ग के हित से परिचालित होने लगा। चूँकि इस वर्ग के पास आर्थिक क्षमता थी, इसलिए इस वर्ग ने बदलाव को संभव बनाया। थोड़े काल के लिए उभर रहे यूरोपीय राजतंत्र का हित मध्य वर्ग से जुड़ गया।

पुनर्जागरण (Renaissance)

- पुनर्जागरण (नवीन विचारधारा) यूरोप के इतिहास में एक वैचारिक विकास को दर्शाता है। इसके लिए जटिल परिस्थितियाँ तथा एक से अधिक कारक उत्तरदायी थे। भौगोलिक खोज के परिणामस्वरूप पश्चिमी एवं पूर्वी संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान तथा नए विचारों का उद्‌भव हुआ। इसे नवोदित मध्यवर्ग का समर्थन मिला। फिर प्रिंटिंग प्रेस के कारण नवीन विचारों का तेजी से प्रसार हुआ। पुनर्जागरण एक मनोदशा अथवा दृष्टिकोण था, यह कोई बौद्धिक क्रांति नहीं थी। इसका बल निम्नलिखित कारकों पर रहा था-
- **उत्सुकता एवं खोजी दृष्टि (Curiosity and the spirit of enquiry)**- सांसारिक जीवन की ओर आकर्षण ने विद्वानों में एक नवीन प्रकार की उत्सुकता को प्रेरित किया। इससे वैज्ञानिक अन्वेषण को प्रोत्साहन मिला। इस काल में न्यूटन, गैलेलियो, कोपरनिकस आदि वैज्ञानिक आये। जब न्यूटन ने फल को नीचे गिरते देखा तो उसने उत्सुकता से प्रेरित होकर गुरुत्वाकर्षण की अवधारणा की खोज की।
- **साहसिक मनोभाव का उद्‌भव (Spirit of adventure)**- मानव के बढ़ते हुये महत्व ने उसमें साहसिक मनोभावों को बल प्रदान किया। इससे भौगोलिक खोज को प्रोत्साहन मिला।
- **मानववाद (Humanism)**- ईश्वर के समानांतर मानव का महत्व बढ़ गया तथा पारलौकिकता के समानांतर इहलौकिकता (इस संसार को महत्व देना) को महत्व दिया गया।
- **व्यक्तिवाद (Individualism)**- व्यक्तिवाद से तात्पर्य है व्यक्ति की निजी पहचान, उसके व्यक्तिगत सुख-दुख को समझना। इस काल में पहली बार आत्मकथा लिखी जाने लगी। उदाहरण के लिए, सेलीनी नामक लेखक ने पहली बार अपनी आत्मकथा लिखी।
- **धर्मनिरपेक्षता (Secularism)**- यहाँ धर्म निरपेक्षता से तात्पर्य है उन पादरियों की आलोचना, जिनकी कथनी और करनी में अंतर है। अतः लोगों के मस्तिष्क पर धर्म का प्रभाव कम हुआ। इस प्रकार पुनर्जागरण ने यूरोप में नवीन संस्कृति को प्रोत्साहन दिया।

■ पुनर्जागरण का प्रभाव (Impact of Renaissance):

- वस्तुतः मानववाद, व्यक्तिवाद और धर्मनिरपेक्षता का तत्व यूरोपीय सभ्यता का मूल स्वर बन गया जो पुनर्जागरण काल के शेक्सपीयर, क्रिस्टोफर मार्लो, सर्वेन्तिस की रचनाओं, माइकल एजेंलो, राफेल, लियोनार्दो द विंची आदि की चित्रकला तथा मैकियावेली के राजनीतिक दर्शन आदि में व्यक्त हुआ है।
- धर्मनिरपेक्षता के विचार ने प्रोटेस्टेंट आंदोलन को प्रोत्साहन दिया।

■ धर्मसुधार आंदोलन (Reformation Movement):-

पुनर्जागरण के समानान्तर एक और उत्थान देखा गया जिसकी पहचान धर्मसुधार आंदोलन के रूप में हुई। इसके प्रायः दो रूप देखे जाते हैं -

1. **प्रति धर्मसुधार आंदोलन (Couter-Reformation Movement)**- प्रतिधर्म सुधार आन्दोलन का उद्‌देश्य रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था में सुधार लाकर उसे मजबूत बनाना था।
2. **प्रोटेस्टेंट आंदोलन (Protestant Movement)** - प्रोटेस्टेंट आंदोलन की शुरुआत मार्टिन लूथर ने की थी जो कि विटेनबर्ग के गिरजाघर में एक स्थानीय पुजारी थे। इसने रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था को ही अस्वीकार कर दिया। इसका कहना था कि रोमन कैथोलिक धर्म को पीछे जाकर आरंभिक संतों की शिक्षा से जुड़ना चाहिए जो आस्था की बात करते थे। वस्तुतः रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था का आधार ईसाई संत पीटर लोम्बार्ड और टॉमस एक्वीनॉश की शिक्षा पर आधारित था जबकि प्रोटेस्टेन्टों का कहना था कि ईसाई धर्म को उसके मूल स्वरूप की ओर लौटना चाहिए। इसलिए प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों ने सेंट पॉल और सेंट ऑगस्टाईन की शिक्षा पर बल दिया। वस्तुतः यूरोप आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा था, फिर धर्म का क्षेत्र अछूता कैसे रह सकता था।

- फिर अन्य क्षेत्रों में भी कई अन्य सुधारक सक्रिय हो गए। उदाहरण के लिए, जर्मनी में कैल्विन, स्विट्जरलैंड के क्षेत्र में ज्युंगली आदि सुधारक आए। फिर प्रोटेस्टेंट पंथ ने अलग-अलग क्षेत्रों में पृथक-पृथक नाम ग्रहण किए। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में ये प्यूरिटन कहलाए।
- अगर हम प्रोटेस्टेंट आंदोलन के कारणों पर विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि इसका एक कारण धार्मिक भ्रष्टाचार अवश्य था, परंतु आर्थिक एवं राजनीतिक कारण उससे भी अधिक निर्णायक सिद्ध हुए।
- **धार्मिक कारण (Religious factor)**:- रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था में धार्मिक भ्रष्टाचार घर कर गया था। नियमों के अनुसार पादरियों को ब्रह्मचर्य रहने की

शपथ लेनी होती थी, परन्तु व्यवहार में वे इसका उल्लंघन करते थे। फिर धार्मिक भ्रष्टाचार का सबसे उग्र रूप था मुक्ति पत्र की बिक्री (Sale of indulgences)।

- **आर्थिक कारण (Economic factor):-** रोमन कैथोलिक चर्च के द्वारा मुनाफा अर्जन और ब्याज लेने को अनैतिक करार दिया गया था, वहीं प्रोटेस्टेंट पंथ ने उन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी। इससे व्यापार को फायदा मिला। अत: व्यापारी वर्ग अथवा मध्यवर्ग का समर्थन प्रोटेस्टेंट आंदोलन को मिल गया। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'Protestant Ethics and Spirit of Capitalism' में यूरोप में पूंजीवाद के उद्भव का श्रेय प्रोटेस्टेंट पंथ को दिया है। उनका यह भी मानना है कि भारत में पूंजीवाद के पिछड़ने का कारण यहाँ के धार्मिक पंथ में आर्थिक गतिशीलता का न होना है, जो यूरोप के प्रोटेस्टेंट धर्म में था (परंतु यह मत स्वीकार्य नहीं है)।
- **राजनीतिक कारण (Political factor):-** यह वह काल था जब सामन्तवाद के विघटन के पश्चात् यूरोपीय राजतंत्र का विकास हो रहा था तथा यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों के द्वारा अपनी राष्ट्रीय सीमा खींची जा रही थी। परन्तु इसके मार्ग में एक बड़ी बाधा थी सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था। इसके तहत क्षेत्रीय चर्च राजतंत्र की अधीनता और राष्ट्रीय सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे और वे अपने को सीधा रोम के अधीन मानते थे। अत: यूरोप के कुछ महत्वाकांक्षी शासकों की सोची-समझी योजना के तहत प्रोटेस्टेंट धर्म को प्रोत्साहन दिया गया।

प्रोटेस्टेंट आंदोलन का प्रभाव (Impact of Protestent Povement):

1. **राष्ट्रीय-राज्य का उद्भव (Rise of nation-state)**- इसने सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था में विभाजन उत्पन्न कर राष्ट्रीय-राज्य के उद्भव का रास्ता तैयार कर दिया क्योंकि एक मध्य युगीन संस्था सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी।
2. **पूँजीवाद का विकास (Rise of capitalism)**- इसने व्यापार और व्यापारी वर्ग को समर्थन देकर पूँजीवाद को प्रोत्साहन दिया।

प्रश्न:- क्या प्रोटेस्टेंट आंदोलन महज धार्मिक कारक की उपज था?

प्रश्न-विश्लेषण:- यह प्रश्न अपने स्वरूप में Argumentative है। इसमें पहले अपने झुकाव (Stand) को स्पष्ट करना है। इसमें Keywords हैं 'महज', 'धार्मिक कारक'।

उत्तर:- प्रोटेस्टेंट आंदोलन, रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था के विरुद्ध एक विद्रोह था। इसमें धार्मिक कारक की निश्चय ही भूमिका रही थी। कहा जाता है रोमन कैथोलिक चर्च व्यवस्था में अनेक प्रकार के धार्मिक भ्रष्टाचार विद्यमान थे, यथा– ब्रह्मचर्य रहने की शपथ का उल्लंघन, मुक्ति-पत्र की बिक्री आदि।

परन्तु यह भी सत्य है कि प्रति-धर्मसुधार आंदोलन (Counter-reformation movement) के प्रभाव में चर्च के अंतर्गत आंतरिक सुधार की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। अत: प्रोटेस्टेंट आंदोलन नहीं भी होता, तो भी सुधार संभव था, फिर भी अगर प्रोटेस्टेंट आंदोलन घटित हुआ तो इसका मुख्य कारण आर्थिक एवं राजनीतिक था।

- **आर्थिक कारक**- व्यापार की प्रगति के लिए महाजनी एवं मुनाफाखोरी की स्वीकृति आवश्यक थी, जबकि रोमन कैथोलिक चर्च उनकी आलोचना कर रहा था। इसलिए व्यापारी वर्ग का समर्थन प्रोटेस्टेंटों को मिला।
- **राजनीतिक कारक**- राष्ट्रीय-राज्य के निर्माण के लिए क्षेत्रीय चर्च का राज्य के अधीन किया जाना आवश्यक था। इसे प्रोटेस्टेंट आंदोलन ने आसान बना दिया। फिर यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने इसका फायदा अपने पक्ष में उठाया।

अत: हम यह कह सकते हैं कि प्रोटेस्टेंट आन्दोलन में निर्णायक भूमिका आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों ने निभायी।

■ वाणिज्यवाद का उद्भव (Rise of Mercantilism):

- 17वीं सदी तक व्यावसायिक क्रांति के स्वरूप में बदलाव आने लगा। अब तक व्यावसायिक क्रांति ने व्यापारिक वर्गों के हित में काम किया, परंतु अब यह राज्य एवं राजतंत्र के हितों से जुड़ गया। अत: अब यह 'वाणिज्यवाद' के नाम से जाना जाने लगा। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि वाणिज्यवाद एक आर्थिक कार्यक्रम था, परंतु यह एक राजनीतिक उद्देश्य से भी प्रेरित था - इसका उद्देश्य था राजा एवं राजतंत्र को शक्तिशाली बनाना।
- अब यूरोप के महत्वाकांक्षी राजतंत्र ने अर्थव्यवस्था को दिशा देना आरंभ कर दिया। उनका मानना था कि अगर राज्य के पास संसाधन अधिक होंगे, तो फिर वे कर के माध्यम से अधिक-से-अधिक रकम प्राप्त कर सकेंगे। इस रकम का उपयोग वे स्थायी सेना तथा स्वतंत्र नौकरशाही को स्थापित करने के लिए कर सकते थे। इसलिए उनका बल राष्ट्र के संसाधनों को बढ़ाने पर रहा। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित कदम उठाए -

1. उपनिवेशों से कीमती धातुओं का संग्रह करना क्योंकि उस समय की सामान्य मान्यता यह थी कि जिस राज्य के पास जितनी अधिक कीमती धातु होती है, वह उतना ही

अधिक शक्तिशाली होता है।

2. व्यापार संतुलन अपने पक्ष में करना- उनका बल इस बात पर था कि हम निर्यात अधिक करें और आयात कम, ताकि व्यापार संतुलन हमारे पक्ष में बना रहे। इसके लिए वे कृत्रिम उपायों का सहारा लेते थे।

3. नए-नए क्षेत्रों में उपनिवेश स्थापित करना- उपनिवेशवाद की यह मान्यता थी कि उपनिवेश मातृ देश के हित के लिए अपना अर्थ रखता है। इसी मान्यता के तहत यूरोपीय देशों ने नए-नए क्षेत्रों की खोज की तथा वहाँ उपनिवेश स्थापित किए। औपनिवेशीकरण की दिशा में स्पेन और पुर्तगाल आगे थे, फिर ब्रिटिश, फ्रांसीसी और डच भी शामिल हो गए।

- वाणिज्यवाद के काल में व्यापारी वर्ग अथवा मध्यवर्ग ने राजतंत्र के प्रति सहयोग की नीति अपनायी, वहीं राजतंत्र ने उभरते हुए मध्यवर्ग के सहयोग से सामन्त-कुलीनों के विरूद्ध अपनी स्थिति मजबूत की। इसलिए हम वाणिज्यवाद को राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित एक आर्थिक कार्यक्रम मानते हैं।

■ राष्ट्रीय-राज्य की स्थापना एवं निरंकुश राजतंत्र का उद्भव (Emergence of Nation-State & Rise of Autocratic Monarchy):

- राष्ट्रीय-राज्य की स्थापना एवं निरंकुश राजतंत्र का उद्भव उन आर्थिक सामाजिक परिवर्तनों का परिणाम था जिनसे 18वीं सदी का यूरोप गुजर रहा था। इस प्रक्रिया को निम्नलिखित कारकों से प्रेरणा मिली थी-

1. **सामंतवाद का विघटन (Decline of feudalism):-** इसका लाभ यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने अपने पक्ष में करना चाहा और अपनी स्थिति मजबूत की।

2. **प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन की भूमिका (Role of Protestant Movement):-** इसने सर्वव्यापी चर्च व्यवस्था में दरार उत्पन्न कर दी। इसका फायदा उठाकर महत्वाकांक्षी शासकों ने क्षेत्रीय चर्च को अपने अधीन कर लिया।

3. **वाणिज्यवाद (Mercantilism):-** वाणिज्यवाद ने राष्ट्रीय-राज्य का आर्थिक आधार मजबूत किया। इसका लाभ उठाकर यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने आधुनिक कर प्रणाली स्थापित की तथा स्थायी सेना एवं स्वतंत्र नौकरशाही का गठन किया।

- इस काल में विभिन्न प्रतिष्ठित राजवंशों की स्थापना हुयी। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में ट्यूडर वंश, फ्रांस में बूर्बो वंश, ऑस्ट्रिया में हैब्सबर्ग वंश, रूस में रोमनाव वंश आदि। फिर, महत्वाकांक्षी शासकों में फ्राँस के लुई- 13वें एवं 14वें, ब्रिटेन के हेनरी सप्तम, रूस की कैथरीन द्वितीय आदि की चर्चा की जा सकती है।

4. **पुनर्जागरण (Renaissance):-** पुनर्जागरण के फलस्वरूप पुराने रोमन कानूनों को नवजीवन मिला। इन कानूनों में साम्राज्य की शक्ति पर बहुत बल दिया गया था।

5. **शिक्षित वर्ग द्वारा वैचारिक समर्थन (Ideological support by scholars):-** हॉब्स और बोडिन जैसे विद्वानों ने शक्तिशाली साम्राज्य की वकालत की क्योंकि उनका मानना था कि केवल शक्तिशाली साम्राज्य ही समाज में शांति और स्थिरता सुनिश्चित कर सकते हैं।

प्रश्नः इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं कि 16वी-17वीं सदी के यूरोप में राष्ट्रीय-राज्य का उद्भव संयोग से अधिक और योजना से कम था?

उत्तरः 16वीं-17वीं सदी के यूरोप में राष्ट्रीय राजतंत्र के उद्भव के लिए एक से अधिक कारक उत्तरदायी रहे थे। इनमें से कुछ कारक महज एक संयोग के परिणाम थे, तो कुछ योजना की उपज। हालांकि इनके उत्थान में दोनों प्रकार के कारकों की भूमिका रही है, परंतु योजना की भूमिका अधिक प्रभावी मानी जानी चाहिए। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

1. **सामंतवाद बनाम राजतंत्र**- सामंतवाद का विघटन निश्चय ही संयोग का परिणाम था, परंतु सामंतवाद के विघटन का परिणाम अराजकता अथवा जनता का शासन भी हो सकता था। लेकिन यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने इससे फायदा उठाया और इसे योजनाबद्ध ढंग से राजतंत्र के पक्ष में मोड़ दिया।

2. **पुनर्जागरण बनाम प्रोटेस्टेंट आंदोलन**- पुनर्जागरण प्रायोजित नहीं था, बल्कि संयोगवश था, परंतु प्रोटेस्टेंट आंदोलन तो निश्चय ही प्रायोजित था। इसे मध्यवर्ग एवं यूरोपीय राजतंत्र का समर्थन प्राप्त हुआ था।

3. **व्यावसायिक क्रांति बनाम वाणिज्यवाद**- व्यावसायिक क्रांति एक स्वाभाविक प्रक्रिया की उपज थी, इसलिए इसे संयोग का ही परिणाम माना जाना चाहिए। किंतु वाणिज्यवाद एक सुनियोजित कदम था, जो यूरोपीय राजंतत्र के द्वारा अपनाया गया था और इसका उद्देश्य था- राज्य एवं राजतंत्र को शक्तिशाली (आर्थिक रूप से) बनाना।

अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि यूरोप में राष्ट्रीय राजतंत्र के उद्भव में संयोग की अपनी भूमिका रही, परंतु निर्णायक भूमिका तो योजना ने ही निभाई।

प्रश्न :- यूरोप में राष्ट्रीय-राज्य के उद्भव के कारकों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न-विश्लेषण:- यह प्रश्न अपने स्वरूप में Hypothetical है अर्थात् हमें इस Hypothesis को सिद्ध करना है। इसमें Keywords हैं– 'राष्ट्रीय-राज्य', 'उद्भव' तथा Directory word है 'व्याख्या कीजिए'।

उत्तर:- 16वीं-17वीं सदी के यूरोप में राष्ट्रीय-राज्य का उद्भव एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था। सामंतवाद एवं यूरोपीय चर्च व्यवस्था के विघटन ने इसके उद्भव के मार्ग को प्रशस्त किया एवं वेस्टफेलिया की संधि ने इसे पूरा कर दिया। निम्नलिखित कारकों ने इस प्रक्रिया में योगदान दिया-

- **सामंतवाद का विघटन**- इसका लाभ यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों को मिला। उन्होंने अपनी सत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया।
- **यूरोपीय चर्च व्यवस्था का विघटन**- इसका फायदा उठाकर राजतंत्र ने क्षेत्रीय चर्च को राज्य के अधीन कर लिया।
- **वाणिज्यवाद**- इसके आधार पर यूरोपीय राजतंत्र ने राज्य के आर्थिक आधार को मजबूत किया तथा वाणिज्यवाद से प्राप्त लाभ के माध्यम से स्थायी सेना एवं स्वतंत्र नौकरशाही स्थापित की जा सकी।
- **वेस्टफेलिया की संधि**- इसके आधार पर राष्ट्रीय-राज्य को पहचान मिली तथा यूरोपीय राज्य व्यवस्था की शुरुआत हुई।

इस प्रकार कई कारकों ने मिलकर राष्ट्रीय राजतंत्र के उद्भव को संभव बनाया।

तीस वर्षीय युद्ध एवं वेस्टफेलिया की संधि
(1618-1648)
Thirty Years War & Treaty of Westphalia (1618 – 1648)

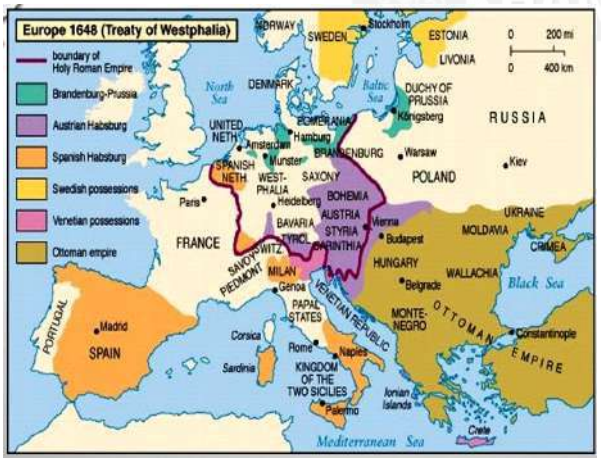

- जैसाकि हम जानते हैं कि धर्म सुधार आंदोलन के बाद यूरोपीय देश आपस में विचारधारा के आधार पर उसी प्रकार बंट गए थे, जिस प्रकार आगे वे शीतयुद्ध के काल में बंटे थे। ये प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथोलिक के बीच बंटे हुए थे, इसलिए उनके बीच गठबंधन भी धर्म के आधार पर होता था। परंतु तीस वर्षीय युद्ध का यूरोपीय देशों के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर निम्नलिखित प्रभाव देखा गया-

1. यह यूरोप की राजनीति में यथार्थवाद का सूचक बन गया क्योंकि अब राज्यों के बीच गठबंधन निजी हित से प्रेरित होकर बनने लगा। उदाहरण के लिए, फ्रांस एक रोमन कैथोलिक राष्ट्र होते हुए भी रोमन कैथोलिक शक्ति पवित्र रोमन साम्राज्य के विरुद्ध खड़ा हो गया।
2. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की शुरुआत हुई। यह आधुनिक मॉडल पर स्थापित था। इन संबंधों के संचालन के लिए अंतर्राष्ट्रीय विधि व्यवस्था अस्तित्व में आई। इतना ही नहीं, इस सम्मेलन में राष्ट्रीय-राज्य को मान्यता मिली। इसके बीच संबंधों के निर्धारण में राजा को मान्यता दी गई। प्रजा की भूमिका स्वीकार नहीं की गई। किसी भी राष्ट्र को किसी दूसरे राष्ट्र के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं मिला। वस्तुत: वेस्टफेलिया सम्मेलन में ही निश्चित भौगोलिक सीमा पर आधारित राष्ट्रीय-राज्य के मॉडल को स्वीकृति मिली।
3. जर्मन क्षेत्र में लगभग 200 छोटे-छोटे राज्य थे, परंतु इन्हें अपनी विदेश नीति के संचालन का अधिकार नहीं था। जब तीसवर्षीय युद्ध में पवित्र रोमन साम्राज्य का पतन हो गया, तो फिर जर्मन राज्यों को स्वतंत्र रूप में विदेश नीति के संचालन का अधिकार मिला।
4. अब तक यूरोपीय राष्ट्रों के संबंध दो कारकों से निर्धारित होते रहे थे- धार्मिक गठबंधन (रोमन कैथोलिक अथवा प्रोटेस्टेंट) एवं पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव। परंतु जब ये दोनों कारक समाप्त हो गए, तो वेस्टफेलिया की संधि के पश्चात् यूरोपीय देशों के संबंध परस्पर शक्ति संतुलन की अवधारणा के आधार पर निर्धारित होने लगे। दूसरे शब्दों में, यदि कोई एक राष्ट्र अधिक शक्तिशाली बन जाता और यूरोप के लिए खतरा उत्पन्न करता, तो उसके विरुद्ध कई राष्ट्र आपस में गठबंधन बना लेते।

प्रश्न:- वेस्टफेलिया की संधि ने यूरोपीय राजनीति को एक नई दिशा दी। स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न विश्लेषण:- यह प्रश्न अपने स्वरूप में Hypothetical है। इसमें Keywords हैं 'वेस्टफेलिया की संधि', 'यूरोपीय राजनीति', 'नई दिशा' तथा Directory word है 'स्पष्ट कीजिए'।

उत्तर- वेस्टफेलिया की संधि यूरोपीय राजनीति में एक विभाजक रेखा बनकर आयी। इसने राजनीति के आधार, स्वरूप एवं दिशा को बदल दिया। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

- पहले राज्यों के बीच संबंधों का आधार धर्म होता था, अब उसकी जगह कूटनीति ने ले ली।

- उसी प्रकार, पवित्र रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् यूरोप की राजनीति में खालीपन आ गया। उसे भरने के क्रम में शक्ति संतुलन की अवधारणा विकसित हुई।
- फिर युद्ध के विकल्प के रूप में कूटनीति की शुरुआत हुई।
- अंतर्राष्ट्रीय विधि व्यवस्था की शुरुआत भी वेस्टफेलिया की संधि के पश्चात् देखी गई।
- सबसे बढ़कर यूरोपीय राज्य प्रणाली की शुरुआत हुई। अब राष्ट्र के प्रधान के रूप में राजा को स्वीकृति प्राप्त हुई तथा विभिन्न राज्यों के बीच राजनयिक संबंध स्थापित हुए।

इस प्रकार वेस्टफेलिया की संधि के पश्चात् यूरोप में आधुनिक राजनीति की शुरुआत हुई।

अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण (Interdisciplinary Approach)

1. **अर्थव्यवस्था (Economy)** - जिसे हम ग्लोबल अर्थव्यवस्था के नाम से जानते हैं, उसका आरंभिक विकास इसी काल में देखने को मिलता है। इसे 'वाणिज्यवाद' के रूप में देखा जा सकता है। यूरोपीय शासकों ने अमेरिकी महाद्वीप से लेकर पूर्वी एशिया एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया तक अपने उपनिवेश स्थापित किये। इस प्रकार एक ग्लोबल अर्थव्यवस्था कायम हुई।

   जिसे हम वाणिज्यवाद के नाम से जानते हैं, वह एक आर्थिक दर्शन भी है। इसके अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा सीमित होती है, इसीलिये इसमें सभी देशों को समान रूप से लाभ नहीं मिल पाता। एक देश का लाभ, दूसरे देश के घाटे पर निर्भर करता है, इसलिये प्रत्येक देश को चाहिये कि वह व्यापार संतुलन अपने पक्ष में बनाए रखने के लिये कृत्रिम उपायों का सहारा ले। परंतु, यह एक खतरनाक आर्थिक दर्शन था। आगे इसे एक प्रमुख अर्थशास्त्री एडम स्मिथ से चुनौती मिली।

2. **यूरोपीय संस्कृति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप यूरोप में आधुनिकता को प्रोत्साहन (Modernization of Europe)-**

- मानववाद, व्यक्तिवाद और धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा ने यूरोपीय समाज को अन्य समाजों से पृथक् कर दिया।
- धर्म का प्रभाव कम होने एवं धर्मनिरपेक्षता के विकास के कारण यूरोप में स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार यूरोप अन्य महाद्वीपों को पीछे छोड़ता हुआ आगे निकलता गया।
- *(एक समय था कि चीन संसाधन और तकनीक में यूरोप से आगे था, परंतु अब चीन, यूरोप से पिछड़ता चला गया। इसका कारण हो सकता है- यूरोपीय देशों को अमेरिकी महाद्वीप का संसाधन प्राप्त होना। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि दिशा सूचक यंत्र का विकास भी सर्वप्रथम चीन ने किया तथा 15वीं सदी में चीन के एक शासक जेंग हे (Zeng He) ने सामुद्रिक यात्रा आरंभ की थी। उसे 'चीन का कोलंबस' कहा गया था। परंतु चीन के परंपरागत कंफ्यूशियसवादी समाज ने उसे आगे बढ़ने नहीं दिया।)*

■■■

विश्व इतिहास

खण्ड-II

- **प्रबोधन**
- **अमेरिकी क्रांति एवं अमेरिकी गृहयुद्ध**
- **फ्रांस की क्रांति**
- **19वीं सदी में उदारवाद तथा राष्ट्रवाद का प्रसार एवं यूरोप पर उनका प्रभाव**

खण्ड-II के सभी टॉपिक परस्पर संबद्ध हैं। आप समग्रता में ही परिवर्तन को रेखांकित कर सकते हैं। इन्हें पढ़ते हुए आप निम्नलिखित तथ्यों को रेखांकित कर सकेंगे-

- *प्रबोधन के माध्यम से मध्यवर्ग की महत्त्वाकांक्षा व्यक्त होती है।*
- *अमेरिकी क्रांति एवं फ्राँस की क्रांति उस महत्त्वाकांक्षा के क्रियान्वयन के क्रम में घटित हुईं तथा इनके कारण यूरोप में अनेक परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ।*
- *नेपोलियन की पराजय (1815 ई.) के पश्चात् वियना कॉन्ग्रेस ने फ्राँस की क्रांति के विचारों को दबाने तथा इतिहास की धारा को पीछे मोड़ने का प्रयास किया, परंतु वह विफल हो गई तथा 'उदारवाद' एवं 'राष्ट्रवाद' जैसी विचारधाराएँ संपूर्ण 19वीं सदी में यूरोप में क्रांति एवं बदलाव लाती रहीं।*

(परन्तु अभ्यर्थियों की सुविधा को ध्यान में रखकर अध्ययन सामग्री उन्हें उपखंडों में प्रदान की जाएगी, ताकि उन पर अध्ययन का अधिक दबाव न पड़े।)

-मणिकांत सिंह

■ **प्रबोधन का शाब्दिक अर्थ:**

• प्रबोधन का शाब्दिक अर्थ- एक लंबे काल के अंधकार के पश्चात् ज्ञान का प्रकाश है। यहाँ अंधकार का तात्पर्य अज्ञान, अंधविश्वास, असहिष्णुता और अतीत के प्रति दासता-बोध से है, जबकि प्रकाश का तात्पर्य ज्ञान से है।

■ **प्रबोधन का आधार अथवा कारण:**

• जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है प्रबोधन एक बौद्धिक आंदोलन था, परंतु इस बौद्धिक आंदोलन का एक मज़बूत भौतिक आधार था। बदलते हुए वर्ग समीकरण ने प्रबोधन का सामाजिक आधार निर्मित किया। वस्तुत: 14वीं सदी से 18वीं सदी के बीच के काल में यूरोप परिवर्तनों की प्रक्रिया से गुजरता रहा था। इसके परिणामस्वरूप 18वीं सदी में शक्ति के दो केन्द्र उभरकर आये, एक था निरंकुश राजतंत्र और दूसरा था महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग।

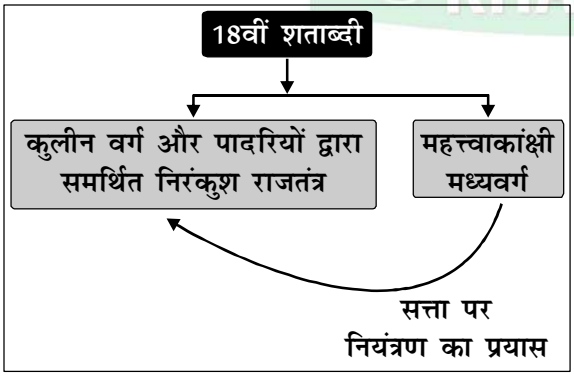

• अब तक मध्यवर्ग ने राजतंत्र का साथ दिया था, परन्तु 18वीं सदी तक मध्यवर्ग में शक्ति और आत्मविश्वास आ चुका था। अत: मध्यवर्ग ने राजतंत्र को चुनौती देनी आरम्भ कर दी। वहीं राजतंत्र ने अपनी निरंकुश शक्ति को बनाये रखने के लिए अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी कुलीन वर्ग और चर्च के साथ एक गठबन्धन बनाने का प्रयास किया। फिर भी मध्यवर्ग पीछे नहीं हटा और उसने राजतंत्र, कुलीन वर्ग तथा चर्च के समक्ष माँगों की एक तालिका रख दी। एक दृष्टिकोण से अगर देखा जाये तो यही प्रबोधन था।

• 17वीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रांति ने लोगों का अपने आस-पास की वस्तुओं को देखने का नज़रिया बदल दिया। इस वैज्ञानिक क्रान्ति का प्रभाव मानव चेतना पर भी पड़ा। उभरते हुये मध्यवर्ग ने वैज्ञानिक विचारधारा का उपयोग अपने पक्ष में किया और उसके समर्थन से अपनी माँगों को और भी मजबूत बनाया।

■ **प्रबोधन की विशेषताएँ एवं उसका विचार-**

1. राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र की बुनियादी समस्याओं को हल करने के लिये वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग पर बल दिया गया।
2. तर्कवाद को ज्ञान का आधार माना गया और साथ ही यह भी माना गया कि तर्कवाद से निर्देशित मनुष्य का भविष्य उज्ज्वल है।
3. राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं को अपने प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिये और इसमें बाह्य हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिये।
4. प्रबोधन ने आशावादी नज़रिया प्रस्तुत किया जिसमें मानव जीवन में खुशहाली पर ज़ोर दिया गया तथा मोक्ष एवं मुक्ति के आदर्शों को त्याग दिया गया।

■ **प्रबोधन के प्रमुख चिंतक एवं उनके विचार-**

• माना जाता है कि प्रबोधन का उद्भव तब हुआ जब एक फ्राँसीसी चिन्तक वाल्तेयर ने ब्रिटेन की यात्रा की। फिर उसने फ्रांसीसी बन्द समाज की तुलना ब्रिटेन के खुले समाज से की। प्रबोधन का सबसे अधिक प्रभाव फ्राँस तथा ब्रिटेन पर देखा गया। इसके बाद इसका प्रसार अन्य क्षेत्रों में हुआ।

• प्रबुद्ध चिन्तकों से तात्पर्य वैसे चिन्तकों से है जो प्रबोधन के मूलभूत विचारों को मानकर चलते थे अर्थात् वे तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति को मानव जीवन का कारगर हथियार मानते थे। इन चिन्तकों में एक महत्वपूर्ण फ्रांसीसी चिन्तक **वाल्तेयर** ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए राजतंत्र की शक्ति एवं चर्च के नियंत्रण पर अंकुश लगाना चाहा। उसी प्रकार, **दिदरो** ने भी विश्वकोष की रचना कर राजतंत्रवादी निरंकुशता की ओर लोगों का ध्यान खींचा। **मॉन्टेस्क्यू** ने

अपनी कृति 'स्पिरिट ऑफ लॉज' (Spirit of Laws) में शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत दिया। इसके अनुसार, कार्यपालिका, विधानमण्डल एवं न्यायपालिका, सरकार के इन तीनों अंगों को एक-दूसरे से पृथक् होना चाहिए। उसका मानना था कि इससे राजतंत्र की निरंकुशता स्वयं सीमित हो जायेगी। उसी प्रकार, एक ब्रिटिश चिन्तक **जॉन लॉक** ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए सीमित राजतंत्र की अवधारणा रखी। इस प्रकार, प्रबोधन ने आधुनिक संविधानवाद की दिशा में एक बड़ा कदम उठाया।

- परन्तु यह भी गौर करने की बात है कि उस काल के सभी चिन्तक प्रबोधन के विचार को नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए, **रूसो** प्रबोधन के युग में पैदा होने के बाद भी अन्य चिन्तकों से पृथक् विचार रखता था। जहाँ अन्य प्रबुद्ध चिन्तकों का बल तर्कवाद एवं वैज्ञानिक पद्धति पर रहा था, वहीं रूसो का बल भावावेश (Emotions) पर था। फिर, जहाँ अन्य प्रबुद्ध चिंतक संवैधानिक राजतंत्र की बात करते थे, वहीं रूसो प्रजातंत्र की। उसने व्यक्ति की जगह समुदाय के महत्व को बल दिया तथा यह घोषित किया कि सामान्य इच्छा ही संप्रभु की इच्छा है। वे समाजवाद तथा आधुनिक राष्ट्रवाद के भी जनक माने जाते हैं।

■ **प्रबोधन का प्रभाव:**

- प्रबोधन ने समकालीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संरचना को नवीन वैचारिक आधार प्रदान किया-
- **राजनीतिक क्षेत्र**- इसने निरंकुश राजतंत्र को अस्वीकार कर **'सीमित राजतंत्र'** अथवा **'संवैधानिक राजतंत्र'** का मॉडल प्रस्तुत किया। इसके अनुसार राजतंत्र को एक निर्वाचित विधानमंडल की सहायता से शासन करना चाहिये, यद्यपि ऐसा विधानमंडल सीमित मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हो, न कि सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर। ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लॉक ने राजतंत्र के संदर्भ में नवीन मॉडल की परिकल्पना की।
- **आर्थिक क्षेत्र**- अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में प्रबोधन ने 'वाणिज्यवाद' का विरोध कर **'मुक्त व्यापार'** (Laissez Faire) की वकालत की। प्रबोधन युग के महान ब्रिटिश अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी महानतम कृति 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' में मुक्त व्यापार नीति के माध्यम से देशों की राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार जिस प्रकार प्रकृति के नियम निश्चित हैं, उसी प्रकार बाजार के भी निश्चित नियम हैं। ये नियम हैं- माँग और पूर्ति के नियम।
- **सामाजिक क्षेत्र**- सामाजिक क्षेत्र में प्रबोधन ने **व्यक्तिवाद एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता** के विचार को बढ़ावा दिया। प्रबुद्ध चिंतक मोंटेस्क्यू ने अपने लेख 'स्पिरिट ऑफ लॉज़' में सरकार के तीन अंगों के पृथक्करण की अपील की, ताकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को संरक्षित किया जा सके। इस प्रकार, प्रबोधन के दौरान तथाकथित गणतांत्रिक अथवा लोकतांत्रिक विचारों के बीज बोए गए थे।

■ **प्रबोधन की सीमाएँ:** इसकी अद्वितीय प्रकृति के बावजूद इसकी कुछ सीमाएँ भी थीं-

- प्रबोधन पर पितृसत्तावाद (पुरूषों की प्रधानता) का प्रभाव था, महिलाओं के अधिकारों की बात नहीं उठायी गयी थी।
- प्रबोधन ने मध्यवर्ग के अधिकारों की बात उठायी तथा सीमित मताधिकार की बात की, परन्तु इसने निम्न वर्ग का तिरस्कार किया। प्रबुद्ध चिन्तकों के अनुसार, सरकार जनता के लिए तो होनी चाहिए, परन्तु जनता के द्वारा नहीं।
- इसके तहत मानव अधिकार एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्त अवधारणा केवल यूरोप के लिए थी, उपनिवेशों के लिए नहीं।

■ **तर्कवाद को चुनौती:**

- प्रबोधन के विचारों को आरंभिक चुनौती स्वयं प्रबोधन के काल में ही एक विद्वान जीन जैक्विस रूसो के द्वारा मिली थी। उन्होंने तर्कवाद पर प्रश्न उठाया तथा तर्क की जगह भावावेश (Emotions) पर बल दिया।
- वर्तमान में उत्तर आधुनिकतावाद से प्रबोधन के विचारों को चुनौती मिली है। प्रबोधन के द्वारा प्रेरित आधुनिकतावाद ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि तर्क की पद्धति एवं विज्ञान सत्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। उत्तर आधुनिकतावाद के विचार में इस प्रकार का दावा सर्वाधिक अनुचित है, न तो कोई एकमात्र सत्य है और न ही उस सत्य तक पहुँचने का कोई एक मार्ग।

■ **अमेरिकी क्रांति से प्रबोधन का संबंध :**

- अमेरिकी समाज तथा यूरोपीय समाज के लोग अलग-अलग पृष्ठभूमि से आये थे। उनका कोई सामान्य अतीत नहीं था, परंतु वे एक समान लक्ष्य से जरूर बँधे हुए थे। औसत अमेरिकी अपने दृष्टिकोण में आशावादी थे और परिवर्तन के प्रति उत्साहित थे। वहीं दूसरी तरफ, प्रबोधन आशावाद से भरा हुआ था। इसलिए प्रबोधन की अपील अमेरिकी लोगों तक बड़ी शीघ्रता से पहुँच गयी। कहा जाता है कि दो अमेरिकी नेता टॉमस जैफरसन और बेंजामिन फ्रैंकलिन ने यूरोप की यात्रा की थी और प्रबोधन के विचारों से प्रभावित होकर अमेरिका लौटे थे।

■ **फ्राँस की क्रांति से प्रबोधन का संबंध :**

- 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति का एक कारण प्रबोधन को

माना जाता रहा है, परन्तु यह समझने की जरूरत है कि यह क्रांति का वास्तविक कारण नहीं था। अधिकांश विचारक सुधारक थे, क्रांतिकारी नहीं। लगभग सभी विचारक स्वयं उच्च वर्ग से आए थे तथा व्यवस्था में सुधार लाकर एक प्रबुद्ध राजतंत्र अथवा संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना का लक्ष्य रखते थे, परन्तु वे प्रतिनिध्यात्मक अथवा लोकप्रिय सरकार की स्थापना के पक्षपाती नहीं थे। इन विचारकों ने किसी राजनीतिक दल अथवा क्रांतिकारी संगठन बनाने में रूचि नहीं दिखाई और न ही उन्होंने कोई रेडिकल नीति अथवा कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उनमें से किसी ने भी 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति में प्रत्यक्ष रूप में हिस्सा नहीं लिया।

अंतर्अनुशासनात्मक

आधुनिक संविधान का विकास: प्रबोधन ने निर्वाचित विधानमंडल तथा संवैधानिक राजतंत्र की अवधारणा रखकर आधुनिक संविधान के विकास की दिशा में कदम उठाया।

ब्रिटेन में यह प्रक्रिया प्रबोधन से पहले ही आरंभ हो गई थी। ब्रिटेन में राजतत्र अपने को निरंकुश शासक की तरह स्थापित करने का प्रयास कर रहा था, परंतु वहाँ एक पार्लियामेंट नामक संस्था का विकास हुआ, जिसने राजतंत्र के साथ एक लंबा संघर्ष किया। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे पार्लियामेंट की शक्ति बढ़ती गई और राजतंत्र की शक्ति सीमित होती गई। गौरतलब है कि 1215 ई. में ब्रिटिश किंग जॉन को एक अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा था, जिसे 'ब्रिटिश मैग्नाकार्टा' के नाम से जाना गया। इसे विश्व में मानवाधिकार का स्रोत माना जाता है। फिर 17वीं सदी में पार्लियामेंट ने अपनी स्थिति मज़बूत कर ली और 1688 ई. में गौरवपूर्ण क्रांति हुई तथा पार्लियामेंट ने एक शासक को हटाकर दूसरे शासक को स्थापित कर दिया। इस प्रकार ब्रिटेन में संविधानवाद का विकास हुआ और यह बात निश्चित हो गई कि विधानमंडल के बिना कार्यपालिका शासन नहीं कर सकती, परंतु ब्रिटिश संविधान ने बिल्कुल ही एक नया मॉडल प्रस्तुत किया और वह था- राजतंत्र, कुलीनतंत्र एवं जनतंत्र का मिश्रण।

एक तरह से अगर देखा जाए तो प्रबोधन काल के चिंतकों पर ब्रिटिश मॉडल का गहरा प्रभाव था। अत: स्वाभाविक रूप में कुछ चिंतक संविधानवाद की दिशा में बढ़ गए तथा उन्होंने राजतंत्र की निरंकुशता पर अंकुश लगाने की मांग की। एक फ्राँसीसी चिंतक मॉन्टेस्क्यू ने लोगों की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये शक्ति पृथक्करण की अवधारणा दी। आगे इसने अमेरिकी संविधान के स्वरूप को भी प्रभावित किया।

आर्थिक नीति में बदलाव: जैसा कि हमने देखा कि एडम स्मिथ ने क्लासिकल अर्थशास्त्र की नींव डाली। उसका मानना था कि बाज़ार बहुत विवेकशील है, इसलिये अर्थव्यवस्था को बाज़ार की शक्तियों पर छोड़ दिया जाना चाहिये। उसी आधार पर उसने 'मुक्त अर्थव्यवस्था' की बात कही। उसके अनुसार बाज़ार की शक्तियों के माध्यम से उत्पादक, श्रमिक तथा उपभोक्ता के हितों के बीच स्वाभाविक रूप में सामंजस्य होता चलता है। अगर उत्पादक अपने उत्पाद की कीमत अधिक लगाता है, तो उपभोक्ता उसे नहीं खरीदेंगे। उसी तरह, अगर उपभोक्ता एक खास सीमा से नीचे की दर पर वस्तु खरीदना चाहेगा, तो उत्पादक अपने उत्पाद उसे नहीं बेचेंगे। दूसरी तरफ, अगर उत्पादक श्रमिकों को उचित मज़दूरी नहीं देंगे, तो श्रमिक काम नहीं करेंगे। इसके विपरीत, अगर श्रमिक अधिक मज़दूरी की माँग करेंगे तो पूँजीपति उन्हें रोज़गार नहीं देंगे। इस प्रकार, एक-दूसरे के हित परस्पर संतुलित होते रहेंगे। उसने इसी क्रम में 'संतुलन (Equilibrium) के सिद्धांत' की अवधारणा दी। आगे उसके मुक्त अर्थव्यवस्था (Laissez Faire) के सिद्धांत को डेविड रिकार्डो जैसे अन्य अर्थशास्त्रियों का भी समर्थन मिला। इस प्रकार, क्लासिकल अर्थशास्त्र का विकास हुआ। क्लासिकल अर्थशास्त्र बाज़ार को सर्वाधिक विवेकशील मानता था। उसके विचार में उत्पादन (Production) एवं खपत (Consumption) के बीच स्वाभाविक संतुलन होता चलता है।

अधिक उत्पादन का अर्थ है, अधिक रोज़गार तथा अधिक रोज़गार का अर्थ है, अधिक माँग का सृजन। परंतु आगे की घटनाएँ इस मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं।

Food for Thought

- प्रबोधन को मध्यवर्गीय दृष्टिकोण मानना क्यों उचित है?
- आपके विचार में प्रबोधन को आधुनिक युग का प्रवर्तक मानना कहाँ तक उचित है?
- प्रबोधन ने किस रूप में संवैधानिकता के विचार की आधारशिला रखी?
- उत्तर आधुनिकतावाद ने प्रबोधन के विचार को क्यों अस्वीकार कर दिया?

■■■

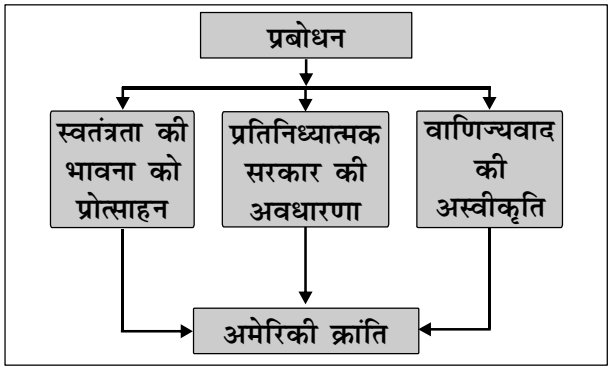

■ **पृष्ठभूमि :**

- अमेरिका क्रान्ति विश्व इतिहास में एक विभाजक रेखा बनकर आयी क्योंकि पहली बार इसने मातृदेश एवं उपनिवेश के सम्बन्धों को पुनर्परिभाषित किया। इसके अतिरिक्त इसके साथ कुछ और भी मुद्दे निहित हैं। प्रथम, प्रबोधन के साथ यूरोप में जो कुछ नवीन वर्गीय मांगें उठी थीं, अमेरिकी क्रान्ति ने उस दिशा में और भी एक कदम बढ़ा दिया। दूसरे, इस क्रान्ति ने विश्व को नये संवैधानिक मॉडल दिये, यथा- संघीय व्यवस्था एवं मौलिक अधिकार के प्रावधान। अन्त में, इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप से पश्चिम एक आर्थिक एवं राजनीतिक महाशक्ति का उद्भव हुआ जिसने विश्व इतिहास में निर्णायक भूमिका निभायी।

■ **उत्तरी अमेरिका का तत्कालीन स्वरूप:**

- उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप में ब्रिटिश, डच एवं फ्राँसीसियों द्वारा अपने-अपने उपनिवेश स्थापित किये गए थे। जहाँ फ्रांसीसियों ने कनाडा के क्षेत्र का औपनिवेशीकरण किया, वहीं अंग्रेजों द्वारा उत्तरी अमेरिका के पूर्वी भाग में 13 उपनिवेश स्थापित किये गए थे। वस्तुतः अमेरिकी क्रान्ति से आशय है उत्तरी अमेरिका के पूर्वी भाग में स्थापित ब्रिटिश के 13 उपनिवेशों के विद्रोह।

■ **इन 13 उपनिवेशों के साथ ब्रिटेन के क्या सम्बन्ध थे?**

- ब्रिटेन ने इस क्षेत्र में 1620 ई. से उपनिवेश स्थापित करने आरम्भ कर दिये थे। फिर 13 अलग-अलग उपनिवेश स्थापित किये, प्रत्येक उपनिवेश को पृथक-पृथक चार्टर प्रदान किया। प्रत्येक उपनिवेश में पृथक गवर्नर तथा पृथक विधानमण्डल का प्रावधान था। उस विधानमण्डल में क्षेत्रीय कुलीनों को प्रतिनिधित्व मिलता था तथा गवर्नर विधानमण्डल के सहयोग से शासन करता था। इस प्रकार, व्यावहारिक रूप में ब्रिटिश अमेरिकी उपनिवेश के लोगों को कहीं अधिक राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त थी। यह भी एक कारण था कि जब उन पर अधिक नियन्त्रण लगाने का प्रयास किया गया तो वे इसे सहन नहीं कर पाये। गौर करने वाली बात यह है कि अमेरिकी उपनिवेश 13 भागों में बंटे थे, जबकि भारत पर ब्रिटेन ने एक संगठित साम्राज्य के रूप में शासन किया था।

■ **ब्रिटिश-अमेरिकी समाज की संरचना क्या थी?**

- ब्रिटिश-अमेरिकी समाज विभिन्न स्तरों पर विभाजित था। कुलीन, जिन्होंने भूमि संपदा पर नियंत्रण स्थापित किया था। व्यापारी, तस्कर तथा मध्यवर्ग के अन्य लोग भी उज्ज्वल भविष्य की खोज में इस अंजान महाद्वीप पर आ गए थे। उत्तरी अमेरिका में स्वर्ण धातु की उपलब्धता ने भी कुछ उद्यमियों को आकर्षित किया था। वहीं सजा प्राप्त मुजरिमों को भी यहाँ निर्वासित किया जाता था। उस समय ब्रिटिश समाज में यह मान्यता थी कि अपराध को समाप्त करने का सबसे बेहतर उपाय है अपराधियों को निर्वासित किया जाना। इसके साथ ही, यहाँ निम्न वर्ग के लोग; यथा- किसान, कारीगर भी रहते थे। इन सभी के अलावा यहाँ दासों की भी अच्छी-खासी संख्या थी। वस्तुतः यहाँ कुछ रेड इंडियंस (देशी निवासी) को दास बना दिया गया था, साथ ही अफ्रीका से अश्वेत दासों का भी आयात किया गया था।

■ **अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम- स्वतंत्रता आंदोलन अथवा एक क्रांति :**

- यह सही है कि अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम मातृदेश के विरूद्ध किसी उपनिवेश का प्रथम विद्रोह था तथा इस विद्रोह के पश्चात् उसने स्वतंत्रता हासिल की। फिर यह भी सही है कि आगे घटित फ्राँस की क्रान्ति की तुलना में इस क्रान्ति के मध्य कम रेडिकल (मूल परिवर्तनवाद) परिवर्तन हुए। परन्तु इसे महज स्वतंत्रता संग्राम कहना उचित नहीं है क्योंकि इसने अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के अतिरिक्त उनके राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे में भी परिवर्तन लाया।

■ **अमेरिकी क्रान्ति को मध्यवर्गीय क्रान्ति क्यों कहा जाता है?**

- इसकी निम्नलिखित दो विशेषतायें दिखती हैं जो इसे मध्यवर्गीय क्रान्ति के रूप में स्थापित करती हैं। प्रथम, इस क्रान्ति के मध्य नेतृत्व मध्यवर्ग के हाथों में रहा था। दूसरा, इस क्रान्ति के मध्य जो सुधार और परिवर्तन हुए वे मध्यवर्ग के हितों के अनुकूल थे। उदाहरण के लिए, अमेरिकी संविधान में सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार को लागू नहीं किया गया। उसी प्रकार, अधिकारों की सूची में रोजगार प्राप्त करने अथवा भोजन के अधिकार को शामिल नहीं किया गया।

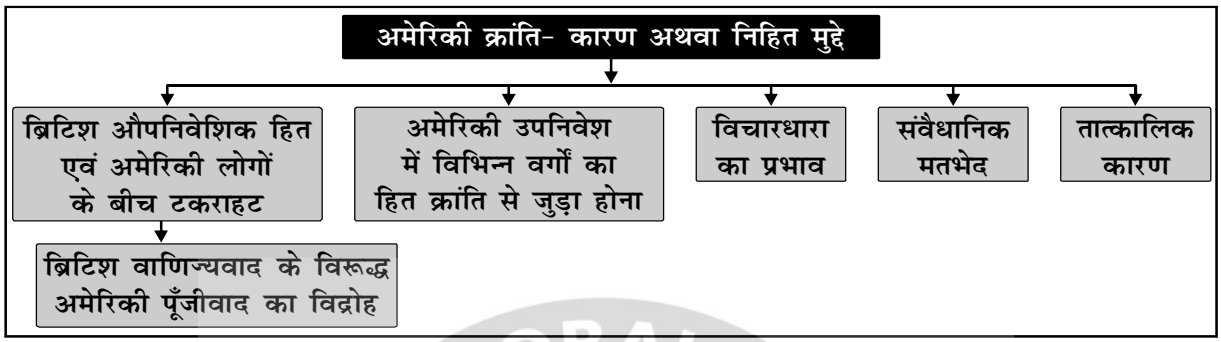

■ **अमेरिकी क्रांति में निहित मुद्दे अथवा अमेरिकी क्रांति के कारण:**

- इस क्रांति के निम्नलिखित प्रमुख कारणों पर विचार किया जा सकता है-

1. **ब्रिटिश औपनिवेशिक हित एवं अमेरिकी लोगों के बीच टकराहट:-** लुई हैकर नामक विद्वान ने इसके पीछे आर्थिक कारक को महत्वपूर्ण माना है तथा उसने यह घोषित किया है कि अमेरिकी क्रान्ति ब्रिटिश वाणिज्यवाद और अमेरिकी पूँजीवाद के बीच टकराहट का परिणाम थी। वाणिज्यवाद अथवा वणिकवाद यह स्थापित करना चाहता था कि उपनिवेश की अर्थव्यवस्था महानगरीय राज्य के आर्थिक हित के अधीन है। इसी सिद्धान्त पर बल देते हुए ब्रिटिश सरकार द्वारा अमेरिकी उपनिवेश के संदर्भ में 17वीं सदी में कई नौपरिवहन कानून (Navigation Act) लाए गए थे। इस कानून के माध्यम से अमेरिकी उपनिवेश के व्यापार को ब्रिटिश नियंत्रण में लाने का प्रयास किया गया। अर्थात् इसके द्वारा यह प्रावधान लाया गया कि अमेरिकी उपनिवेश एशिया, अफ्रीका एवं ब्रिटेन के साथ सभी प्रकार के व्यापार उन जहाजों में ही कर सकते थे जो ब्रिटिश स्वामित्व में हों और जिन पर अधिकांश कर्मचारी ब्रिटिश मूल के हों। फिर विभिन्न अमेरिकी उपनिवेशों के बीच होने वाले व्यापार, अमेरिकी उपनिवेशों के उद्योग, उनके द्वारा किये जाने वाले चावल, तम्बाकू के निर्यात, मुद्रा व्यवस्था सभी पर नियंत्रण लगाने का प्रयास किया गया।

- दूसरी तरफ, अमेरिकी उपनिवेशों की अर्थव्यवस्था तेजी से विकसित हो रही थी। उसके निर्यात व्यापार में लगभग 4 गुनी वृद्धि हो चुकी थी तथा उद्योगों का भी विकास हो रहा था। इसके अतिरिक्त, एक स्वतंत्र जहाजरानी उद्योग विकसित हो रहा था। अत: यह बात लगभग निश्चित थी कि ब्रिटिश वाणिज्यवादी नीति के रहते हुए अमेरिकी पूँजीवाद प्रगति नहीं कर सकता। इसलिए जब जहाजरानी कानून को कड़ाई से लागू करने का प्रयास किया गया तो ब्रिटिश अमेरिकी उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया।

2. **अमेरिकी उपनिवेश में विभिन्न वर्गों का हित क्रांति से जुड़ा होना:-**

- अमेरिकी क्रांति को वर्गीय हित से पृथक करके नहीं देखा जा सकता क्योंकि विभिन्न वर्गों के हित स्पष्ट रूप से क्रांति से जुड़े हुए थे, यथा-
  - अमेरिकी पूँजीपति वर्ग क्रान्ति चाहता था क्योंकि वह ब्रिटिश वाणिज्यवादी नीति से असंतुष्ट था।
  - तस्कर, तस्कर विरोधी कानून से परेशान थे।
  - छात्र और बुद्धिजीवी भी स्वतंत्रता चाहते थे क्योंकि उन पर गणतन्त्रवादी विचारों का प्रभाव था।
  - अमेरिकी राजनेता भी क्रांति चाहते थे क्योंकि वे अपना भविष्य स्वतंत्र अमेरिका में देख रहे थे।
  - वर्जीनिया के तम्बाकू उत्पादक भी स्वतंत्रता के पक्षधर थे, ताकि वे पश्चिम की ओर विस्तार कर खेती के लिए अतिरिक्त भूमि प्राप्त कर सकें।
  - वहीं दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी सामाजिक समूह थे जो क्रान्ति के समर्थक नहीं थे। उदाहरण के लिए, कुलीनों के विशेषाधिकार पुरानी व्यवस्था में ही सुरक्षित थे, रेड इण्डियन्स भी अमेरिकी क्रान्तिकारियों की तुलना में ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत ही अपने को अधिक सुरक्षित मानते थे। उसी तरह, मध्यवर्ती अमेरिका के किसान इसलिए क्रान्ति नहीं चाहते थे क्योंकि वे नयी

व्यवस्था की अनिश्चितता से भयभीत थे।

3. **विचारधारा का प्रभावः-**

कुछ विद्वान इस क्रान्ति के लिए वैचारिक, संवैधानिक आदि कारकों को कहीं अधिक प्रभावी मानते हैं। गौरतलब है कि अमेरिकी लोगों का आर्थिक शोषण दीर्घकाल से हो रहा था, परन्तु 1770 के दशक में आकर वे विद्रोह के लिए उतारू हो गए। इस तथ्य की व्याख्या विचारधारा के संदर्भ में की जा सकती है। अमेरिकी बुद्धिजीवियों पर यूरोपीय प्रबोधन का गहरा प्रभाव रहा था। प्रबोधन के प्रभाव में उनमें वाणिज्यवाद के प्रति विद्रोह और मानव तथा व्यक्ति के अधिकारों के प्रति सजगता बढ़ गई। कम से कम दो अमेरिकी बुद्धिजीवी, बेन्जामिन फ्रैंकलिन एवं टॉमस जैफरसन, ने तो यूरोप की यात्रा भी की थी।

4. **संवैधानिक मतभेदः-**

ब्रिटिश एवं अमेरिकी लोगों की संवैधानिक दृष्टि में भी टकराहट थी। ब्रिटिश, पार्लियामेंट की सर्वोच्चता में विश्वास करते थे और यह मानकर चलते थे कि सभी संस्थायें पार्लियामेंट के कानून के अधीन है। वहीं अमेरिकी लोग मानव के प्राकृतिक अधिकार में विश्वास करते थे और यह मानकर चलते थे कि मानव के पास कुछ जन्मजात अधिकार होते हैं, जो सभी संस्थाओं से ऊपर हैं, चाहे वह ब्रिटिश पार्लियामेंट ही क्यों न हो।

5. **तात्कालिक कारणः**- ग्रेनविले सरकार द्वारा ब्रिटिश आर्थिक हित में उठाए गए कुछ कदमों से अमेरिकियों में गहरी नाराजगी थी। वस्तुतः सप्तवर्षीय युद्ध के कारण ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक दबाव पड़ा था। अतः प्रधानमंत्री ग्रेनविले ने ब्रिटिश आर्थिक हित में अमेरिकी उपनिवेशों को उपयोग करने की व्यावहारिक योजना बनायी, जो इस प्रकार थी-

   1. नौपरिवहन कानून को कठोरता से लागू करने का निर्णय लेना।
   2. तस्करी विरोधी कानून को भी कठोरता से लागू करने का प्रयास।
   3. अतिरिक्त रकम प्राप्त करने के लिए स्टाम्प एक्ट एवं शुगर एक्ट के तहत नये प्रकार के करों को लागू करना।

- **अमेरिकी उपनिवेशों की प्रतिक्रिया तथा क्रान्ति की पृष्ठभूमि निर्मित**- 13 अमेरिकी उपनिवेशों में 9 उपनिवेशों के प्रतिनिधि न्यूयॉर्क में एकत्रित हुए और उन्होंने नारा दिया **'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं'**। दूसरे शब्दों में, उनका आशय था कि चूँकि अमेरिकी प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लियामेंट में नहीं बैठते, इसलिए ब्रिटिश पार्लियामेंट को अमेरिकी उपनिवेशों पर बाह्य कर (चुंगी) लगाने का तो अधिकार है, परन्तु आन्तरिक कर (उत्पाद शुल्क) लगाने का अधिकार नहीं है। फिर, क्रमिक रूप से घटित घटनाओं के परिणामस्वरूप 1783 ई. तक अमेरिकी उपनिवेश स्वतंत्र हो गये।

■ **'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं' नारे का महत्त्वः**

1. इस नारे ने महानगरीय राज्य तथा उपनिवेश दोनों के मौलिक संबंधों पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया। दूसरे शब्दों में, चूँकि ब्रिटिश संसद अमेरिकी लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं कर रही थी, अतः उसे अमेरिकी बस्तियों पर आन्तरिक कर लगाने का अधिकार नहीं था।
2. यह नारा स्वयं ब्रिटिश संसद में प्रचलित विरोध के तरीकों के अनुरूप था। सम्पूर्ण 17वीं शताब्दी में ब्रिटिश नेता इसी अधिकार की माँग करते रहे थे और फिर इसी मुद्दे पर ब्रिटिश पार्लियामेंट और राजतंत्र के बीच एक गृहयुद्ध भी हो चुका था।
3. अमेरिकी उपनिवेश के द्वारा प्रतिनिधित्व की माँग अपने आप में विशिष्ट थी क्योंकि यह माँग एक उपनिवेश के द्वारा उस समय की जा रही थी जब यूरोप के अधिकांश क्षेत्र में भी लोग प्रतिनिधित्व से वंचित थे।
4. इसने भविष्य में उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के लिये एक प्रेरणा स्त्रोत का काम किया। भारत में भी कांग्रेस के नेताओं ने ब्रिटिश के समक्ष यह माँग रखी।

प्रश्नः 'अमेरिकी क्रांति वणिकवाद के विरूद्ध आर्थिक विद्रोह थी।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

(UPSC-2013, GS)

उत्तरः- अमेरिकी क्रांति राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए आंदोलन मात्र नहीं थी, अपितु एक आर्थिक क्रांति भी थी। इसने इस वणिकवादी अवधारणा को अस्वीकार कर दिया कि उपनिवेश मातृदेश के हित के लिए अर्थ रखता है। चूंकि यूरोपीय मध्यवर्ग के द्वारा भी वणिकवादी नीति का विरोध किया जा रहा था। इसलिए अमेरिकी स्वतंत्रता आंदोलन ने एक मध्यवर्गीय क्रांति का रूप ले लिया।

1776 ई. में ही एडम स्मिथ के द्वारा 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का प्रकाशन, (जिसमें वाणिज्यवाद को अस्वीकार किया गया था) तथा अमेरिकी स्वतंत्रता आंदोलन का साथ-साथ घटित होना महज संयोग नहीं हो सकता, अपितु दोनों का संबंध वणिकवादी नीति के विरोध से था। अमेरिकी विद्रोहियों को 17वीं सदी के नौपरिवहन कानून के विरूद्ध गहरी आपत्ति थी। ये कानून वणिकवादी नीति के क्रियान्वयन के ही प्रयास थे। वस्तुतः 1651, 1660, 1666 तथा 1673 में लाए गए कानूनों का लक्ष्य था अमेरिकी व्यापार को पूरी तरह ब्रिटिश औपनिवेशिक हित के अधीन करना। इनमें कई तरह के प्रावधान निहित थे।

उदाहरण के लिए, अमेरिकी बस्तियाँ केवल ब्रिटिश अथवा अमेरिकी जहाजों में ही वस्तुओं का आयात-निर्यात कर सकती थीं। इतना ही नहीं, उन जहाजों पर काम करने वाले अधिकतर कर्मचारी ब्रिटिश होने चाहिए थे। सबसे बढ़कर एक बस्ती से दूसरी बस्ती में भेजी जाने वाली सामग्रियों को विदेश व्यापार की संज्ञा दी गई तथा उन पर ब्रिटिश सरकार के द्वारा चुंगी लगाना अनिवार्य कर दिया गया। हालांकि ये कानून 17वीं सदी में लाए गए थे, किंतु इनका कड़ाई से अनुपालन 1770 ई. के दशक में किया गया। अत: अमेरिकी मध्यवर्ग ने इस व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करते हुए 'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं' का नारा दिया। आगे यही नारा यूरोप के उदारवादियों का प्रमुख एजेंडा बन गया। इस तरह अमेरिकी क्रांति एक आर्थिक विद्रोह बन कर आई तथा फिर यह राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर बढ़ गई।

■ **अमेरिकी क्रान्ति का महत्व:-**

1. यह क्रांति उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन का प्रतीक बन गयी तथा इसने स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत अन्य उपनिवेशों को भी प्रेरणा प्रदान की।
2. लिखित संविधान पर आधारित आधुनिक राष्ट्र का निर्माण हुआ।
3. अभी यूरोपीय सरकारें प्रबुद्ध राजतंत्र के मॉडल पर ही थीं, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका गणतन्त्र के स्तर पर पहुँच गया।
4. संयुक्त राज्य अमेरिका ने संघीय व्यवस्था के रूप में विश्व के बहुभाषा-भाषी, बहुनस्लीय तथा बहुसाम्प्रदायिक देशों के लिए सरकार का एक नया मॉडल प्रस्तुत किया।
5. संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने संविधान में मौलिक अधिकार का प्रावधान लाकर व्यक्ति एवं मानव के अधिकारों की अवधारणा को बल प्रदान किया।
6. इसने अमेरिका के साथ-साथ यूरोप को भी रूपान्तरित किया। ब्रिटेन में राजतंत्र की शक्ति को धक्का लगा तथा संसदीय शासन व्यवस्था को बल मिला। इसने फ्रांस की क्रान्ति में भी अप्रत्यक्ष योगदान दिया।

प्रश्न: अमेरिकी क्रांति ने अमेरिका के साथ-साथ यूरोप को भी रूपांतरित किया। इस कथन पर प्रकाश डालिये।

प्रश्न विश्लेषण: *यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। इसे महज विचार एवं उदाहरणों से सिद्ध करना है।*

उत्तर: अमेरिकी क्रांति ने न केवल अमेरिका पर, वरन् यूरोप पर भी प्रभाव छोड़ा। इसने अमेरिका एवं यूरोप दोनों ही क्षेत्रों में मध्य वर्ग की शक्ति को सुदृढ़ कर आगे के परिवर्तन का मार्ग तैयार कर दिया।

अमेरिकी क्रांति के फलस्वरूप अमेरिका को स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा उसका प्रजातांत्रिक रूपांतरण हुआ। 1789 में अमेरिकी संविधान लागू हुआ, जो विश्व का पहला लिखित संविधान था। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के प्रथम आधुनिक गणतंत्र के रूप में स्थापित हुआ। सरकार की नई पद्धति के रूप में संघीय व्यवस्था को लागू किया गया। अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना 'हम अमेरिकी लोग (We the people of America)...' जैसे शब्दों से आरंभ हुई। 1791 के पश्चात् अमेरिका, जनता को धार्मिक एवं अंत:करण की स्वतंत्रता प्रदान करने वाला विश्व का पहला देश बन गया। उसी प्रकार अमेरिकी क्रांति ने शाही समाज तथा कुलीनतंत्र के विशेषाधिकार को करारा झटका दिया।

अमेरिका के अतिरिक्त अमेरिकी क्रांति ने यूरोप को भी प्रभावित किया। इस क्रांति के पश्चात् यूरोप में प्रजातांत्रिक विचारों को बल मिला। यूरोप के मध्य वर्ग ने इस क्रांति का दिल खोलकर स्वागत किया। इसका सबसे गहरा प्रभाव फ्राँस पर देखा गया। इसने फ्राँसीसी जनमानस पर गहरा प्रभाव डाला तथा उसे क्रांति के लिये प्रोत्साहित किया। इससे स्वयं ब्रिटेन भी प्रभावित हुआ। ब्रिटिश संसद का प्रजातंत्रीकरण आरंभ हुआ तथा आयरलैंड के संबंध में नीति बदली गई। साथ ही, इसने अन्य श्वेत बहुल उपनिवेशों के संबंध में भी ब्रिटिश नीति को परिवर्तित कर दिया।

प्रश्न: 'अमेरिकी क्रांति के साथ ब्रिटेन ने जहाँ एक साम्राज्य को खो दिया, वहीं दूसरे साम्राज्य को प्राप्त कर लिया।' इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न विश्लेषण: *यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। 'Hypothetical' से तात्पर्य है कि संबंधित कथन को विचार एवं उदाहरण से स्पष्ट करना है, न कि सत्य अथवा परीक्षण करना। एक साम्राज्य का आशय ब्रिटिश अमेरिकी उपनिवेश है, तो दूसरे साम्राज्य का आशय 'भारत'। उत्तर में प्रथम वाक्य परिचयात्मक वाक्य होता है, परंतु यही वाक्य उत्तर की दिशा भी तय करता है।*

उत्तर: अमेरिकी क्रांति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इतिहास में एक भूचिह्न (Landmark) बनकर आई। इस क्रांति के पश्चात् ब्रिटेन ने ब्रिटिश क्रॉउन के सबसे कीमती आभूषण के रूप में अमेरिकी उपनिवेश को खो दिया, परंतु एक दूसरे कीमती आभूषण के रूप में भारत को प्राप्त कर लिया।

17वीं सदी में अमेरिकी उपनिवेशों का ब्रिटिश साम्राज्य के लिये क्या महत्त्व था, इस बात का अनुमान उन नौपरिवहन कानूनों, जो ब्रिटिश सरकार के द्वारा अमेरिकी उपनिवेशों के संदर्भ में लाये गये थे, से किया जा सकता है। ये नौपरिवहन कानून यह सिद्ध करते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के लिये अमेरिकी उपनिवेशों की अर्थव्यवस्था का व्यापक महत्त्व था। यह एक

महत्त्वपूर्ण कारण था कि जब तक ब्रिटिश के पास अमेरिकी उपनिवेश सुरक्षित रहे, उन्होंने भारत की ओर ध्यान नहीं दिया।

वहीं अमेरिकी उपनिवेशों के निकलने के साथ ही ब्रिटिश पार्लियामेंट का ध्यान सीधे तौर पर भारत की ओर गया। 1783 ई. की पेरिस की संधि के आधार पर अमेरिकी उपनिवेश स्वतंत्र हो गए। उसके शीघ्र बाद ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारत के संदर्भ में 1784 में पिट्स इंडिया एक्ट पारित किया गया। इस एक्ट के तहत भारतीय प्रशासन के निरीक्षण के लिये एक 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' का गठन किया गया। इसके अतिरिक्त 1786 में नए गवर्नर जनरल के रूप में लॉर्ड कॉर्नवालिस को भेजा गया। कॉर्नवालिस के सुधारों का उद्देश्य भारत पर ब्रिटिश नियंत्रण को मज़बूत बनाना था।

इस प्रकार अमेरिकी क्रांति ने साम्राज्यवाद के मोर्चे पर ब्रिटिश प्राथमिकता को बदल दिया।

- **अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान निर्माण की चुनौतीः-**

- स्वतंत्रता के पश्चात् अमेरिकी लोगों के समक्ष यह एक बड़ा ही चुनौतीपूर्ण मुद्दा था कि इन 13 उपनिवेशों के बीच आपसी ताल-मेल कैसे हो? इसका कारण था इन 13 उपनिवेशों का एक-दूसरे से बिल्कुल ही पृथक होना। इसलिए आगे जो भी निर्णय होना था, वह आपसी सहमति से होना था। अंत में, एक संविधान बनना तय हुआ। परंतु इस संविधान निर्माण के मध्य भी कई चुनौतियाँ उपस्थित थीं, जो इस प्रकार थीं-

1. अमेरिकी उपनिवेशों में बड़े व्यापारी, बैंकर ये सभी **शक्तिशाली संघीय सरकार** चाहते थे अर्थात् एक ऐसी सरकार जो उनके हितों का संरक्षण कर सके। वहीं किसान, छोटे व्यापारी, कारीगर आदि इस बात से भयभीत थे कि शक्तिशाली केंद्रीय सरकार बलपूर्वक कर वसूल करेगी। अंत में, दोनों के बीच समझौते का बिंदु लाते हुए 1789 की फिलाडेल्फिया कांग्रेस में एक नए संविधान को अपनाया गया। इस संविधान में एक संघीय सरकार का प्रावधान लाया गया। परंतु दूसरी तरफ अन्य वर्गों को खुश करने के लिए 1791 में संविधान में संशोधन कर 10 मौलिक अधिकारों को बहाल कर दिया गया और सुप्रीम कोर्ट को उनका रक्षक बनाया गया।
2. एक विवाद **बड़े राज्य तथा छोटे राज्यों** के बीच था। बड़े राज्य अमेरिकी विधानमंडल में जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व चाहते थे, वहीं छोटे राज्य राज्यों की समानता की माँग कर रहे थे। अंत में यह तय हुआ कि अमेरिकी विधानमंडल (कांग्रेस) में दो सदन होंगे। प्रथम सदन सीनेट में सभी राज्यों के बीच समानता की अवधारणा को स्वीकार करते हुए उन्हें दो प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार होगा, वहीं निम्न सदन हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव में प्रत्येक राज्य को जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व मिलेगा।
3. एक तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण राज्य चाहते थे कि प्रतिनिधि सभा में इन राज्यों को जो प्रतिनिधित्व मिले उसके लिए दासों की भी गणना की जाए, परंतु उत्तरी अमेरिकी राज्य इसका विरोध कर रहे थे। अंत में **दासों की गणना का प्रावधान** तो रखा गया, परंतु उसका वजन (मूल्य) स्वतंत्र नागरिक से कम रखा गया।

क्रांति की सीमाएं -

1. अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा दासों पर लागू नहीं हुई तथा दास व्यवस्था पूर्ववत् कायम रही। आगे दास व्यवस्था के उन्मूलन के लिए अमेरिकी उपनिवेशों को एक गृहयुद्ध लड़ना पड़ा।
2. अमेरिकी क्रांति पर मध्यवर्ग का वर्चस्व बना रहा। कुछ जगहों पर श्रमिक, कारीगर तथा बेरोजगार लोग ज्यादा हिंसक होने लगे थे और अधिक स्वतंत्रता की मांग करने लगे थे, तो मध्यवर्गीय नेतृत्व ने बड़ी चालाकी से उन्हें अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया तथा उनकी आर्थिक मांगों को स्वतंत्रता के लक्ष्य की ओर मोड़ दिया।
3. मध्यवर्गीय प्रभाव के कारण ही यूएसए के संविधान में सीमित लोगों को मताधिकार मिला, जनसामान्य एवं महिलाएँ उससे वंचित रहीं।

प्रश्न- अमेरिकी क्रांति ने आधुनिक विश्व की आधारशिला रखी। टिप्पणी कीजिए।

प्रश्न विश्लेषण*- यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। उपर्युक्त कथन के साथ सहमति जताने की जरूरत है। 'Key words' हैं 'आधुनिक विश्व' एवं 'आधारशिला'। 'आधुनिकता' से आशय है राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में प्रगतिशील परिवर्तन।*

उत्तर- प्रबोधन के साथ आधुनिकता की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, उसे अमेरिकी क्रांति ने आगे बढ़ाया। एक दृष्टि से अमेरिकी क्रांति प्रबोधन के विचारों का क्रियान्वयन थी। अपने प्रभाव में भी यह वैश्विक रही थी। अर्थात् फिर इसके द्वारा लाये गए बदलावों ने न केवल यूरोप पर, अपितु अन्य महाद्वीपों पर भी अपना प्रभाव छोड़ा। इसने निम्नलिखित रूप में आधुनिकता को प्रोत्साहन दिया-

- **वाणिज्यवाद एवं उपनिवेशवाद की अस्वीकृति**- यह उपनिवेशवाद-विरोधी आन्दोलन का प्रतीक बन गयी।

इसका तात्कालिक प्रभाव लैटिन अमेरिका के स्वतंत्रता आन्दोलन पर देखा गया।

- **संविधानवाद एवं प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना**– इस क्रांति का एक महत्वपूर्ण परिणाम था पहले आधुनिक लिखित संविधान तथा निर्वाचित सरकार की स्थापना।
- **मानव एवं व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक**– अपने नागरिकों के लिए मौलिक अधिकारों को स्वीकृति देने वाला यूएसए पहला राष्ट्र बना।
- **गणतंत्रवाद का अग्रदूत**– अभी यूरोपीय देश संवैधानिक राजतंत्र के स्तर पर ही थे, जबकि अमेरिकी लोग गणतंत्र की अवस्था में पहुँच गए।
- **संघीय व्यवस्था**– अमेरिकी लोगों ने विशाल आकार एवं बहुलवादी स्वरूप वाले देशों के लिए सरकार का एक नया मॉडल प्रस्तुत किया।

सबसे बढ़कर अमेरिकी क्रांति के विचार फ्रांस, यूरोप एवं लैटिन अमेरिकी देशों से होते हुए एशिया महाद्वीप तक पहुँच गए।

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

अधूरे एजेंडे को पूरा करने का प्रयास (अमेरिकी गृहयुद्ध)

- अमेरिकी स्वतंत्रता दासों पर लागू नहीं थी।
- अमेरिकी संघ आंतरिक रूप में विभाजित क्योंकि अमेरिकी कांग्रेस में दास राज्यों की स्थिति अधिक मजबूत।
- संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक रूप में विभाजित, उत्तर में पूँजीवादी मॉडल, जबकि दक्षिण में दास व्यवस्था पर आधारित बागवानी खेती।

■ अमेरिकी गृहयुद्ध और संयुक्त राज्य अमेरिका का रूपांतरण:

- किसी विध्वंसात्मक घटना के द्वारा एक बड़ा रचनात्मक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, इसका उदाहरण है अमेरिकी गृहयुद्ध। शायद ही अमेरिकी राष्ट्र के समक्ष इतनी बड़ी चुनौती उपस्थित हुई होगी जितनी कि हम गृहयुद्ध के रूप में पाते हैं। परंतु इस घटना ने संयुक्त राज्य अमेरिका को रूपांतरित कर एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर दिया।
- **दास व्यवस्था का उन्मूलन**- उत्तरी अमेरिकी राज्य दास व्यवस्था का उन्मूलन चाहते थे, वहीं दक्षिणी अमेरिकी राज्य इसका विरोध कर रहे थे। हालांकि अमेरिकी गृहयुद्ध दास व्यवस्था के उन्मूलन के मुद्दे पर हुआ था, परंतु दास व्यवस्था तो महज एक ऊपरी कारण था, वास्तविक कारण तो आर्थिक और संवैधानिक था।
- **आर्थिक मुद्दा**- उत्तरी अमेरिकी राज्यों में औद्योगीकरण आरंभ हो गया था, इसीलिए उत्तरी अमेरिकी राज्य दास व्यवस्था का उन्मूलन चाहते थे क्योंकि दास व्यवस्था औद्योगीकरण की आवश्यकता के अनुकूल नहीं होती। वहीं दक्षिण अमेरिकी राज्यों की अर्थव्यवस्था बागवानी खेती पर निर्भर थी और दास श्रमिक के बिना बागवानी खेती का संचालन संभव नहीं था।
- **संवैधानिक मुद्दा**- इसके अतिरिक्त यूएसए का पश्चिम की ओर विस्तार हो रहा था तथा नए-नए क्षेत्र राज्य के रूप में शामिल हो रहे थे। वहाँ भी दक्षिण के दास राज्य चाहते थे कि नए क्षेत्रों को दास राज्य के रूप में शामिल किया जाए, ताकि अमेरिकी कांग्रेस के निम्न सदन में दास राज्यों की स्थिति मजबूत बनी रहे। उत्तरी अमेरिकी राज्य इसका विरोध कर रहे थे।
- इन दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का तमाम प्रयास विफल हो रहा था। अत: अब प्रश्न यह था कि यूएसए का भविष्य किस ओर जाएगा, पूँजीवाद की ओर अथवा दास श्रम पर आधारित भूस्वामी के हित में या महज यूरोपीय देशों के कच्चे माल का उत्पादक बन कर रह जाएगा।
- **तात्कालिक कारण**- रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार अब्राहिम लिंकन के अमेरिकी प्रेसिडेंट के रूप में निर्वाचन ने यूएसए को गृहयुद्ध की कगार पर ला दिया क्योंकि अब्राहिम लिंकन ने अपने चुनावी घोषणा-पत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि उनका लक्ष्य दास व्यवस्था का उन्मूलन करना तथा उत्तरी अमेरिकी उद्योगों को संरक्षण देना है। अब यूएसए के 11 राज्य (उस समय राज्यों की संख्या 34) संघ से पृथक् होकर अपना एक अलग संघ बनाने का प्रयास किया। परन्तु अब्राहम लिंकन ने 'राज्य संप्रभुता' की

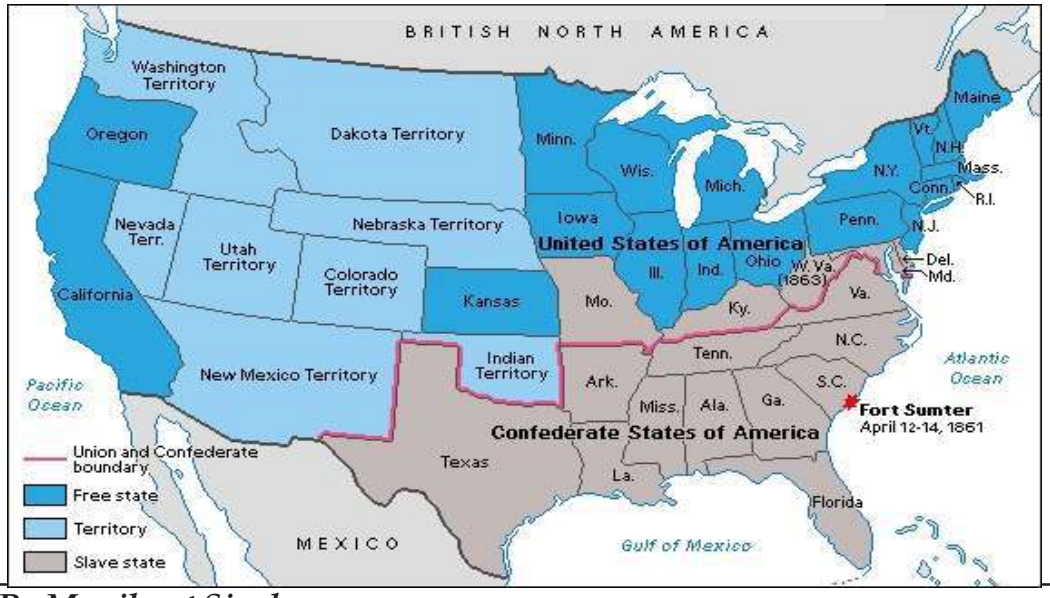

अवधारणा को अस्वीकार करते हुए दक्षिणी राज्यों के इस कदम को असंवैधानिक करार दिया। उसने यह घोषित किया कि अगर 'अमेरिकी राज्य अविभाज्य हैं, तो अमेरिकी संघ भी अविभाज्य है।' फिर उसने गृहयुद्ध दास व्यवस्था के उन्मूलन के नाम पर नहीं, बल्कि अमेरिकी संघ की रक्षा के नाम पर लड़ा। यद्यपि यह दूसरी बात है कि उसने गृहयुद्ध के मध्य ही दास व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया। यह गृहयुद्ध 1861 में आरंभ होकर 1865 तक चला। आरंभ में दक्षिण अमेरिकी राज्यों का पलड़ा भारी था, परंतु आगे उत्तरी अमेरिकी राज्यों का पलड़ा भारी हो गया और वे गृहयुद्ध जीत गए। अंत में, 1877 के लुसियाना पैक्ट के आधार पर उत्तरी और दक्षिणी राज्य फिर एक हो गए। इस प्रकार, एक राष्ट्र के रूप में यूएसए सुरक्षित रहा।

■ **अमेरिकी गृहयुद्ध का अमेरिकी राष्ट्र पर निम्नलिखित रचनात्मक प्रभाव देखा गया:**

1. **एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में यूएसए का उद्भव**- गृहयुद्ध के पश्चात् दक्षिण अमेरिकी राज्यों में भी औद्योगीकरण का प्रसार हुआ। फिर अमेरिकी सरकार के द्वारा अमेरिकी उद्योगों को संरक्षण दिया गया। लगभग 8 दशकों तक इस संरक्षणवादी नीति पर चलते हुए यूएसए विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। फिर, रेलवे के प्रसार ने यूएसए को उत्तर से लेकर दक्षिण तक आपस में जोड़ दिया। इससे भी औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार, यूएसए का आर्थिक एकीकरण हुआ तथा वहाँ तेजी से पूंजीवाद का विकास हुआ।
2. **अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के बीच यूएसए को एक सम्मानजनक स्थिति प्राप्त होना** - जब तक यूएसए में दास व्यवस्था कायम रही थी यूरोपीय राष्ट्रों के द्वारा इसकी आलोचना की जाती रही, परंतु गृहयुद्ध के पश्चात् संविधान में 13वें संशोधन के आधार पर दास व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया। फिर 14वें और 15वें संशोधन के आधार पर अमेरिकी दासों को नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हुए। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में यूएसए की स्थिति सुधर गई और आगे वह मानव अधिकारों के रक्षक के रूप में स्थापित हुआ।

■ **सीमा:**

- संवैधानिक और नागरिक अधिकारों की स्वीकृति के बावजूद आज भी अमेरिकी जीवन में अश्वेतों को समानता का अधिकार नहीं मिला है। श्वेतों के द्वारा अश्वेत पर नस्लवादी हमला और पुलिस मुठभेड़ में अश्वेतों का मारा जाना एक आम घटना हो गई है।

प्रश्न:- 'अमेरिकी गृहयुद्ध, अमेरिकी क्रांति के अधूरे एजेंडे को पूरा करने की दिशा में एक बड़ा कदम था।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।

उत्तर:- अमेरिकी गृहयुद्ध जैसी विध्वंसात्मक घटना का व्यापक रचनात्मक प्रभाव देखा गया। इसने निम्नलिखित रूप में अमेरिकी क्रांति के अधूरे एजेंडे को पूरा किया-

- **स्वतंत्रता की घोषणा का विस्तार**- अमेरिकी क्रांतिकारियों के द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा की गयी, परन्तु उनकी घोषणा दासों पर लागू नहीं होती थी। अमेरिकी गृहयुद्ध ने उसे दासों पर भी लागू किया। उदाहरण के लिए, 13वें संविधान संशोधन के आधार पर दास व्यवस्था का उन्मूलन और 14वें एवं 15वें संशोधन के आधार पर दासों को नागरिक और राजनीतिक अधिकार दिया जाना।
- **अमेरिकी संघ का मजबूत होना**- अमेरिकी क्रांति के पश्चात् अमेरिकी संघ में एक प्रकार का असंतुलन उत्पन्न हो गया था क्योंकि कांग्रेस के निम्न सदन- हाउस ऑफ रिप्रजेन्टेटिव में दास राज्यों का वजन बढ़ जाने का खतरा था। यह राज्यों की समानता की अवधारणा के विपरीत जा रहा था, परन्तु दास व्यवस्था के उन्मूलन के पश्चात् वह मुद्दा समाप्त हो गया।
- **एक पूँजीवादी आन्दोलन के रूप में**- संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक रूप में विभाजित रहा था। एक तरफ उत्तरी राज्यों में औद्योगीकरण प्रगति पर था, वहीं दक्षिणी अमेरिकी राज्यों में दास व्यवस्था पर आधारित बागवानी खेती प्रचलित थी। परन्तु, जब दास व्यवस्था का उन्मूलन हो गया, तो दक्षिणी अमेरिकी राज्य भी बागवानी खेती की जगह औद्योगीकरण की दिशा में बढ़ गए। इस कारण संयुक्त राज्य अमेरिका का आर्थिक एकीकरण हो गया।

फिर वही समय है जब उत्तर से दक्षिण तक संयुक्त राज्य अमेरिका में रेलवे तथा आधुनिक यातायात एवं संचार के साधनों का विकास हुआ। हाइवे एवं सुपर हाइवे स्थापित किए गये।

सबसे बढ़कर संयुक्त राज्य ममेरिका की सरकार को अपने उद्योगों को संरक्षण देने की स्वतंत्रता मिली। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि जब विश्व के अन्य क्षेत्रों में मुक्त व्यापार की नीति को बढ़ावा दिया जा रहा था, तब अमेरिकी सरकार ने संरक्षणवादी नीति अपनाकर अमेरिकी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन दिया और फिर यह दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक महाशक्ति बन गया।

इसलिए, अमेरिकी गृहयुद्ध को एक पूँजीवादी आन्दोलन की संज्ञा दे सकते हैं।

मॉडल प्रश्न:

1. अमेरिकी गृहयुद्ध अमेरिकी क्रांति का दूसरा चरण था। परीक्षण कीजिए।
2. अमेरिकी गृहयुद्ध एक पूँजीवादी आन्दोलन था। सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

Food for Thought

- अमेरिकी क्रांति भी अन्य देशों के स्वतंत्रता आंदोलन की तरह महज एक स्वतंत्रता आंदोलन था, परंतु अमेरिकी क्रांति के मध्य ऐसा क्या हुआ कि इसे क्रांति का दर्जा प्राप्त हुआ?
- क्या अमेरिकी क्रांति की क्रांतिकारिता अमेरिकी संविधान में निहित थी?
- अमेरिकी संविधान ने संविधानवाद के विकास में अपनी क्या विरासत छोड़ी?

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

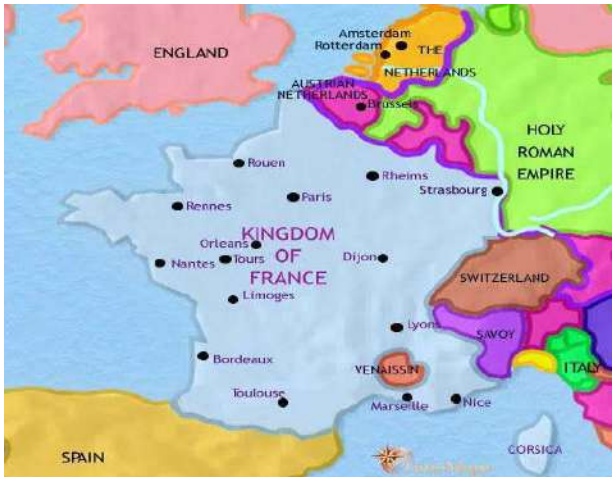

■ **पृष्ठभूमि:**

- फ्राँस की क्रांति न केवल यूरोप के इतिहास में, अपितु विश्व इतिहास में एक विभाजक रेखा बन कर आती है। मध्य युग से आधुनिक युग की ओर परिवर्तन की जो प्रक्रिया पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार आंदोलन के साथ आरंभ हुई थी, वह फ्राँस की क्रांति के साथ लगभग पूरी हो गई। एक दृष्टि से फ्राँस की क्रांति अमेरिकी क्रांति की अगली कड़ी थी। जहाँ एक तरफ अमेरिकी क्रांति ने इसे वैचारिक समर्थन दिया, वहीं दूसरी तरफ अमेरिकी मध्य वर्ग की जीत ने फ्राँसीसी मध्य वर्ग को एक नवीन चेतना प्रदान की। यह अपने विस्तार, प्रभाव, तीव्रता तथा व्यापकता में अमेरिकी क्रांति से कहीं आगे निकल गई। इसका दीर्घकालीन प्रभाव न केवल यूरोप, वरन् संपूर्ण विश्व में महसूस किया गया। यह क्रांति युद्ध, आंतरिक हिंसा एवं तानाशाही जैसी कई अवस्थाओं से गुज़रकर आगे बढ़ी।
- बताया जाता है कि फ्रांस की क्रांति उन प्रश्नों का भी जवाब थी जो 1789 से पहले यूरोप के समक्ष उपस्थित थे। ये प्रश्न थे- राजतंत्र और कुलीन वर्ग के बीच संबंधों की समस्या, राजतंत्र एवं मध्यम वर्ग के बीच संबंधों की समस्या, कुलीन वर्ग एवं मध्यम वर्ग के बीच संबंधों की समस्या तथा मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के बीच संबंधों की समस्या। फ्रांस की क्रांति ने इनमें से अधिकांश प्रश्नों का हल ढूँढ़ने का प्रयास किया था, केवल अंतिम प्रश्न अनुत्तरित रह गया था, जिसका उत्तर आगे रूस की बोल्शेविक क्रांति ने देने का प्रयास किया था।

■ **अमेरिकी क्रांति से प्रेरणा कैसे मिली?**

- फ्राँस की क्रांति को अमेरिकी क्रांति से निम्नलिखित रूप में प्रेरणा मिली-

1. अमेरिकी क्रांति में ब्रिटेन के विरुद्ध हिस्सा लेने के लिए फ्राँस की सेना अमेरिकी उपनिवेश में भेजी गयी थी। वहाँ से वह क्रान्ति के विचारों से प्रभावित होकर वापस लौटी।
2. अमेरिकी क्रांति अमेरिकी मध्यवर्ग की जीत थी। इसने फ्राँस के मध्यवर्ग की आकांक्षा को भी बढ़ा दिया।
3. फ्राँसीसी सरकार की आर्थिक दशा पहले से ही खराब थी। फिर, अमेरिकी क्रांति में हिस्सा लेने के कारण उसकी अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो गयी। फिर फ्राँस का आर्थिक संकट फ्राँसीसी क्रांति का तात्कालिक कारण बना।

■ **फ्रांस की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, जो क्रान्ति में घटित हुईं:**

- **राजनीतिक स्थिति**- फ्राँस के शासक अपने निरंकुश अधिकारों का दावा करते थे। हालाँकि फ्रांस के शासक लुई 14वें ने निरंकुश राजतंत्र को स्थापित किया था, किंतु उसके काल में क्रांति अथवा जन-उभार जैसी कोई चेतना नहीं देखी गई थी। इसका कारण था उसकी निजी प्रतिभा एवं कूटनीतिज्ञ दक्षता। परन्तु उसके उत्तराधिकारी लुई 15वें तथा लुई 16वें में वह पराक्रम एवं योग्यता नहीं थी। फिर भी वे निरंकुशता के दावे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।
- **आर्थिक कारक**- वस्तुतः क्रांति के लिए सबसे उपयुक्त स्थिति होती है एक दीर्घकाल की आर्थिक समृद्धि के पश्चात् अल्पकाल के लिए अवसान या अवनति का काल। फ्राँस में कुछ ऐसा ही देखा गया। 1730 से 1760 के दशकों में फ्राँस की अर्थव्यवस्था में विस्तार होता रहा तथा कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र, दोनों में समृद्धि देखी गई। किंतु 1770 के दशक के अंत और 1780 के दशक में यूरोप में एक मंदी का दौर आरंभ हुआ, जिसका कारण था नई दुनिया (अमेरिका) से कीमती धातु का आगमन सीमित होना। इसका प्रभाव फ्राँस की अर्थव्यवस्था पर भी देखा गया। तभी 1788-89 में फ्राँस में फसल नष्ट होने जैसी घटना हुई, जिससे किसानों में और भी असंतोष व्याप्त हो गया।
- **फ्रांस की सामाजिक संरचना**- मध्यकालीन व्यवस्था के अनुकूल फ्रांस का समाज एक विभाजित समाज था तथा इस समाज का विभाजन विशेषाधिकारविहीन वर्ग एवं विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के बीच था। विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों में प्रथम एस्टेट तथा द्वितीय एस्टेट के लोग शामिल थे। प्रथम एस्टेट का प्रतिनिधित्व पादरी वर्ग करता था, तो द्वितीय वर्ग का प्रतिनिधित्व कुलीन वर्ग। ये दोनों वर्ग सभी

प्रकार के कर से मुक्त थे तथा कई अन्य प्रकार के सामाजिक विशेषाधिकार का उपयोग करते थे। वहीं जनसामान्य तृतीय एस्टेट में शामिल थे तथा वे विशेषाधिकारविहीन थे। जनसामान्य समूह में फ्राँस के मध्य वर्ग अर्थात् पूंजीपति, विभिन्न पेशेवर समूह, किसान और श्रमिक सभी शामिल थे। करों का बोझ मुख्यतः तृतीय एस्टेट पर था। सबसे बड़ी विडंबना यह थी कि जहाँ पूंजीपति एवं विभिन्न पेशेवर समूह अपनी आर्थिक स्थिति में अनेक कुलीनों से ऊपर उठ चुके थे, वहीं सामाजिक दृष्टि से उनकी स्थिति अपने ही समूह के निर्धन लोगों जैसी थी। फ्रांस में आर्थिक रूप से प्रभावकारी और सामाजिक रूप से प्रभावकारी वर्ग के बीच यह विरोधाभास फ्रांस की क्रांति का एक महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ।

- **वैचारिक अथवा सांस्कृतिक कारक**- प्रबोधन का गहरा प्रभाव फ्राँस पर देखा गया था तथा पेरिस बौद्धिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया था। फ्रांस में सक्रिय चिन्तकों में वाल्टेयर, मॉन्टेस्क्यू, दिदरो, रूसो आदि प्रमुख थे। हालाँकि ये मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी थे, अतः ये शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास करते थे, क्रांति में नहीं। इनका बल सुधारों पर रहा था, उग्र परिवर्तन पर नहीं। परन्तु इन्होंने निम्नलिखित रूप में क्रान्ति को अप्रत्यक्ष प्रेरणा प्रदान की-

1. इन चिन्तकों ने अपने निबन्ध एवं लेखों के माध्यम से लोगों का ध्यान तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं की ओर खींचा।
2. इन्होंने कुछ ऐसे शब्द एवं मुहावरों को जन्म दिया जिनसे क्रान्तिकारियों को प्रेरणा मिली, यथा- विधि का शासन, नागरिक की अवधारणा आदि।
3. फिर, क्लब एवं कॉफी हाउस में उनके द्वारा जो बहस की जाती, उस कारण उनके विचारों का तेजी से प्रसार हुआ।

- गौरतलब है कि क्रांति के काल में कोई भी विचारक उपस्थित नहीं थे, न तो इनके द्वारा कोई राजनीतिक संगठन बनाया गया था और न ही इन्होंने अमेरिकी नेता बेंजामिन फ्रेंकलिन और टॉमस जैफरन की तरह क्रांति का नेतृत्व किया था। यही वजह है कि इन विचारकों की भूमिका को तात्कालिक परिस्थितियों से पृथक करके नहीं देखा जा सकता।
- **तात्कालिक परिस्थितियाँ**- सप्तवर्षीय युद्ध में भागीदारी एवं अमेरिकी क्रांति के समर्थन ने फ्राँस की अर्थव्यवस्था को संकटपूर्ण स्थिति में ला दिया था। अब सरकार के समक्ष एक ही समाधान था- कर के आधार को बढ़ाना। अर्थात् विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को भी कर की परिधि में लिया जाना। इस मुद्दे पर वित्त विशेषज्ञ कोलोन ने कुलीनों से वार्ता करने का प्रयास किया, परंतु कुलीनों ने किसी प्रकार की रियायत देने से इंकार कर दिया। अंत में, फ्रांस की सरकार ने स्टेट्स जनरल की बैठक बुलाने की घोषणा की। वस्तुतः स्टेट्स जनरल ब्रिटिश पार्लियामेंट की तरह एक प्रतिनिधि संस्था रही थी, परंतु ब्रिटेन के शासकों के विपरीत फ्रांसीसी शासक अधिक निरंकुश रूप में शासन करना चाहते थे। लगभग 175 वर्षों के पश्चात् फ्रांसीसी राजतंत्र के द्वारा स्टेट्स जनरल की बैठक बुलाने की घोषणा का प्रतीकात्मक अर्थ था- फ्रांसीसी राजतंत्र का क्रांति की शक्तियों के समक्ष समर्पण। इसलिए जब मई, 1789 में स्टेट्स जनरल की बैठक आरंभ हुई, तो मतदान के मुद्दे पर मतभेद आरंभ हो गया। एक तरफ विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की माँग थी कि चैंबर के बहुमत के आधार पर निर्णय हो क्योंकि फिर वे बहुमत की स्थिति में आ जाते। दूसरी तरफ, जनसामान्य अथवा तृतीय एस्टेट की माँग थी कि तीनों चैंबर को मिलाकर बहुमत का निर्धारण किया जाए क्योंकि इस वर्ग की संख्या अधिक थी। किंतु इस मुद्दे पर कोई समझौता नहीं हो सका। अंत में वार्ता टूट गई और फिर मध्यवर्गीय प्रतिनिधियों ने स्टेट्स जनरल का बहिष्कार करते हुए सामने के एक टेनिस कोर्ट में सभा बुलाई। इसने अपने आप को नेशनल असेम्बली घोषित कर दिया। इस प्रकार क्रांति का आरंभ हो गया।

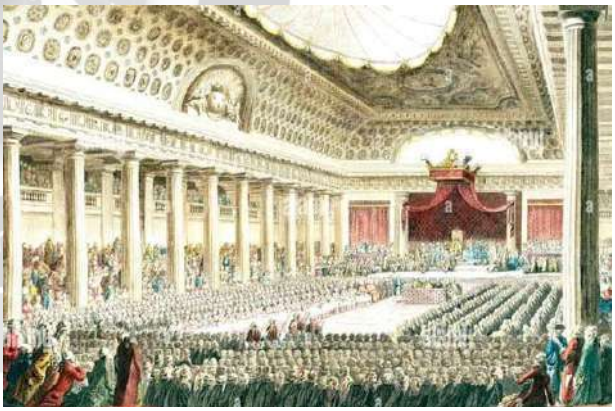

- इसे निम्न वर्ग का समर्थन प्राप्त हो गया। निम्न वर्ग में फ्राँस के किसान तथा पेरिस के दस्तकार (कारीगर) थे। इन्हें पेरिस की भीड़ (Mob of Paris) के नाम से जाना जाता है। परंतु निम्न वर्ग की उपस्थिति मध्यवर्गीय नेतृत्व के समक्ष एक बड़ी चुनौती थी क्योंकि दोनों के लक्ष्यों में स्पष्ट अंतर था। एक तरफ मध्यवर्ग, सीमित मताधिकार पर आधारित संवैधानिक राजतंत्र एवं राजनीतिक स्वतंत्रता चाहता था, वहीं निम्न वर्ग सार्वत्रिक मताधिकार के आधार पर प्रजातंत्र तथा आर्थिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता चाहता था। इसलिए फ्रांस की क्रांति के दौरान मध्य वर्ग एक साथ दो मोर्चे पर लड़ रहा था। एक तरफ राज्य प्रदत्त विशेषाधिकारों को समाप्त करने के लिए राजतंत्र, कुलीन वर्ग और पादरी

वर्ग से लड़ रहा था, तो दूसरी तरफ वे अपने उन अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए निम्न वर्ग के साथ भी संघर्ष कर रहे थे। उनके इस दृष्टिकोण का दोहरापन क्रांति के मध्य प्रकट हुआ। फिर मध्यवर्ग और निम्न वर्ग के परस्पर संबंधों ने क्रांति के कई चरण निर्धारित कर दिए।

■ **यह क्रांति यूरोप के अन्य क्षेत्रों में घटित न होकर, फ्राँस में क्यों घटित हुई?**

- ध्यातव्य है कि क्रान्ति उन्हीं देशों में हो सकती थी जहाँ शक्तिशाली मध्य वर्ग हो तथा विभिन्न वर्गों में गहरा असन्तोष हो और फिर वे व्यवस्था के विरूद्ध आपस में कोई गठबंधन बनाने के लिए तैयार हों। फिर, जैसा कि हम जानते हैं कि इस तरह की परिस्थितियाँ केवल फ्रांस में ही थी, पोलैंड एवं हंगरी में एक सशक्त मध्य वर्ग का अभाव था तथा नीदरलैंड में किसानों ने मध्यवर्ग के विरुद्ध प्रतिक्रान्तिकारियों का साथ दिया था। दूसरी तरफ, फ्राँसीसी मध्यवर्ग, यूरोप के अन्य देशों में रहने वाले अपने समकक्षों से इस बात में पृथक् था कि एक तरफ उसकी आर्थिक स्थिति कहीं बेहतर थी, वहीं उसकी सामाजिक स्थिति तृतीय एस्टेट्स के लोगों के समकक्ष थी। साथ ही, फ्राँस में लगभग सभी वर्गों का सरकार से मोहभंग हो चुका था।

क्रांति की प्रगति एवं स्वरूप (1789-1815)

प्रथम चरण- संवैधानिक राजतंत्र का चरण (1789-92)

- **वर्गीय समीकरण**- इस काल में क्रांति का नेतृत्व मध्यवर्ग के हाथों में रहा था, परंतु क्रांति पर निम्न वर्ग का दबाव भी बना हुआ था। इसलिए कहीं-कहीं क्रांति ने उग्र स्वरूप भी ग्रहण कर लिया था, किंतु अधिकांशत: यह मध्यवर्गीय हितों की सीमा में बंधकर ही चली। इसे संवैधानिक राजतंत्र का चरण माना जाता है। इसे निम्नलिखित रुप में समझा जा सकता है -

1. **वास्तील का पतन (14 जुलाई, 1789)**- वास्तील एक जेलखाना था। पेरिस की भीड़ ने उस पर आक्रमण कर कैदियों को छुड़ा लिया तथा हथियारों को भी लूट लिया। इसका प्रतीकात्मक अर्थ था कि राजतंत्रवादी निरंकुशता का पतन।
2. **सामंतवाद का अंत (4 अगस्त, 1789)**- एक राजनीतिक शक्ति के रूप में सामंतवाद का अंत पहले ही हो चुका था, परंतु आर्थिक और सामाजिक विशेषाधिकार के रूप में सामंतवाद अभी भी अस्तित्व में था। किंतु राष्ट्रीय सभा ने 4 अगस्त, 1789 को सामंतवाद का अंत कर दिया। सामंतवाद के अंत के पश्चात् फ्रांस, यूरोप में स्वतंत्र किसानों का प्रथम देश बन गया। परन्तु फ्रांस में सामंतवाद की समाप्ति के पश्चात् भी सामंतों का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। एक तरह से अगर देखा जाए तो उन्होंने अपने कुछ कम महत्वपूर्ण अधिकारों को गंवाकर अधिक महत्वपूर्ण अधिकारों को बचा लिया। दूसरे शब्दों में, फ्रांसीसी कुलीनों की संपत्ति का अधिकार बचा रहा।
3. **व्यक्ति एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा (26 अगस्त, 1789)**- राष्ट्रीय सभा ने 26 अगस्त, 1789 को व्यक्ति एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा की। यह अपने आप में बहुत बड़ा कदम था। यद्यपि यह कोई नई बात नहीं थी, इससे पूर्व ब्रिटिश मैग्नाकार्टा एवं अमेरिकी क्रांति में भी नागरिक अधिकारों की घोषणा की गई थी। फिर भी फ्राँस के क्रांतिकारियों की घोषणा अपने स्वरूप में अलग थी। यह रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धांत में अंतर्निहित जन-संप्रभुता की अवधारणा से प्रेरित थी तथा इसका प्रभाव कहीं अधिक व्यापक रहा। परन्तु इसमें जिन स्वतंत्रताओं की घोषणा हुई (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, निजी संपत्ति का अधिकार, विधि के समक्ष समानता, मनमानी गिरफ्तारी से मुक्ति) वे मध्य वर्ग के हित में थे, निम्न वर्ग के हित में काम के अधिकार, भोजन के अधिकार तथा संघ एवं संगठन बनाने के अधिकारों को स्वीकृति नहीं दी गई। फिर, यह अधिकार केवल पुरुषों पर ही लागू था, महिलाओं पर नहीं।
4. **नये संविधान का निर्माण (1791)**- जैसा कि हम जानते हैं कि राष्ट्रीय सभा संविधान सभा के रूप में भी कार्य करती रही थी। फिर 2 वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् 1791 में फ्रांस का नया संविधान बनकर तैयार हुआ। इस संविधान पर मध्यवर्गीय दृष्टिकोण का प्रभाव था। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए मॉन्टेस्क्यू की शक्ति के पृथक्करण की अवधारणा को अपनाया गया। मताधिकार को सीमित रखा गया और इसे संपत्ति की योग्यता से जोड़ दिया गया। इस नए संविधान में एक सदनीय व्यवस्थापिका का प्रावधान लाया गया। इसका नाम था 'नेशनल कन्वेंशन'। किंतु संविधान सभा ने एक निर्णय में भूल की। उसने यह प्रावधान किया कि जो संविधान सभा के सदस्य होंगे, वे नए संविधान के आधार पर गठित नेशनल कन्वेंशन के सदस्य नहीं होंगे। इस कारण से क्रांति ने उन तत्त्वों को, जो तत्त्व 1789 एवं 1791 के बीच संतुलन बनाए रखने के लिये उत्तरदायी रहे थे, खो दिया।

द्वितीय चरण- उग्र गणतंत्रवाद का चरण (1792-94)

- **नवीन वर्गीय समीकरण**- निम्नवर्ग ने मध्यवर्ग को बाहर कर क्रांति पर नियंत्रण स्थापित कर लिया क्योंकि मध्यवर्गीय नेतृत्व के द्वारा जो सुधार और परिवर्तन लाए गए थे उससे निम्न वर्ग संतुष्ट नहीं था। इस समय फ्राँस में सक्रिय दो रेडिकल पार्टियाँ, जिरोंदिस्त और जैकोबियन, फ्राँस में उग्र

परिवर्तन लागू करना चाहती थीं। जिरोंदिस्त जहाँ निम्न मध्य वर्ग प्रतिनिधित्व कर रहा था, वहीं जैकोबियन निम्न वर्ग का। जून, 1792 में असेंबली के इन रेडिकल सदस्यों ने एक दूसरी क्रांति के माध्यम से सत्ता पर नियंत्रण कर लिया तथा अगस्त, 1792 में एक नया संविधान लाया, जिसमें पहली बार सार्वत्रिक पुरुष मताधिकार का प्रावधान था। इन्हीं रेडिकल सदस्यों के द्वारा सितंबर, 1792 में राजा को बंदी बनाकर राजतंत्र को समाप्त कर दिया गया तथा फ्रांस को गणतंत्र घोषित कर दिया गया।

- **जैकोबियन सरकार की स्थापना**– आगे चलकर जिरोंदिस्त और जैकोबियन के बीच भी मतभेद हो गया। जिरोंदिस्तों का यह मानना था कि गणतंत्र की स्थापना के पश्चात् क्रांति का लक्ष्य पूरा हो गया, जबकि जैकोबियन इस क्रांति को और भी आगे ले जाना चाहते थे। (जैकोबियन धारीदार पज़ामा तथा लाल टोपी पहनते थे।) चूँकि जैकोबियन जिरोंदिस्तों की तुलना में कहीं अधिक संगठित थे, इसलिए उन्होंने जून, 1793 में पेरिस की भीड़ के सहयोग से विधानमंडल में जिरोंदिस्तों को खींच कर मार डाला। फिर वहाँ वह शासन व्यवस्था कायम हो गई जिसे जैकोबियन आतंक के नाम से जानते हैं।
- जैकोबियन शासन जून, 1793 से जून, 1794 तक कायम रहा। यह आधुनिक तानाशाही सरकार का प्रथम उदाहरण है। व्यवहार में यह एक व्यक्ति की तानाशाही बन गई क्योंकि जैकोबियन नेता रॉब्सपीयर ने दाँते, हरबर्ट आदि जैसे अपने अन्य साथियों को रास्ते से हटाकर अपने को सरकार के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में स्थापित कर दिया। इसका एक दुखद पहलू यह है कि यह तानाशाही सरकार रूसो की सामान्य इच्छा (कॉमन विल) की अवधारणा के तहत लायी गई थी।
- **जैकोबियन शासन की उपलब्धियाँ**– एक तरह से अगर देखा जाए तो इसने प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी विचारों को गति दी तथा धर्मनिरपेक्षता को प्रोत्साहन दिया। सीमित मताधिकार को हटाकर इसने सार्वत्रिक पुरुष मताधिकार का प्रावधान लाया। इसने लोककल्याणकारी कार्यों पर बल दिया। इसके अंतर्गत इसने लोगों को काम के अधिकार एवं भोजन के अधिकार प्रदान किए। साथ ही, इसने शहरी श्रमिकों की सुविधा के लिए राशनिंग के आधार पर अनाज मुहैया कराने का प्रावधान लाया। इसके अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, संपत्ति का अधिकार और साथ ही असंतोषजनक सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार भी दिये गए थे। इसी शासन के अंतर्गत एक सैन्य अधिकारी कार्नो ने 'आम सैनिक भर्ती' की पद्धति लागू की। इससे एक नागरिक सेना की अवधारणा आई, जिसने सेना की समस्त संरचना को परिवर्तित कर दिया।
- **जैकोबियन शासन की सीमाएँ**– इसने क्रांति को एक भयावह चेहरा दिया। क्रांति के इस काल को 'आतंक का राज्य' भी कहा जाता है। इस काल में क्रांति उग्र एवं हिंसक हो गई और इसने अपने बच्चों को ही निगलना आरंभ कर दिया। निम्न वर्ग के प्रतिनिधित्व का दावा करने के बावजूद इस शासन काल के मध्य मारे जाने वाले अधिकतर लोग निम्न वर्ग से थे। अंत में, जून, 1794 में कुछ जैकोबियन सदस्यों ने ही मिलकर रॉब्सपीयर को रास्ते से हटा दिया। इसके साथ ही आतंक के शासन का अंत हो गया। इस घटना का प्रतीकात्मक अर्थ था फिर एक बार क्रांति का निम्न वर्ग के हाथों से निकलकर मध्यवर्ग के हाथों में आ जाना।

तीसरा चरण– उदार गणतंत्रवाद का चरण (1794–99)

- **वर्गीय समीकरण**– रॉब्सपीयर के पतन की घटना का प्रतीकात्मक अर्थ था कि फिर एक बार क्रांति का निम्न वर्ग के हाथों से निकलकर मध्यवर्ग के हाथों में आ जाना। इस समय निम्न वर्ग उतना संगठित नहीं था, उसमें आंतरिक फूट पड़ गई थी। वस्तुतः क्रांति के मध्य किसानों और पेरिस के दस्तकारों के बीच दरार पड़ गई क्योंकि रॉब्सपीयर की सरकार के द्वारा किसानों को कम कीमत पर अनाज बेचने के लिए दबाव डाला गया था, ताकि कारीगरों को यह कम कीमत पर मिल सके।
- **डायरेक्टरी शासन**– इस चरण में मध्यवर्ग ने अपने लक्ष्य के अनुरूप फिर सरकार के स्वरूप में परिवर्तन ला दिया। 1795 में फ्रांस का एक नया संविधान लाया गया। इसमें फिर एक बार सार्वत्रिक पुरुष मताधिकार को समाप्त कर सीमित मताधिकार को बहाल किया गया। साथ ही, एक सदन वाली व्यवस्थापिका की जगह दो सदनों वाली व्यवस्थापिका स्थापित की गई, ताकि विधानमंडल पर किसी एक पार्टी का वर्चस्व स्थापित न हो। उसी प्रकार, कार्यपालिका की शक्ति पांच डायरेक्टरों में निहित कर दी गई। यहाँ प्रयास यह था कि फ्रांस की राजनीति में राजनीतिक दल की भूमिका सीमित हो। परंतु राजनीतिक दल की भूमिका को सीमित करने का एक नकारात्मक परिणाम सामने आया, वह था व्यक्ति का महत्व बढ़ जाना तथा वह व्यक्ति था **नेपोलियन बोनापार्ट**।

चतुर्थ चरण– प्रजातंत्र के नाम पर तानाशाही और साम्राज्यवाद का चरण (1799–1814)

- जैसा कि हमने देखा कि 1794 के पश्चात् ही क्रांति मध्य वर्ग के हित में मुड़ चुकी थी। नेपोलियन भी मध्यवर्ग के

हित में ही काम कर रहा था। उसने 1799 में डायरेक्टरी के शासन का अंत कर दिया तथा फिर एक नया संविधान लाकर एक नई सरकार स्थापित कर दी। आगे 1804 ई. में गणतंत्र को समाप्त कर अपने को फ्राँस का सम्राट घोषित कर दिया। उसने जैकोबियन शासन के रेडिकल सुधारों को समाप्त किया और बड़ी चालाकी से क्रांति को स्वतंत्रता एवं समानता के लक्ष्य से पृथक् कर उसे राष्ट्रवाद एवं सैनिक गौरव के पक्ष में मोड़ दिया।

■ **नेपोलियन का मूल्यांकनः-**

- **सबल पक्षः क्रांति का शिशु अथवा क्रांति से संबंध बनाए रखना**- 'नेपोलियन क्रांति का शिशु था' से तात्पर्य है कि क्रांति ने ही वे परिस्थितियाँ निर्मित की थीं जिनसे नेपोलियन का उद्भव संभव हुआ था। क्रांति ने प्रतिभा की प्रगति के लिए जो रास्ता तैयार किया, उसी का लाभ उठाकर नेपोलियन जैसा सामान्य व्यक्ति एक सैनिक अधिकारी के पद से फ्रांस के शासक के स्तर तक पहुँच गया। उसने क्रांति से अपना संबंध बनाए रखा तथा क्रांति के आदर्शों की रक्षा के नाम पर ही उसकी सरकार ने वैधता प्राप्त की। इतना तक कि जब उसने अपने को सम्राट घोषित कर दिया तो भी उसने जनमत संग्रह के माध्यम से अपने इस कदम का अनुमोदन लिया और यह घोषित किया कि अब गणतंत्र केवल एक व्यक्ति में निहित है। नेपोलियन के सुधारों ने भी क्रांति के साथ अपना संबंध बनाए रखा था तथा उसके विधि कोड (नेपोलियन कोड) में भी विधि के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, संपत्ति के अधिकार आदि को स्वीकृति दी गई थी। उसने सामाजिक समानता के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए जन्म आधारित विशेषाधिकार को नकार दिया। उसने प्रतिभा के आधार पर सरकारी सेवा में नियुक्ति पर बल दिया। उसकी कर प्रणाली भी क्रांति के आदर्शों के अनुकूल थी क्योंकि इसमें कर के वितरण का प्रावधान था। वित्तीय गतिविधियों को सुचारु बनाने के लिये उसने 'बैंक ऑफ फ्राँस' की स्थापना की। इसके अलावा, फ्राँस के बाहर यूरोप में भी उसे क्रांति के प्रतिनिधि के रूप में देखा गया।
- **निर्बल पक्षः क्रांति का शत्रु**- नेपोलियन ने क्रांति के कुछ महत्वपूर्ण आदर्शों को उलट दिया। उसने फ्रांस में गणतंत्र को समाप्त कर राजतंत्र स्थापित कर दिया। फिर उसने अपनी पैतृक परम्परा बूर्बो शासकों से जोड़ने का प्रयास किया। उसने लोगों की स्वतंत्रता को कुचल दिया। उसने जनमत का उपयोग अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए किया। फिर समानता को भी उसने अपने ढंग से परिभाषित किया। उसके लिये समानता का अर्थ अवसरों की समानता थी, न कि आर्थिक समानता। नेपोलियन कोड ने परिवार में महिलाओं को पुरूषों के अधीन कर दिया। जहाँ क्रांति का बल प्रत्यक्ष कर पर रहा था, वहीं नेपोलियन ने अप्रत्यक्ष कर पर बल दिया। उसी प्रकार, मुक्त अर्थव्यवस्था की जगह उसका बल वाणिज्यवादी नीति पर रहा था। उसने राजनीतिक दलों पर पाबन्दी लगायी। गुप्त पुलिस की सहायता से अपने विरोधियों का सफाया कर दिया, इसलिए भावी तानाशाहों के लिए नेपोलियन का शासन एक आदर्श मॉडल था। नेपोलियन ने फ्रांस की क्रांति को स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्श से पृथक् कर सैनिक विजय एवं राष्ट्रीय गौरव की ओर मोड़ दिया।

क्रांति के विभिन्न चरणों में रेडिकल विचारों की स्थिति

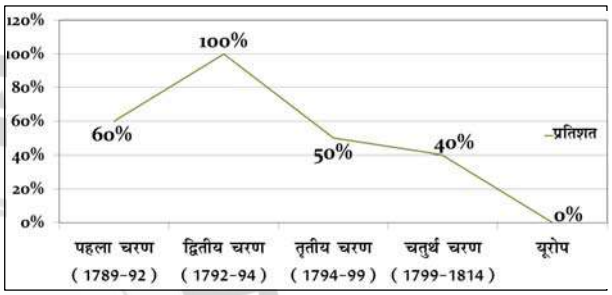

MAP 21.1 Napoleon's Empire at Its Height, 1812

■ **विजय के बाद नेपोलियन ने यूरोप में राष्ट्रवाद को किस प्रकार प्रोत्साहित किया?**

- जिन क्षेत्रों में नेपोलियन का प्रसार हुआ, उन क्षेत्रों में क्रांति के आदर्श भी प्रसारित हुए। क्रांति के आदर्श ने नेपोलियन के साम्राज्य को वैधता प्रदान की थी। अपने विजित क्षेत्रों में उसने सामंतवाद को समाप्त किया, चर्च के साथ संबंधों को पुनर्स्थापित किया और नेपोलियन कोड को लागू किया। नेपोलियन के सुधारों ने यूरोपीय देशों में आंतरिक एकता लाकर राष्ट्रवाद के उद्भव का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उसने इतालवी क्षेत्रों को पुनर्गठित किया तथा औपचारिक रूप से जर्मनी में पवित्र रोमन साम्राज्य को समाप्त कर जर्मन राज्यों को पुनर्गठित किया। इसने उन

क्षेत्रों के भावी एकीकरण की नींव डाल दी।

■ **नेपोलियन ने नए यूरोप को पुराने यूरोप के साथ कैसे जोड़ा?**

- जिस समय नेपोलियन का आगमन हुआ, उस समय फ्रांस उग्र परिवर्तनों से गुजर रहा था। फ्रांस में पुरातन व्यवस्था टूट कर बिखर चुकी थी, किंतु नवीन संस्थाओं की स्थापना नहीं हो सकी थी। फ्रांस के नागरिक भी क्रांति की हिंसक एवं उग्र छवि को नहीं भूल पाये थे। अत: उसने नवीन संस्थाओं का निर्माण करने का प्रयास किया, ताकि क्रांति से उत्पन्न शून्य को भरा जा सके। इसके लिए नेपोलियन के द्वारा निम्नलिखित कदम उठाए गए-

1. उसने क्रांति को रूसो के विचार से पृथक् कर मॉन्टेस्क्यू और वॉल्टेयर के विचारों की ओर मोड़ दिया।
2. उसने प्रशासनिक केन्द्रीकरण पर बल दिया। अत: प्रत्येक विभाग में प्रीफैक्ट तथा स्थानीय प्रशासन में उपप्रीफैक्ट जैसे अधिकारियों की नियुक्ति की।
3. उसने वर्गीय विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया, किंतु साथ ही लोगों की मूलभूत स्वतंत्रता को स्वीकृति नहीं दी।
4. सैद्धांतिक रूप में उसने समानता को स्वीकार किया, लेकिन समानता को अपने ढंग से परिभाषित किया। उसके लिए समानता का अर्थ था अवसरों की समानता, आर्थिक समानता नहीं।
5. जहाँ क्रांति ने स्वतंत्र व्यापार की नीति पर ज़ोर दिया, वहीं नेपोलियन ने वाणिज्यिक नीति पर बल दिया।
6. नेपोलियन ने अपनी राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए धर्म का उपयोग किया। जैसा कि हम जानते हैं कि क्रांति के मध्य लोगों ने चर्च की संपत्ति पर हमला कर उसे राज्य की संपत्ति में तब्दील कर दिया था, इसलिए रोम के पोप के साथ फ्रांस का संबंध-विच्छेद हो गया था। अत: नेपोलियन ने 1801 में पोप के साथ एक समझौता कर लिया। इसके आधार पर चर्च के कुछ अधिकार पुनर्स्थापित कर दिए गए। नेपोलियन का वास्तविक उद्देश्य धर्म का उपयोग कर अपनी राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ करना था।

- परंतु इस क्रम में नेपोलियन क्रांति के मूल आदर्शों से हटता चला गया। फ्रांस में गणतंत्र की जगह राजतंत्र स्थापित हो गया, सरकार की प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था समाप्त हो गयी, निजी स्वतंत्रता पर पाबंदी लगी जबकि समानता एवं बंधुत्व जैसे शब्दों ने अपने अर्थ खो दिए। इस प्रकार, क्रांति के साथ नेपालियन के बड़े ही जटिल संबंध थे।

■ **नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था**

- अपनी साम्राज्यवादी सफलता की ऊँचाई पर पहुँचने के बावजूद नेपोलियन ब्रिटेन को नहीं हरा सका था। अत: टिल्सिट की संधि के पश्चात् नेपोलियन ने ब्रिटेन के विरूद्ध गहन आर्थिक नाकेबंदी करने का निर्णय लिया। इससे पूर्व 1806 में ही बर्लिन घोषणा में वह महाद्वीपीय व्यवस्था का प्रारूप ला चुका था। रूस के समर्थन के बाद इस योजना को और भी अधिक सफल होने की संभावना थी। इस योजना के अनुसार, यह आदेश जारी किया गया कि ब्रिटेन का कोई भी जहाज फ्रांस अथवा उसके मित्र राज्य के बंदरगाह पर लंगर नहीं डाल सकता। नेपोलियन की योजना के दो उद्देश्य थे– प्रथम, ब्रिटेन के निर्यात को ठप करना। दूसरे, यूरोपीय बाजार से ब्रिटिश वस्तुओं को फ्रांसीसी वस्तुओं से विस्थापित करना। बदले में ब्रिटेन ने आर्थिक प्रतिक्रिया दिखाई तथा उसने अन्य देशों से आयात रोक दिया। नेपोलियन की योजना की सफलता दो बातों पर निर्भर थी। पहली, फ्रांस के पास ऐसी सक्षम नौसेना हो, जो तस्करी को रोक सके। दूसरी, फ्रांस का औद्योगिक उत्पादन का आधार इतना मजबूत हो कि वह ब्रिटिश वस्तुओं के अभाव की क्षतिपूर्ति कर सके। किंतु ऐसा संभव नहीं हुआ तथा यूरोप में उपभोक्ता वस्तुओं की बड़ी कमी हो गयी। इसने जन असंतोष तथा जन आंदोलन को जन्म दिया। इस जन आंदोलन का फायदा उठाकर यूरोपीय शासकों ने नेपोलियन के विरूद्ध एक संगठन कायम कर लिया। अत: महाद्वीपीय व्यवस्था एक ऐसी दोधारी तलवार सिद्ध हुई, जिसने ब्रिटेन की तुलना में फ्रांस को अधिक क्षतिग्रस्त कर दिया।

■ **नेपोलियन के पतन के क्या कारण थे?**

- फ्राँसीसी क्रांति के आदर्शों और नेपोलियन के साम्राज्य की वास्तविकता के बीच विद्यमान विरोधाभास एवं नेपोलियन द्वारा की गई कुछ नीतिगत भूल के कारण नेपोलियन के साम्राज्य का पतन हुआ।

नेपोलियन के साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध-

1. नेपोलियन यूरोप में क्रान्ति का अग्रदूत बनकर आया था। अत: यूरोप के मध्यवर्ग ने उसका स्वागत किया था, परन्तु शीघ्र ही नेपोलियन की साम्राज्यवादी नीति प्रकट होने लगी तथा फ्रांस की क्रांति के आदर्शों, जैसे-समानता, स्वतंत्रता एवं नागरिक अधिकारों और नेपोलियन के साम्राज्यवाद के बीच का अन्तर्विरोध प्रकट हो गया। फिर यूरोपीय मध्य वर्ग ने नेपोलियन को अस्वीकार कर दिया।
2. फ्रांस एवं नेपोलियन की सफलता का बड़ा कारण रहा था नागरिक सेना की अवधारणा। किन्तु आगे अन्य यूरोपीय देशों ने इस अवधारणा को अपना लिया जिससे नेपोलियन की विशिष्टता जाती रही।

निर्णय की भूल-

1. नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था ने ब्रिटेन से अधिक स्वयं फ्रांस को क्षतिग्रस्त कर दिया। यूरोप में उपभोक्ता

वस्तुओं की बड़ी कमी हो गयी। इसने जन असंतोष तथा जन आंदोलन को जन्म दिया। इस जन आंदोलन का फायदा उठाकर यूरोपीय शासकों ने नेपोलियन के विरूद्ध एक संगठन कायम कर लिया।

2. **मास्को अभियान**- मास्को अभियान उसकी एक रणनीतिक भूल सिद्ध हुआ। वस्तुतः 1812 ई. में नेपोलियन बोनापार्ट ने मास्को अभियान किया। इसका कारण रूस द्वारा महाद्वीपीय व्यवस्था का उल्लघंन था। किंतु जार ने रणनीतिक कुशलता का परिचय देते हुए अपनी सेना को लेकर साइबेरिया में शरण ले ली। नेपोलियन मॉस्को में आत्मसमर्पण का इंतजार करता रहा। इसी दौरान ठंड, महामारी व भूख के कारण उसकी सेना को व्यापक क्षति हुई। यह अभियान सिद्ध करता है कि इस काल तक नेपोलियन एक तर्कसंगत निर्णय लेने की स्थिति में नहीं था। वह पूरब के इतने विनाशक अभियान पर निकल गया था, जबकि पश्चिम में उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी ब्रिटेन अभी भी अविजित था।

प्रश्नः 'नेपोलियन यूरोप में क्रांति का अग्रदूत था।' इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (150 शब्द)

उत्तरः नेपोलियन का फ्रांस की क्रांति से दोहरा संबंध रहा। एक तरफ वह क्रांति के राजदूत के रूप में यूरोप में उपस्थित हुआ, वहीं दूसरी तरफ आगे वह स्वतंत्रता के शत्रु के रूप में यूरोप से बाहर खदेड़ा गया।

जब नेपोलियन फ्रांस से बाहर निकलकर यूरोप पहुँचा, तो उसे एक सिंहासनारूढ़ जैकोबियन (क्रांतिकारी) के रूप में पहचाना गया। यूरोप के किसान नेपोलियन की ओर उम्मीद भरी नज़रों से देख रहे थे। उसी प्रकार, यूरोपीय मध्य वर्ग उसे उद्धारक के रूप में देख रहा था। उसकी दृष्टि में नेपोलियन स्वतंत्रता तथा नागरिक अधिकारों का जीवंत रूप था। फिर नेपोलियन जहाँ भी गया, वहाँ उसने सामंतवाद का अंत किया, चर्च को नियंत्रित किया तथा नेपोलियन कोड को लागू कर दिया। नेपोलियन के इन सुधारों से लोगों में नये उत्साह का संचार हुआ।

किंतु शीघ्र ही फ्रांस की क्रांति के आदर्श तथा नेपोलियन के साम्राज्यवाद की सच्चाई के बीच का विरोधाभास सामने आने लगा तथा फिर यूरोप की जनता ने नेपोलियन को अस्वीकार कर दिया। नेपोलियन ने विभिन्न क्षेत्रों में संसाधनों का दोहन किया तथा अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए संबंधित क्षेत्र से बड़ी संख्या में सैनिकों की बहाली की। अब यूरोपीय लोग उसके शासन की सच्चाई को समझने लगे। फिर स्पेन के जन विद्रोह ने उसके अंत की शुरूआत कर दी तथा यूरोपीय शासकों ने इस जनविद्रोह का लाभ उठाकर नेपोलियन को पराजित कर दिया। इस तरह फ्रांस की क्रांति का अग्रदूत नेपोलियन, यूरोपीय लोगों की श्रद्धा एवं घृणा दोनों का पात्र बना।

■ फ्रांस की क्रांति का महत्त्व एवं विरासत

- फ्रांस की क्रान्ति ने तात्कालिक रूप में फ्रांस एवं यूरोप को परिवर्तित किया, परन्तु दीर्घकालीन स्तर पर इसने विश्व इतिहास की दिशा ही बदल दी।

1. उदारवादी विचारधारा अर्थात् प्रतिनिध्यात्मक सरकार, मानव तथा व्यक्ति के अधिकारों को मान्यता प्रदान की।
2. फ्राँस की क्रांति की संभवतः सबसे प्रमुख देन है- राजनीति में जनभागीदारी को प्रोत्साहन। इसने राजनीति के स्वरूप को ही बदल दिया।
3. इसने आधुनिक राष्ट्रवाद की अवधारणा रखी, जो जनता की शक्ति पर आधारित था। इसके परिणामस्वरूप इटली और जर्मनी का एकीकरण संभव हुआ।
4. इसने गणतंत्रवादी एव प्रजातंत्र के विचारों को भी प्रोत्साहन दिया।
5. जैकोबियन शासन के काल में समाजवाद के तत्व या समाजवादी विचारधारा को भी प्रोत्साहन मिला।
6. फ्रांस की क्रान्ति के विचारों से तात्कालिक रूप में लैटिन अमेरिकी उपनिवेशों में स्वतंत्रता आंदोलन को बल मिला।
7. आगे एशिया महाद्वीप पर भी उसका प्रभाव देखा गया, उदाहरण के लिए, टीपू सुल्तान, राजा राममोहन राय के व्यक्तित्व पर भी फ्रांस की क्रांति के विचारों का प्रभाव था।

■ फ्रांस की क्रांति की सीमाएँ

- इसकी शुरुआत स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के आदर्श वाक्य के साथ हुई थी, लेकिन यह लोकतांत्रिक आदर्शों को लागू करने से बहुत दूर रही क्योंकि इसने सार्वत्रिक मताधिकार की जगह सीमित मताधिकार को लागू किया।
- 26 अगस्त, 1789 को पुरुषों और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा हुई, किंतु महिलाओं को इससे वंचित रखा गया तथा वर्ष 1946 तक आकर ही सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार को स्वीकृति मिली।
- इस क्रांति के मध्य मध्यवर्ग और निम्न वर्ग के बीच संबंधों का प्रश्न अनुत्तरित रहा, आगे रूस की क्रांति ने इसका उत्तर देने का प्रयास किया।

प्रश्नः- स्पष्ट कीजिए कि अमरीकी एवं फ्रांसीसी क्रांतियों ने आधुनिक विश्व की आधारशिलाएँ किस प्रकार निर्मित की थीं। (*UPSC-2019*, 250 शब्द)

*(**प्रश्न विश्लेषणः** इस प्रश्न में निम्नलिखित 'Key-words' हैं- 'अमेरिकी क्रांति', 'फ्रांस की क्रांति', 'आधुनिक विश्व', 'आधारशिला' 'स्पष्ट कीजिए'। जाहिर है कि प्रश्न 'Hypothetical' है। इस प्रश्न में आपको केवल सहमति के बिंदु दर्शाने होंगे। इसमें अमेरिकी क्रांति तथा फ्रांस की क्रांति को पृथक-पृथक देखने के बजाय*

संयुक्त रूप में देखने की जरूरत है तथा उनमें आधुनिकता के समान बिंदु को खोज कर निकालना है। चूँकि 'विश्व' शब्द का भी प्रयोग हुआ है इसलिए पश्चिमी विश्व से बाहर भी इसके प्रभाव की ओर संकेत करना है।)

उत्तर: अमेरिकी क्रांति एवं फ्रांस की क्रांति ने यूरोप के आधुनिकीकरण की उस प्रक्रिया को लगभग पूरा कर दिया जो पुनर्जागरण एवं प्रबोधन के साथ आरंभ हुई थी। एक दृष्टि से ये क्रांतियाँ प्रबोधन के विचारों का क्रियान्वयन थी। फिर इसके द्वारा लाये गए बदलावों ने न केवल यूरोप पर, अपितु अन्य महाद्वीपों पर भी अपना प्रभाव छोड़ा।

अमेरिकी क्रांति एवं फ्रांस की क्रांति के द्वारा आरंभ किया गया आधुनिकीकरण राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विविध क्षेत्रों में व्यक्त हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में इसकी अभिव्यक्ति जनभागीदारी के आरंभ तथा गणतंत्रवादी एवं प्रजातांत्रिक विचारों के प्रभाव के रूप में देखी गयी। अमेरिकी क्रांति के पश्चात् एक लिखित संविधान के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका गणतंत्र के रूप में स्थापित हो गया। पहली बार 'जनगण' ने मिलकर एक आधुनिक राष्ट्र का गठन किया। फ्रांस की क्रांति उसकी अगली कड़ी थी। क्रांति के पश्चात् फ्रांस एक गणतंत्र के रूप में स्थापित हुआ तथा फिर इसने उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद एवं प्रजातंत्र जैसी आधुनिक विचारधारा को बल प्रदान किया। इसने न केवल फ्रांस में, अपितु यूरोप के अन्य क्षेत्रों में भी सामंतवाद का खात्मा कर दिया।

आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद एक नए आर्थिक मॉडल के रूप में विकसित होकर आया। सामाजिक क्षेत्र में पूँजीवाद के पूरक के रूप में व्यक्तिवाद उभरकर आया। इसने व्यक्ति एवं मानव के मूलभूत अधिकारों की मांग उठाई। फ्रांस की क्रांति के मध्य पुरुष एवं मानव अधिकारों की घोषणा हुई। सबसे बढ़कर अमेरिकी संविधान ने व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को स्वीकृति प्रदान की।

आगे 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में इन विचारों का प्रभाव लैटिन अमेरिका के स्वतंत्रता आन्दोलन पर देखा गया तथा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत, चीन एवं जापान जैसे एशियाई देशों पर भी देखा गया।

इस प्रकार, उपर्युक्त परिवर्तन आधुनिकीकरण की दिशा में एक बड़ा परिवर्तन था।

प्रश्नः- फ्रांस की क्रांति ने, जितनी इससे अपेक्षा की गई थी, बहुत कम पाया। इस कथन के प्रकाश में फ्रांस की क्रांति का मूल्यांकन कीजिए।

***(प्रश्न विश्लेषण** : उत्तर लेखन से पूर्व प्रश्न को ध्यानपूर्वक पढ़ते हुए 'Key words' का चयन कीजिए। इस प्रश्न में 'Keywords' हैं - 'क्रांति', 'जितनी इससे अपेक्षा', 'उतना नहीं पाया', 'कथन के प्रकाश में'। इस प्रश्न में आपका मार्ग स्पष्ट कर दिया गया है। अर्थात् चूंकि 'इस कथन के प्रकाश में' है अतः हमें इस वक्तव्य को सिद्ध करना है।)*

उत्तर: फ्रांस की क्रांति विश्व इतिहास में एक विभाजक रेखा बन कर आई। इसने पुरातन व्यवस्था को सशक्त चुनौती दी। फिर भी क्रांति के द्वारा किए गए वायदों एवं वास्तविक उपलब्धियों के बीच एक खाई बनी रही।

इसने सामंतवाद के अंत की घोषणा की। अतः फ्रांस स्वतंत्र किसानों का देश बन गया। फिर रूसो की जनसंप्रभुता की अवधारणा से प्रेरित होकर व्यक्ति एवं नागरिक अधिकारों की जो घोषणा की गई थी, वह फ्रांस एवं यूरोप को एक नए युग में ले जाने की सूचक थी। उसी तरह, चर्च को राज्य के अधीन लाकर धर्मनिरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहन दिया गया।

किंतु आगे क्रांति अपनी मूल दिशा से पृथक होती चली गई। रूसो की जनसंप्रभुता की अवधारणा की अवहेलना करते हुए फ्रांस ने संविधान में वयस्क सार्वत्रिक मताधिकार को न अपनाकर सीमित मताधिकार को लागू किया। फिर जैकोबियन शासन के अंतर्गत क्रांति उग्र एवं हिंसक हो गई तथा इसने अपने ही बच्चों को निगलना आरंभ कर दिया। सबसे बढ़कर नेपोलियन के अंतर्गत एक बार फिर सम्राट के पद को पुनर्जीवित कर दिया गया।

अतः ऐसा मानना अतिशयोक्ति नहीं है कि फ्रांस की क्रांति से जितनी अपेक्षा की गई थी, उससे बहुत कम पाया।

प्रश्न- फ्रांस की क्रांति ने फ्रांस के साथ-साथ यूरोप को भी परिवर्तित कर दिया। परीक्षण कीजिए।

***प्रश्न विश्लेषण**- यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। कुल मिलाकर इस कथन को सिद्ध करना है। इसके Key Words हैं 'फ्रांस', यूरोप', 'परिवर्तित किया', 'परीक्षण कीजिए'। उचित तर्क एवं उदाहरण से इसे सिद्ध करना है।*

उत्तर- फ्रांस की क्रांति का भौगोलिक प्रसार, तीव्रता तथा व्यापकता बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुई। इसके माध्यम से फ्रांस के साथ-साथ यूरोप का भी मध्ययुग से आधुनिक युग में रूपान्तरण संभव हुआ।

फ्रांस में यह क्रांति पुरातन व्यवस्था की विनाशक बन गयी। इस क्रांति के मध्य राजतंत्र को नष्ट कर गणतंत्र स्थापित हुआ, सामंतवाद का अन्त हुआ तथा पुरुष एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा हुई। इस प्रकार नवीन विचारधारा तथा संस्थागत विकास में फ्रांस, यूरोप से कहीं आगे निकल गया।

इसकी तार्किक परिणति फ्रांस एवं यूरोप के बीच एक युद्ध के रूप में हुई क्योंकि क्रांति की उग्र विचारधारा यूरोप में भी पुरातन व्यवस्था को डराने लगी थी। फिर, यही युद्ध यूरोप में क्रांति का वाहक बन गया। नेपोलियन के अन्तर्गत फ्रांस की

सेना जिन क्षेत्रों में गई वहाँ सामंतवाद का अन्त किया, चर्च को नियंत्रित किया तथा नेपोलियन कोड को लागू कर दिया। अत: फ्रांस की क्रांति यूरोपीय क्रांति में परिवर्तित हो गई। आगे इसका प्रभाव अन्य महाद्वीपों पर भी देखा गया।

इस प्रकार फ्रांस की क्रांति ने फ्रांस तथा यूरोप दोनों को परिवर्त्तित किया।

Food for Thought

- फ्रांस की क्रांति, अमेरिकी क्रांति की तुलना में अधिक रेडिकल क्यों सिद्ध हुई?
- फ्रांस की क्रांति के मध्य निम्नवर्ग का प्रभावी होने का क्या कारण था?
- तमाम प्रयासों के बावजूद भी निम्नवर्ग क्रांति पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में क्यों विफल हुआ?
- फ्रांस की क्रांति ने यूरोपीय क्रांति का रूप क्यों ले लिया तथा इसने यूरोप पर क्या प्रभाव डाला?
- नेपोलियन बोनापार्ट ने क्रांति के अग्रदूत के रूप में काम किया अथवा विनाशक के रूप में?

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

■ प्रमुख मुद्दे:

- इस टॉपिक में फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् राजनीतिक परिदृश्य का ज्ञान प्राप्त होगा। इसका अध्ययन कर हम जान सकेंगे कि किस प्रकार 19वीं सदी का यूरोप फ्रांस की क्रांति की विरासत से संघर्ष करता रहा था। इस टॉपिक में निम्नलिखित शामिल होंगे-

1. पीछे नेपोलियन ने क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में यूरोप में प्रचलित व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था। अत: नेपोलियन की पराजय के पश्चात् फिर एक बार यूरोप में परम्परावादी शक्तियाँ सक्रिय हो गयीं और उन्होंने एक यूरोपीय कांग्रेस (वियना कांग्रेस) के माध्यम से पुरानी व्यवस्था को बहाल करने का प्रयास किया।
2. किन्तु फ्रांस की क्रान्ति से निकली हुई दो विचारधाराएँ- उदारवाद एवं राष्ट्रवाद ने यूरोपीय व्यवस्था को सशक्त चुनौती दी। अत: सम्पूर्ण 19वीं सदी तक यूरोप में पुरानी व्यवस्था तथा नवीन विचारों के बीच संघर्ष चलता रहा तथा इसी क्रम में 19वीं सदी में अनेक यूरोपीय क्रान्तियाँ घटित हुईं, जिनके माध्यम से परिवर्तन होता रहा।
3. 19वीं सदी के यूरोप में उदारवाद की तुलना में राष्ट्रवाद जैसी विचारधारा कहीं अधिक प्रभावी सिद्ध हुई तथा इसके प्रभाव में निम्नलिखित परिवर्तन देखे गये-

- राष्ट्रवाद ने एक मजबूत सीमेंट का काम करते हुये पश्चिमी यूरोपीय देशों को पहले की तुलना में अधिक संगठित कर दिया।
- राष्ट्रवादी विचारधारा ने 19वीं सदी में विभाजित इटालियन और जर्मन क्षेत्रों को आधुनिक राष्ट्र के रूप में संगठित कर दिया।
- परन्तु, उसी राष्ट्रवाद ने ऑटोमन साम्राज्य, रूसी साम्राज्य एवं हैब्सबर्ग साम्राज्य में भिन्न भाषायी तथा नस्लीय समूहों के बीच राष्ट्रवादी आकांक्षा जगाकर विघटन को प्रोत्साहन दे दिया।
- फिर आगे राष्ट्रवाद ने उग्रराष्ट्रवाद का रूप ले लिया। एकीकृत जर्मनी ने यूरोप में शक्ति संतुलन को चुनौती दे डाली और ऑटोमन साम्राज्य के विघटन ने बाल्कन समस्या को जन्म दे दिया। इन सबके परिणामस्वरूप यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध की कगार पर आ गया।

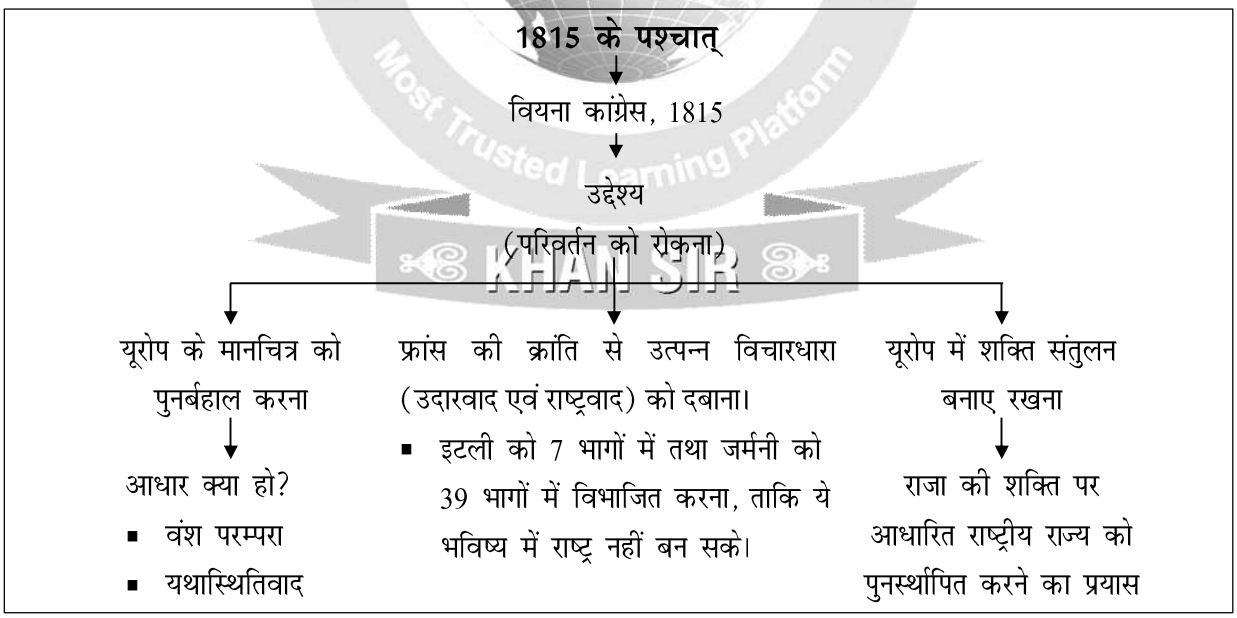

■ वियना कांग्रेस:

- नेपोलियन की पराजय के पश्चात्, विजेता देशों में 4 प्रमुख देश उभरकर आये, ये थे ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, रूस और प्रशा। इनके द्वारा एक यूरोपीय कांग्रेस का आयोजन ऑस्ट्रिया की राजधानी वियना में किया गया। अत: इसे वियना कांग्रेस के नाम से जाना गया। इसमें प्रमुख भूमिका आस्ट्रिया के चांसलर प्रिंस मेटरनिख ने निभायी। वियना कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य था यूरोप में परिवर्तन को रोकना तथा यूरोपीय व्यवस्था को क्रांति पूर्व स्थिति में लाना। इसके लिए वियना कांग्रेस के द्वारा निम्नलिखित कार्यक्रमों को अपनाया गया-

मानचित्र- 1815 का यूरोप

1. **यूरोप के मानचित्र का पुनर्निर्धारण**- नेपोलियन की विजय ने यूरोप की राष्ट्रीय सीमा को बदल दिया था। अत: वियना कांग्रेस का एक उद्देश्य यूरोप के मानचित्र का पुनर्निर्धारण करना था। इसके लिए उसने निम्नलिखित सिद्धान्तों पर बल दिया-
   - **वैध वंश परम्परा पर बल** अर्थात् जिस क्षेत्र में जिस वंश का शासन रहा हो, उस क्षेत्र में उसी वंश के शासन को कायम करना, ताकि परिवर्तन को रोका जा सके।
   - **यथास्थितिवाद अर्थात् परिवर्तन को रोकना**- वियना कांग्रेस का प्रयास जनता की आकांक्षाओं को दबाते हुये पुरानी व्यवस्था अर्थात् राजतंत्र, कुलीन वर्ग और चर्च को पुनर्स्थापित करना था।
2. **फ्रांस की क्रान्ति से उत्पन्न रेडिकल विचारधाराओं- उदारवाद और राष्ट्रवाद को दबाना**- इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इटली एवं जर्मनी को एक सोची-समझी नीति के तहत विभाजित कर दिया गया, जिसे पहले नेपोलियन ने पुनर्गठित कर दिया था-

- जर्मन क्षेत्र को नेपोलियन ने पुनर्संगठित करके 200 छोटे-छोटे राज्यों से 16 राज्यों में बाँटा था, किन्तु वियना कांग्रेस ने उनका पुनर्विभाजन करते हुये उन्हें 39 राज्यों में बाँट दिया। इनमें शक्तिशाली राज्य प्रशा था जो एक यूरोपीय शक्ति भी था तथा फिर उससे पृथक 38 छोटे-छोटे राज्य थे। फिर इनके प्रतिनिधित्व के लिए जर्मनी में फ्रैंकफर्ट नामक स्थान पर एक पार्लियामेंट की स्थापना की गयी। साथ ही, ऑस्ट्रिया को उनके संरक्षक के रूप में स्थापित कर दिया गया, ताकि परिवर्तन को रोका जा सके।

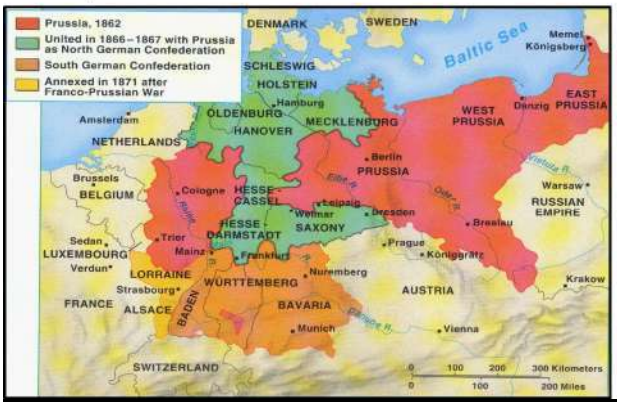

- इटालियन क्षेत्रों को 7 भागों में बाँट दिया गया। पीडमॉण्ट एवं सार्डीनिया को शक्तिशाली राज्य के रूप में स्थापित किया गया। लोम्बार्डी एवं वेनेशिया को पृथक् कर ऑस्ट्रिया के अधीन किया गया तथा परमा, मोडेना एवं टस्कनी को हैब्सबर्ग वंश के अधीन कर दिया गया। वहीं नेपुल्स एवं सिसली में बूर्बो वंश के शासक को स्थापित किया गया तथा मध्यवर्ती क्षेत्र में पोप का राज्य स्थापित किया गया। इस प्रकार, वियना कांग्रेस ने इटली को इस प्रकार विभाजित कर दिया कि मेटरनिख के शब्दों में वह महज 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' बनकर रह गया।

3. **यूरोप में शक्ति संतुलन को पुनर्स्थापित करना**-

मानचित्र- वियना कांग्रेस के पश्चात् यूरोप

जैसा कि हम देखते हैं कि फ्रांस की क्रान्ति ने वेस्टफेलिया व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था। इस व्यवस्था ने राष्ट्र की निश्चित भौगोलिक सीमा पर बल दिया था और 'राजा के

राष्ट्र' की अवधारणा को स्थापित किया था। परन्तु फ्रांस की क्रान्ति की अपील भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर रही थी तथा जनसंप्रभुता की अवधारणा ने राजा के राष्ट्र को जनता के राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया था। अतः वियना कांग्रेस वेस्टफेलिया पद्धति को पुनः बहाल करना चाहती थी, साथ ही वह शक्ति संतुलन को भी पुनर्स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध थी। शक्ति संतुलन को पुनर्स्थापित करने के क्रम में वियना कांग्रेस के द्वारा निम्नलिखित कदम उठाये गये-

- भविष्य में फ्रांस यूरोपीय शक्ति संतुलन के लिए खतरा न बन सके, इसके लिए उसके पड़ोसी देशों को शक्तिशाली बनाने का लक्ष्य रखा गया। इस क्रम में नॉर्वे को स्वीडन से जोड़ दिया गया।
- फ्रांस के उत्तर-पूरब में हॉलैण्ड और बेल्जियम को जोड़कर नीदरलैण्ड का गठन किया गया।
- प्रशा को शक्तिशाली बनाने का दोहरा उद्देश्य था। प्रथम, वह फ्रांस की शक्ति को संतुलित कर सके और दूसरे, वह रूस की शक्ति को भी संतुलित कर सके। इसलिए प्रशा को सैक्सनी क्षेत्र का एक भाग और फ्रांस के पड़ोस में राइनलैण्ड का एक भाग दिया गया।
- इटली में 'हाउस ऑफ सेवॉय' पहले केवल पीडमॉण्ट पर शासन करता था, परन्तु अब उसे सार्डीनिया एवं जेनेवा का भू-भाग दिया गया।

■ **वियना कांग्रेस के द्वारा स्थापित निरंतरता की शक्तिः**

- वियना कांग्रेस का प्रयास था निरन्तरता की शक्ति को मजबूत बनाना। निरन्तरता की शक्ति थी राजतंत्र, कुलीन वर्ग एवं चर्च। जैसा कि हमने पीछे देखा कि फ्रांस की क्रांति एवं यूरोप में फ्रांस के विस्तार के कारण ये संस्थायें काफी क्षतिग्रस्त हो गयी थीं। अतः ऑस्ट्रिया के चांसलर मेटरनिख के नेतृत्व में वियना कांग्रेस पुरानी व्यवस्था को बहाल करने के लिए प्रतिबद्ध थी। इसके लिए मेटरनिख ने एक व्यवस्था कायम की, जिसे **'मेटरनिख पद्धति'** का नाम दिया जाता है। मेटरनिख पद्धति के निम्नलिखित पहलू थे-

1. उसके अनुसार, क्रान्ति आर्थिक-सामाजिक कारणों से घटित नहीं होती, बल्कि गुप्त संगठन के कारण घटित होती है। अतः अगर षड्यंत्रों पर काबू पा लिया जाए, तो क्रान्ति को रोका जा सकता है।
2. क्रान्तिकारी विचारों को दबाने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों को एक संगठन के रूप में बंधकर काम करना चाहिए। इसी क्रम में **'कन्सर्ट ऑफ यूरोप'** का गठन किया गया था। इसमें ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, रूस, प्रशा तथा फ्रांस पाँच देश शामिल थे।
3. उसके अनुसार, विदेश नीति, घरेलू नीति की ही विस्तार होती है। उसका मानना था कि अगर किसी दूसरे देश में क्रांति हो रही हो, तो फिर उस क्रांति को सामूहिक रूप से दबा दिया जाना चाहिये।
4. मेटरनिख पद्धति का बल यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखने पर रहा था। उसके विचार में यही युद्ध का एकमात्र विकल्प है।

■ **वियना व्यवस्था को परिवर्तन की शक्ति के द्वारा चुनौतीः**

- किन्तु दूसरी तरफ परिवर्तन की शक्तियाँ भी सक्रिय हो गयीं और यह वियना व्यवस्था को चुनौती देने लगी। परिवर्तन की शक्तियाँ वैचारिक और भौतिक दोनों थीं-

वैचारिक शक्तिः

- **उदारवाद**- 'उदारवाद' अर्थात् 'Liberalism' एक लैटिन शब्द 'Liber' (लीबर) से निकला है जिसका अर्थ होता है स्वतंत्रता अथवा आजादी। मोटे तौर पर पुरातन व्यवस्था के विरूद्ध मध्यवर्ग के द्वारा जो परिवर्तन की माँगें उठाई गयीं, उसे उदारवाद के रूप में जाना गया। उदारवाद मध्यवर्गीय आकांक्षा को व्यक्त कर रहा था इसका मुख्य बल राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिनिध्यात्मक सरकार, आर्थिक क्षेत्र में मुक्त अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर था।
- **राष्ट्रवाद**- 16वीं-17वीं सदी के यूरोप में सामंतवाद के विघटन के साथ राष्ट्रीय-राज्य की सीमा निर्धारित होने लगी थी। राजतंत्र के द्वारा स्थापित राष्ट्रीय-राज्य आंतरिक रूप से विभाजित था क्योंकि प्रजा को समान स्तर प्राप्त नहीं था। विभाजन का आधार कुलीनता, धर्म, क्षेत्र आदि था। आधुनिक राष्ट्रवाद के युग में ही ऐसा संभव हुआ कि राष्ट्र एवं समाज की दूरी समाप्त कर दी गई। जन्म, धर्म, क्षेत्र जैसे विभाजन को समाप्त कर प्रजा को एक ही दर्जा मिल गया। अब वह प्रजा की जगह नागरिक कहा जाने लगा। इसे निम्नलिखित डायग्राम के माध्यम से समझा जा सकता है-

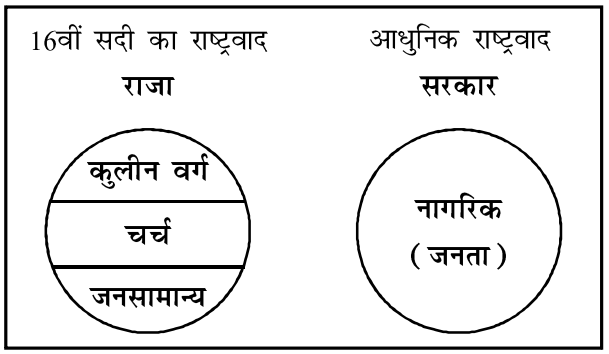

- उदारवाद की तरह राष्ट्रवाद भी मध्य वर्ग की आंकाक्षा (इच्छा) को व्यक्त कर रहा था तथा इटली एवं जर्मनी के विभाजित क्षेत्रों में यह एकीकरण की माँग कर रहा था।

भौतिक-आर्थिक शक्तिः

- **औद्योगिक क्रांति**- अगर आर्थिक ढाँचे में बदलाव आ जाये, तो फिर सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन को नहीं रोका जा सकता। 19वीं सदी में पश्चिमी यूरोप में एक महत्वपूर्ण आर्थिक घटना घटित हुई। वह घटना थी औद्योगिक क्रान्ति। इसने एक तरफ जहाँ मध्यवर्ग को अधिक शक्तिशाली बनाया, वहीं एक औद्योगिक श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। इन दोनों वर्गों की आकांक्षाएँ यूरोपीय व्यवस्था से टकराने लगीं।
- अतः 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप विद्रोह एवं क्रान्ति के दौर से गुजरता रहा, इन्हें निम्नलिखित रूप मे समझा जा सकता है-

■ **1820 के दशक का विद्रोहः**

- यह फ्रांस से आरम्भ हुआ, जब कुछ क्रान्तिकारियों ने फ्रांस के शासक लुई 18वें के उत्तराधिकारी ड्यूक डी बेरी की हत्या कर दी। फिर यह विद्रोह कुछ इटालियन राज्यों में और बेल्जियम तथा स्पेन में फैल गया। इस क्रम में सबसे महत्वपूर्ण विद्रोह था- यूनान का विद्रोह।
- यूनान ईसाई बहुल क्षेत्र था, परन्तु वह ऑटोमन साम्राज्य के अधीन था जो एक मुस्लिम साम्राज्य था। इसलिए यूरोपीय शक्तियों ने वियना व्यवस्था को दरकिनार करते हुये यूनान की स्वतंत्रता का समर्थन कर दिया। अतः ब्रिटेन के समर्थन से 1829 में यूनान को स्वतंत्रता मिल गयी और 1832 में उसे यूरोपीय शक्तियों का भी अनुमोदन मिल गया। यह घटना दो कारणों से महत्वपूर्ण थी- प्रथम, इसके साथ वियना व्यवस्था में टूटन आरम्भ हो गयी थी, दूसरे, कन्सर्ट ऑफ यूरोप भी आन्तरिक रूप में विभाजित हो गया था।
- इस आन्दोलन के मध्य सबसे दिलचस्प घटना है यूरोप एवं अमेरिका के बीच नये सम्बन्धों की शुरूआत। एक तरफ जहाँ स्पेन में आन्दोलन आरम्भ हुआ था, वहीं दूसरी तरफ स्पेन के लैटिन अमेरिका में स्थित उपनिवेशों ने भी एक सैनिक जनरल साइमन बोलिवर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। कहीं इस विद्रोह का प्रभाव यूरोप पर भी न पड़े, इस भय से घबराकर ऑस्ट्रिया एवं रूस ने लैटिन अमेरिकी उपनिवेशों के विद्रोह को दबाने के लिए एक यूरोपीय सेना भेजने की योजना बनायी। परन्तु ब्रिटेन ने इस निर्णय का विरोध किया और फिर उसने यूरोपीय शक्तियों के विरूद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका को भड़काया। अतः अमेरिकी राष्ट्रपति मुनरो ने 1823 में यूरोपीय शक्तियों को यह चेतावनी दे डाली कि लैटिन अमेरिका, संयुक्त राज्य अमेरिका का गलियारा है, अगर कोई बाहरी शक्ति उसमें हस्तक्षेप करती है तो वह संयुक्त राज्य अमेरिका के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप माना जायेगा। इसे विश्व इतिहास में **'मुनरो सिद्धांत'** के नाम से जाना जाता है।

■ **1830 की क्रान्तियाँः**

- यह क्रान्ति भी फ्रांस से आरम्भ हुयी। 1824 में लुई 18वें की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी चार्ल्स दशम् (1824-30) बना। उसने एक बार फिर एक कठोर शासन व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास किया। अतः फ्रांस में विभिन्न राजनीतिक दल; यथा-राजतंत्रवादी, गणतन्त्रवादी और बोनापार्टवादी तीनों ने संगठित होकर क्रांति आरम्भ की। इस कारण चार्ल्स दशम् की सरकार गिर गयी। क्रान्ति के पश्चात् राजतंत्रवादियों के सहयोग से लुई फिलिप के अधीन एक दूसरे राजतंत्र की स्थापना हुई, परन्तु यह राजतंत्र, पुराने राजतंत्र से इस रूप में पृथक था कि यह जनता के द्वारा स्थापित किया गया था और लुई फिलिप ने भी स्वयं को जनता का शासक घोषित किया।
- यह क्रान्ति अन्य देशों में भी फैल गयी, बेल्जियम 1833 में हॉलैण्ड से स्वतंत्र हो गया। नॉर्वे को भी स्वीडन से अलग कर दिया गया। पश्चिमी यूरोप में स्पेन एवं पुर्तगाल में भी आंदोलन हुए तथा वहाँ उदारवादी सरकारें स्थापित हुईं। यद्यपि ब्रिटेन में स्पष्टतः कोई क्रांति नहीं हुई, लेकिन मध्य वर्ग के दबाव में ब्रिटेन ने 1832 का संसदीय सुधार कानून पारित किया। इसके तहत 6 लाख नए मतदाताओं को मताधिकार प्रदान किया गया।
- 1830 की क्रांति अपेक्षाकृत पश्चिमी यूरोप में सफल रही किंतु मध्य यूरोप एवं पूर्वी यूरोप में परिवर्तन को दबा दिया गया। इटली और जर्मनी में भी एकीकरण के पक्ष में आन्दोलन हुआ। इन क्रान्तियों का परिणाम था वियना

KHAN SIR

व्यवस्था के विघटन को प्रोत्साहन क्योंकि एक तरफ जहाँ फ्रांस में वैध राजवंश का पतन हो गया, वहीं दूसरी तरफ बेल्जियम, हॉलैण्ड से स्वतन्त्र हो गया।

■ **1848 की क्रांतियाँ:**

- 1848 की क्रांतियाँ पूर्व क्रांतियों की तुलना में कहीं अधिक व्यापक एवं उग्र रूप में प्रकट हुई थीं। इसके कई कारण थे। प्रथम, मेटरनिख व्यवस्था के विरूद्ध मध्यवर्ग का आक्रोश बढ़ रहा था। दूसरे, औद्योगिक क्रांति ने जहाँ एक तरफ मध्यवर्ग को पहले की तुलना में अधिक शक्तिशाली बनाया, वहीं दूसरी तरफ उसने एक औद्योगिक श्रमिक वर्ग को जन्म दिया।
- इस क्रांति के मध्य नेतृत्व मध्य वर्ग के हाथों में था, जो संसद और बौद्धिक जगत में सक्रिय था, जबकि सड़कों पर घेरेबन्दी का काम निम्न वर्ग के लोग कर रहे थे, विशेषकर कारीगर एवं दस्तकार (शिल्पकार)।
- यह क्रान्ति भी फ्रांस से ही आरम्भ हुई। इसमें भी राजतंत्रवादी, गणतंत्रवादी और बोनापार्टवादी तीनों ने बढ़-चढ़कर भूमिका निभायी। इस कारण 1848 में लुई फिलिप की सरकार गिर गयी। फिर 1848 में जब चुनाव कराये गये, तो फिर उसमें गणतन्त्रवादियों की जीत हुई और फिर फ्रांस को एक गणतन्त्र घोषित कर दिया गया (यह फ्रांस का दूसरा गणतंत्र था, अब तक फ्रांस में 5 गणतंत्र स्थापित हुए हैं)। फिर जब 1848 में नये गणतन्त्र के चुनाव कराये गये उसमें बोनापार्टवादियों की जीत हुई और नेपोलियन का भतीजा लुई नेपोलियन-III प्रेसीडेण्ट के पद पर निर्वाचित हुआ। किन्तु 4 वर्षों के अन्दर ही फ्रांस के दूसरे गणतंत्र को समाप्त कर उसने स्वयं को फ्रांस का सम्राट घोषित कर दिया।
- उधर पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में भी बदलाव महसूस किया गया। स्पेन एवं पुर्तगाल में संवैधानिक माँगें उठीं अर्थात् नये संविधानों को स्थापित किया गया। मध्य यूरोप में ऑस्ट्रिया में भी आन्दोलन तीव्र हो गया। अत: मेटरनिख देश छोड़कर भाग गया और ब्रिटेन में शरण ले ली, परन्तु आगे ऑस्ट्रिया के सम्राट ने रूस की सहायता से इस क्रान्ति को दबा दिया। ब्रिटेन में इस क्रान्ति ने 1848 के चार्टिस्ट आंदोलन का रूप ले लिया।
- उधर इटली और जर्मनी में राष्ट्रीय एकीकरण के पक्ष में आन्दोलन आरम्भ हो गया, परन्तु दोनों ही क्षेत्रों में राष्ट्रवादियों की हार हुई और एकीकरण का प्रयास विफल हो गया। कुल मिलाकर पश्चिमी यूरोप में कुछ हद तक परिवर्तन सफल हुए, परन्तु मध्य यूरोप और पूर्वी यूरोप में यह प्रयास विफल हो गया।

■ **1848 की क्रांति से इटली एवं जर्मनी के राष्ट्रवादियों को सबक-**

- इससे पूर्व इटली और जर्मनी के राष्ट्रवादी वैध तरीके से तथा जनता के सहयोग से एकीकरण का लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे, परन्तु इस विफलता से सबक लेकर वे नेतृत्व के लिए राजतंत्र की ओर मुड़ गए। फिर इटली के राष्ट्रवादी नेतृत्व के लिए पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के शासक की ओर देखने लगे, तो जर्मन राष्ट्रवादी प्रशा के राजतंत्र की ओर। अत: पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के शासक की ओर से उसके प्रधानमंत्री काउन्ट काबूर और प्रशा के शासक की ओर से उसके चांसलर बिस्मार्क ने निर्णायक भूमिका निभायी।

■ **क्रीमिया का युद्ध (1854-56 ई.)**

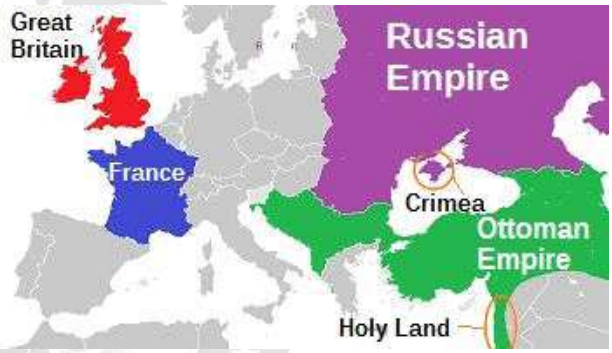

- लुई नेपोलियन-III के अधीन फ्रांसीसी साम्राज्य पुनर्जीवित हुआ था और वह यूरोप में बड़ी भूमिका निभाने के लिए प्रतिबद्ध था। वहीं दूसरी तरफ रूस की विस्तारवादी नीति एवं बाल्कन क्षेत्र में बढ़ती हुयी महत्वाकांक्षा को देखकर ब्रिटेन चिन्तित हो गया था और वह फ्रांस के निकट आ गया था। फिर ब्रिटेन और फ्रांस ने रूस के विरूद्ध ऑटोमन साम्राज्य का समर्थन कर दिया। अत: क्रीमिया का युद्ध घटित हुआ।
- क्रीमिया का युद्ध यूरोप में एक युगान्तकारी घटना बन गयी। इस युद्ध में एक अनुदारवादी शक्ति रूस पराजित होकर यूरोप की सक्रिय राजनीति से हट गया। सबसे बढ़कर दो अनुदारवादी शक्तियों-रूस और ऑस्ट्रिया के बीच मतभेद उभरकर आया। इसका सीधा परिणाम था यूरोप में अनुदारवादी शक्तियों का कमजोर हो जाना। चूंकि अब रूस अलग हट गया था, इसलिए यूरोपीय व्यवस्था की सुरक्षा का दायित्व अकेला ऑस्ट्रिया के सिर आ गया, जो ऑस्ट्रिया नहीं कर सकता था। इटली एवं जर्मनी के एकीकरण को इस सदंर्भ में भी समझने की जरूरत है।
- आगे उपर्युक्त दोनों घटनाओं अर्थात् इटली एवं जर्मनी के राष्ट्रवादियों की परिवर्तित नीति एवं क्रीमिया के युद्ध में एक अनुदारवादी शक्ति रूस की हार ने इटली एवं जर्मनी के एकीकरण को प्रोत्साहन दिया।

■ **19वीं सदी के यूरोप पर आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रभाव:**

राष्ट्रवाद का यूरोप पर प्रभाव

एकीकरण आंदोलन		विघटनकारी आंदोलन
पश्चिमी यूरोप के देश	इटली और जर्मनी के विभाजित क्षेत्र	ऑटोमन, हैब्सबर्ग और रूसी साम्राज्य
इन देशों में कम सांस्कृतिक विविधता थी तथा प्रबोधन और फ्रांस की क्रांति के माध्यम से इन क्षेत्रों का तेजी से आधुनिकीकरण हुआ। अत: ये शीघ्रता से आधुनिक राष्ट्र में ढल गये, यथा-फ्रांस, ब्रिटेन, स्पेन, हॉलैंड, बेल्जियम, पुर्तगाल आदि।	इन क्षेत्रों में राष्ट्रवाद ने एकीकरण के आंदोलन को जन्म दिया तथा यह आधुनिक राष्ट्र के रूप में ढल गए।	ये साम्राज्य अपने स्वरूप में बहु भाषा-भाषी और बहु नस्लीय थे। सबसे बढ़कर ये मध्ययुगीन ही बने रहे थे। इन्होंने अपना आधुनिकीकरण नहीं किया था। इसलिए उन क्षेत्रों में राष्ट्रवाद ने विघटनकारी आंदोलन को प्रोत्साहन दिया और पृथक्-पृथक् नस्लीय समूह के लोग अपने को पृथक् राष्ट्र का समझने लगे।

■ **इटली का एकीकरण-**

- **इटली के एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ**- इटालियन क्षेत्र 7 राज्यों में विभाजित था और जाहिर है कि इन राज्यों में स्वतंत्र शासक थे जो एकीकरण को स्वीकार नहीं करते। फिर, उत्तरी और दक्षिणी इटली आर्थिक रूप में विभाजित था। उत्तरी इटली अपेक्षाकृत अधिक विकसित था, तो दक्षिणी इटली कम विकसित। वहीं एक सोची-समझी नीति के तहत मध्यवर्ती इटालियन क्षेत्र को पोप के अधीन कर दिया गया था, ताकि इटली के दोनों भागों को परस्पर जोड़ा न जा सके। दूसरी तरफ, एकीकरण के स्वरूप के विषय में भी मतभेद था, यथा- एकीकरण पोप के अधीन हो, या पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के अधीन हो या फिर गणतंत्र के अधीन हो। इसके अतिरिक्त, इटली के एकीकरण के मार्ग में एक समस्या यह थी कि इटली में किया जाने वाला कोई भी परिवर्तन ऑस्ट्रिया के अनुमोदन के बिना संभव नहीं था।
- **इटली के एकीकरण में विभिन्न व्यक्तित्वों की भूमिका तथा एकीकरण की प्रगति**-
- इटली के एकीकरण का स्वप्न मेजनी ने बुना था। वह एक समर्पित गणतंत्रवादी था। वह गणतन्त्र के अधीन इटली का एकीकरण लाना चाहता था। परन्तु पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के प्रधानमंत्री काउन्ट काबूर ने सैनिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का सहारा लेकर एकीकरण के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया। उसका प्रयास था कि एकीकरण पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के राजतंत्र के अन्तर्गत हो और गणतन्त्रवादियों को नियन्त्रण में रखा जाये। इस क्रम में सर्वप्रथम उसने पीडमॉण्ट-सार्डीनिया को आर्थिक एवं सैन्य दृष्टि से सक्षम बनाया।
- घरेलू स्तर पर सशक्त बनाने के बाद उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इटालियन एकीकरण के पक्ष में मोड़ना प्रारंभ किया। उसने क्रीमिया के युद्ध (1854-56) में ब्रिटेन और फ्राँस के पक्ष में अपनी सेना भेजकर उनकी सहानुभूति प्राप्त कर ली। फिर उसने फ्रांस के शासक लुई नेपोलियन तृतीय के साथ पोलम्बियर्स की संधि (1858) की, जिसके अनुसार उसने फ्रांस को नीस और सेवॉय देने के एवज में ऑस्ट्रिया के विरूद्ध फ्रांस की सहायता अर्जित कर ली। फिर फ्रांस की सहायता से वह ऑस्ट्रिया से 1859 में लोम्बार्डी का भू-भाग प्राप्त करने में सफल रहा। लोम्बार्डी के विलय के बाद काबूर जनमत संग्रह के माध्यम से परमा, मोडेना और टस्कनी का विलय पीडमॉण्ट-सार्डीनिया के साथ करने में कामयाब रहा।
- उत्तरी इटालियन राज्यों के विलय के बाद काबूर का लक्ष्य पूरा हो गया था। अब काबूर दक्षिण में नेपल्स और सिसली की ओर नहीं बढ़ना चाहता था। किन्तु दूसरी तरफ

गैरीबाल्डी, जो मेजनी का ही शिष्य रहा था, इस अधूरे एकीकरण से संतुष्ट नहीं था। इसलिए 1859 में उसने दक्षिणी इटली अर्थात् नेपल्स और सिसली दोनों राज्यों का जन आन्दोलन के माध्यम से इटली में विलय करा दिया। इसी क्रम में पोप के क्षेत्र पर भी कब्जा कर लिया गया। अब केवल दो क्षेत्र बच गये थे- वेनेशिया और रोम, जिनका विलय जर्मनी के एकीकरण के साथ हुआ। इस प्रकार संयुक्त इटली का निर्माण हुआ।

■ **जर्मनी का एकीकरण-**

- **जर्मनी के एकीकरण में बाधाएँ**- वियना कांग्रेस ने जर्मनी को 39 राज्यों में विभाजित कर दिया था। अत: इन क्षेत्रों के स्वतन्त्र शासकों के रहते हुए व्यावहारिक रूप में एकीकरण सम्भव नहीं था। दूसरी तरफ, जर्मनी में ऑस्ट्रिया तथा प्रशा, दो शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। इनकी प्रतिस्पर्द्धा को देखते हुए कोई बड़ा परिवर्तन सम्भव नहीं था। सबसे बढ़कर, जर्मनी मध्य यूरोपीय क्षेत्र में स्थित था तथा इसके एकीकरण का अर्थ था यूरोप में शक्ति संतुलन का बिगड़ जाना। अत: वेस्टफेलिया की संधि के काल से ही यूरोपीय शक्तियों का यह प्रयास था कि इस क्षेत्र का एकीकरण नहीं हो, विशेषकर फ्रांस इस एकीकरण का विरोधी रहा था।
- **जर्मन क्षेत्रों की एकीकरण की दिशा में प्रगति**-
- 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जर्मन राष्ट्रवाद की प्रगति होने लगी थी, जिसमें जर्मन दार्शनिकों के क्रांतिकारी विचारों ने अहम भूमिका निभायी थी। फिर औद्योगिक क्रांति ने जर्मनी के एकीकरण के लिए भौतिक आधार तैयार किया। वस्तुत: वियना कांग्रेस के द्वारा प्रशा को लोहा एवं कोयला उत्पादक राईनलैंड का भू-भाग दिया गया था, जिसके कारण औद्योगिक क्रान्ति पहले प्रशा में आरम्भ हुई। इसका एक स्वाभाविक परिणाम था रेलवे का विकास, जिसने जर्मन क्षेत्र के बीच भौगोलिक दूरी व्यावहारिक रूप में कम कर दी और राजनीतिक एकता को बल प्रदान किया। फिर जर्मन क्षेत्र की आर्थिक सफलता ने 1834 में एक चुंगी संघ अथवा जॉल्वेरिन के गठन का मार्ग प्रशस्त किया, जिसके परिणामस्वरूप जर्मन राज्यों का प्रशा के साथ आर्थिक एकीकरण हो गया।
- आर्थिक एकीकरण, राजनीतिक एकीकरण की गारण्टी नहीं होता। यद्यपि यह सही है कि जर्मन राज्य जॉल्वेरिन के माध्यम से प्रशा के साथ एकीकृत हो गये थे, जबकि ऑस्ट्रिया उससे बाहर रह गया था। अत: जब प्रशा ने राजनीतिक एकीकरण की दिशा में कदम बढ़ाया, तो ऑस्ट्रिया के विरोध के कारण यह विफल हो गया। यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि ऑस्ट्रिया के विरोध के कारण राजनीतिक एकीकरण की दिशा में प्रगति अत्यधिक कठिन थी। वस्तुत: एकीकरण की दिशा में एक गाँठ पड़ चुकी थी जिसे खोला नहीं जा सकता था, बल्कि तलवार से ही काटा जा सकता था। यहीं बिस्मार्क की भूमिका प्रबल हो जाती है।
- प्रशा के चांसलर बिस्मार्क ने कूटनीति एवं सैनिक उपायों का सहारा लेकर जर्मनी के एकीकरण के लक्ष्य को पूरा किया। 1862 में वह जर्मनी के चांसलर के पद पर नियुक्त हुआ था। आगे उसने प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का लक्ष्य रखा। इस क्रम में बिस्मार्क के द्वारा निम्नलिखित कदम उठाए गए-

1. बिस्मार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अपने पक्ष में कर लिया। इस क्रम में उसने लुई नेपोलियन-III को राईन क्षेत्र में थोड़ा भू-भाग देने का अस्पष्ट आश्वासन देकर उसकी निष्पक्षता प्राप्त कर ली। फिर उसने इटली के साथ भी ऑस्ट्रिया के विरूद्ध एक समझौता कर लिया। वह एक अवसरवादी कूटनीतिज्ञ था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह हमेशा विकल्पों को खुला रखता था और अंतिम क्षण में भी अपना निर्णय बदल लेता था। पूरी तैयारी करने के पश्चात् उसने ऑस्ट्रिया को युद्ध के लिए उकसाया। अत: सेडोवा का युद्ध घटित हुआ।
2. **सेडोवा का युद्ध (1866)**- इस युद्ध में इटली भी प्रशा के साथ रहा था। फिर इस युद्ध में फ्रांस की निष्पक्षता जीतकर प्रशा ने ऑस्ट्रिया को पराजित किया और इसके साथ ही मार्च, 1866 में प्राग की संधि के द्वारा उत्तरी जर्मन राज्यों का विलय प्रशा के साथ हो गया।
3. **सेडान का युद्ध (1870)**- बिस्मार्क इस बात को जानता था कि फ्रांस को रास्ते से हटाये बिना दक्षिणी जर्मन राज्यों का विलय सम्भव नहीं था। अत: उसने फ्रांस के साथ युद्ध की परिस्थितियाँ निर्मित कीं और सेडान के युद्ध में फ्रांस को बुरी तरह पराजित कर दिया। इसके साथ ही दक्षिणी जर्मन राज्यों का विलय प्रशा के साथ हो गया। इस प्रकार 1871 में प्रशा के नेतृत्व में एकीकृत जर्मन राष्ट्र का

उदय हुआ। परन्तु जर्मनी का एकीकरण फ्रांस को अपमानित करके पूरा किया गया था। इतना ही नहीं, फ्रैंकफर्ट की संधि (1870) के आधार पर फ्रांस से एल्सेस और लॉरेन का क्षेत्र भी छीन लिया गया। अत: आगे फ्रांस और जर्मनी के बीच स्थायी शत्रुता का बीज पड़ गया।

■ **राष्ट्रवाद का विघटनकारी प्रभाव-**

- जैसा कि हम जानते हैं कि राष्ट्रवाद ने एक साथ एकीकरण एवं विघटन दोनों प्रकार के आन्दोलनों को जन्म दिया। मध्य यूरोप एवं पूर्वी यूरोप के पुराने साम्राज्यों; यथा- ऑटोमन साम्राज्य, हैब्सबर्ग साम्राज्य एवं रूसी साम्राज्य पर इसने विघटनकारी प्रभाव पैदा किया। वस्तुत: ये तीनों साम्राज्य बहुभाषा-भाषी एवं बहुनस्लीय थे अर्थात् इनका स्वरूप विविधतामूलक था। दूसरी तरफ इन सरकारों के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र का आधुनिकीकरण नहीं किया गया था। वे अपने स्वरूप में मध्ययुगीन ही बने रहे। इसलिए पश्चिमी यूरोप से उभरने वाले आधुनिक राष्ट्रवाद की चुनौती का सामना नहीं कर सके तथा आधुनिक राष्ट्रवाद के प्रभाव में चेक, मग्यार, स्लाव आदि नस्लीय समूह के लोगों ने अपने को पृथक राष्ट्र के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। इसके अलावा, इनकी सरकारों के द्वारा अपनी एकता और अखण्डता को बनाये रखने के लिए राजतंत्र, सेना और नौकरशाही जैसे माध्यमों पर विशेष बल दिया गया, परन्तु ये प्रयत्न कारगर नहीं रहे। इसलिए इन साम्राज्यों पर विघटन के लिए दबाव बढ़ रहा था। परंतु आरम्भ में विघटन का सामना ऑटोमन साम्राज्य को करना पड़ा, हैब्सबर्ग साम्राज्य और रूसी साम्राज्य ने अपने विघटन को आरम्भ में रोक लिया। परन्तु आगे प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोपीय शक्तियों ने हैब्सबर्ग साम्राज्य को विभाजित कर दिया, जबकि रूसी साम्राज्य 20वीं सदी के अंतिम दशक तक चलता रहा। 1991 में आकर ही रूसी साम्राज्य का विघटन हुआ, तब वह 'सोवियत रूस' के नाम से जाना जाता था।

■ **बाल्कन प्रश्न क्या था तथा यह हमेशा अखिल यूरोपीय प्रश्न क्यों बना रहा?**

- ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्वी यूरोप का क्षेत्र, जिसमें ईसाई जनसंख्या निवास करती थी, बाल्कन क्षेत्र कहा जाता था। इस क्षेत्र में विघटनकारी या अलगाववाद को बल मिला। इस कारण तनाव उत्पन्न हुआ, इसे बाल्कन समस्या का नाम दिया गया। इस समस्या के निम्नलिखित पहलू थे-

1. ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्वी यूरोप में निवास करने वाले अल्पसंख्यक समूह राष्ट्रवाद के प्रभाव में पृथक् राष्ट्र की माँग कर रहे थे।
2. ऑटोमन साम्राज्य के परिप्रेक्ष्य में एक कमजोर पक्ष यह था कि यह एक मुस्लिम साम्राज्य था, जबकि पूर्वी यूरोप में इसकी एक बड़ी जनसंख्या ईसाई थी। अत: नस्लीय विभाजन के साथ-साथ वहाँ एक प्रकार का धार्मिक विभाजन भी विद्यमान था।
3. सामान्यत: कन्सर्ट ऑफ यूरोप की नीति अलगाववाद को दबाने की ओर रही थी, परन्तु ऑटोमन साम्राज्य के सन्दर्भ में यूरोपीय शक्तियाँ धार्मिक समानता के कारण अल्पसंख्यक समूह के साथ सहानुभूति दिखाने लगतीं।
4. 19वीं सदी के आरम्भ तक ऑटोमन साम्राज्य का पतन हो गया था और वह यूरोप का मरीज बन गया था। अत: विभिन्न यूरोपीय शक्तियाँ उस पर दबाव डालकर विविध प्रकार की रियायतें प्राप्त करना चाहती थीं।
5. परन्तु दूसरी तरफ स्वयं यूरोपीय शक्तियों का लक्ष्य भी परस्पर टकरा रहा था, जिस कारण उनके बीच तनाव उत्पन्न होता था। उदाहरण के लिए, रूस का ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत एक दूरगामी एवं एक अल्पकालिक हित था। दूरगामी हित था- ऑटोमन साम्राज्य को विभाजित कर उसके एक बड़े भाग पर कब्जा कर लेना; वहीं अल्पकालिक हित था- कालासागर के मुहाने पर डार्डेनल्स एवं बास्फोरस दो जलडमरूमध्यों पर नियन्त्रण स्थापित करना, ताकि रूस का युद्धपोत सीधे तौर पर काला सागर से भूमध्यसागर में आ सके।

परन्तु रूसी गतिविधियों से ब्रिटेन चिन्तित था। एक तरफ ब्रिटेन को यह डर था कि अगर ऑटोमन साम्राज्य

विभाजित हो गया, तो यूरोप में शक्ति संतुलन बिगड़ जाएगा। उसी प्रकार, अगर रूस भूमध्यसागर में आ गया, तो ब्रिटेन का भारत जाने का मार्ग रोका जा सकता है। दूसरी तरफ, रूस के प्रोत्साहन पर सर्बिया में एक सर्व-स्लाववादी आन्दोलन (Pan-Slav Movement) पर बल दिया जा रहा था। इसके तहत बाल्कन क्षेत्र में स्लाव जनसंख्या को मिलाकर एक वृहद् राष्ट्र का निर्माण किया जाना था। यह स्लाव राष्ट्र रूस के इशारे पर काम करता। परन्तु इस स्थिति में ऑटोमन साम्राज्य के साथ-साथ हैब्सबर्ग साम्राज्य को भी विघटन का खतरा था। इस कारण ऑस्ट्रिया और रूस के बीच बहुत अधिक तनाव था।

- बाल्कन समस्या एक अखिल यूरोपीय समस्या इसलिए बन गयी क्योंकि यूरोपीय शक्तियों के हित परस्पर इस प्रकार टकरा रहे थे कि अगर एक शक्ति की गतिविधि बाल्कन क्षेत्र में होती, तो अन्य यूरोपीय शक्तियाँ भी चिन्तित हो जातीं। इस कारण बालकन समस्या ने दो विश्व युद्धों को जन्म दिया।

■ **ऑटोमन साम्राज्य का विघटन तथा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना-**

- सम्पूर्ण 19वीं सदी से लेकर लगभग प्रथम विश्वयुद्ध तक ऑटोमन साम्राज्य निरन्तर विघटित होता रहा तथा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना होती रही। उदाहरण के लिए-

1. 1832 तक **यूनान** की स्वतन्त्रता।
2. रूम जनसंख्या के अन्तर्गत 1859 में माल्डेविया और वेलेशिया को मिलाकर स्वतन्त्र **रूमानिया** का निर्माण।
3. 1878 में बर्लिन कांग्रेस के द्वारा **सर्बिया और मॉण्टेनिग्रो** की स्वतंत्रता की स्वीकृति।
4. 1885 में बल्गान जनसंख्या की पहल पर स्वतंत्र **बुल्गारिया** का निर्माण।
5. युवा तुर्क आन्दोलन की प्रतिक्रिया में 1912-13 में बाल्कन युद्ध घटित और फिर इस युद्ध के पश्चात् 1913 के लंदन सम्मेलन में स्वतंत्र **अल्बानिया** का निर्माण।

- निरन्तर विघटन से तंग आकर ऑटोमन साम्राज्य प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के खेमे में चला गया तथा फिर वह युद्ध हार गया। फिर मित्र राष्ट्रों ने ऑटोमन साम्राज्य का खात्मा करने की योजना बनायी। तभी एक सैनिक जनरल मुस्तफा कमाल पाशा का उद्भव हुआ। मुस्तफा कमाल ने मित्र राष्ट्रों पर सैन्य दबाव बनाकर ऑटोमन साम्राज्य के विघटन को रोक दिया और फिर उसने ऑटोमन साम्राज्य के बचे हुए भाग का आधुनिकीकरण करके उसे आधुनिक तुर्की राष्ट्र घोषित कर दिया।

प्रश्न- 19वीं सदी में राष्ट्रवाद ने यूरोप में एकीकरण एवं विभाजन दोनों प्रकार के आन्दोलनों को प्रोत्साहन दिया। स्पष्ट कीजिए। (150 शब्द)

प्रश्न-विश्लेषण- *यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। इसके Key words हैं 'एकीकरण', 'विभाजन', 'यूरोप', 'स्पष्ट कीजिए'। इस कथन को केवल सिद्ध करना है।*

राष्ट्रवाद का यूरोप पर प्रभाव

पश्चिमी यूरोप	इटली और जर्मनी	ऑटोमन, हैब्सबर्ग और रूसी साम्राज्य
↓	↓	↓
आंतरिक रूप से संगठित किया	विभाजित क्षेत्रों को एकीकृत किया	भाषायी एवं नस्लीय आधार पर विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहन

उत्तर- 19वीं सदी के यूरोप में राष्ट्रवाद एक क्रांतिकारी विचारधारा सिद्ध हुआ। शायद ही किसी दूसरी विचारधारा ने यूरोप पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ा, जितना राष्ट्रवाद ने। इसने एक ही साथ एकीकरण एवं विभाजन दोनों प्रकार के आन्दोलनों को बल प्रदान किया।

एक तरफ पश्चिमी यूरोप के देश, अर्थात् फ्रांस, ब्रिटेन, स्पेन आदि थे, जो पहले से ही राष्ट्रीय-राज्य के रूप में ढल चुके थे। अत: आधुनिक राष्ट्रवाद के प्रभाव में 19वीं सदी में वे आन्तरिक रूप से अधिक संगठित हुए।

वहीं इटली एवं जर्मनी जैसे विभाजित क्षेत्रों पर आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधारा ने क्रांतिकारी प्रभाव छोड़ा तथा वियना कॉन्ग्रेस एवं मेटरनिख व्यवस्था के तमाम प्रयासों के बावजूद 1870 तक वे आधुनिक राष्ट्र के रूप में संगठित हो गए।

किन्तु दूसरी तरफ पुराने साम्राज्यों पर, जो अपने स्वरूप में बहु भाषा-भाषी एवं बहुनस्लीय थे, राष्ट्रवाद का विघटनकारी प्रभाव देखा गया। यद्यपि 19वीं सदी में रूसी साम्राज्य एवं हैब्सबर्ग साम्राज्य अपने को बचाने में कामयाब रहे, परन्तु ऑटोमन साम्राज्य विघटन का शिकार हो गया। इस प्रकार, राष्ट्रवाद का यूरोप पर विभेदकारी प्रभाव देखा गया।

प्रश्नः- फ्रांस की क्रांति ने, जितना उससे अपेक्षा की गई थी, उससे बहुत कम पाया। क्या आप सहमत हैं? (150 शब्द)

*(**प्रश्न विश्लेषणः** इस प्रश्न में आप 'Key words' पर ध्यान दें। इसमें एक महत्वपूर्ण Key word 'क्या आप सहमत हैं?' इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आपको असहमति के बिंदु दर्शाने हैं।)*

उत्तरः- फ्रांस की क्रांति 'स्वतंत्रता', 'समानता' तथा 'बंधुत्व' जैसे नारे के साथ प्रकट हुई, किन्तु क्रियान्वयन के मध्य इन लक्ष्यों की अवहेलना हुई थी। 1791 के संविधान में सीमित मताधिकार की पद्धति लागू की गई थी। जैकोबियन शासन भी व्यवहार में एक व्यक्ति का शासन बनकर रह गया। अंत में, नेपोलियन ने फिर एक बार राजतंत्र को पुनर्जीवित कर दिया। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि क्रांति अपने आदर्शों से दूर हट गई थी।

इस आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि क्रांति ने अपने घोषित लक्ष्य से कम पाया, परंतु फिर भी इसके महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं-

1. वियना कांग्रेस, फ्रांस तथा यूरोप को क्रांति-पूर्व स्थिति में नहीं लौटा सकी।
2. 1830 तथा 1848 की क्रांतियों के माध्यम से फ्रांस एवं यूरोप में बदलाव होते रहे।
3. इटली एवं जर्मनी आधुनिक राष्ट्र के रूप में संगठित हो गए।

अतः अगर देखा जाए तो 19वीं सदी का यूरोप फ्रांस की क्रांति की विरासत के साथ संघर्ष करता रहा था। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि फ्रांस की क्रांति ने बहुत कम पाया।

प्रश्नः 19वीं सदी का यूरोप फ्रांस की क्रांति की विरासत से ही संघर्ष करता रहा। परीक्षण कीजिए। (250 शब्द)

उत्तरः एक बहुप्रचलित कहावत है कि जीवित सीजर से मृतक सीजर अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। यही बात फ्रांस की क्रांति पर भी लागू होती है। वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन बोनापोर्ट का तो सफाया हो गया, परंतु नेपोलियन एवं फ्रांस की क्रांति की विरासत संपूर्ण 19वीं सदी के यूरोप में उथल-पुथल लाती रही। वियना कांग्रेस तथा मेटरनिख ने परिवर्तन की धारा को विपरीत दिशा में मोड़ना चाहा था परन्तु वह विफल हो गई तथा यूरोप निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता रहा। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

1. **1830 तथा 1848 की क्रांतियाँ**- वियना कांग्रेस के लिए बड़ा खतरा 1830 एवं 1848 की यूरोपीय क्रांतियाँ थीं। ये फ्रांस की क्रांति के विचारों से प्रेरित थीं। उदारवाद एवं राष्ट्रवाद जैसी विचारधारा संपूर्ण यूरोप को आंदोलित करती रही। 1830 एवं 1848 की क्रांतियों के मध्य ऑस्ट्रिया, ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन जैसे एकीकृत देशों में उदारवादी माँगें उठ रही थीं। वहीं इटली एवं जर्मनी जैसे विभाजित देशों में राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में आंदोलन चल रहे थे।
2. **यूरोप के महत्वाकांक्षी राजतंत्रों के द्वारा राष्ट्रवाद की शक्ति से लाभ उठाना**- आगे इटली में पीडमॉण्ट-सार्डीनिया तथा जर्मनी में प्रशा के राजतंत्र ने राष्ट्रवाद का उपयोग अपने पक्ष में किया। इटली में काबूर एवं जर्मनी में बिस्मार्क के उद्भव को इस संदर्भ में देखने की जरूरत है। इनके द्वारा कूटनीतिक एवं सैन्य तकनीकी का उपयोग कर क्रमशः इटली एवं जर्मनी का एकीकरण किया गया। इन विभाजित क्षेत्रों के एकीकरण का अर्थ था वियना व्यवस्था का ध्वंश।
3. **अल्पसंख्यक समूहों में राष्ट्रवादी चेतना का उद्भव एवं पुराने साम्राज्यों का विघटन**- फ्रांस की क्रांति के विचारों ने केवल एकीकरण को ही नहीं, बल्कि विघटन को भी प्रोत्साहन दिया। फ्रांस की क्रांति का भूत ऑटोमन साम्राज्य, हैब्सबर्ग साम्राज्य तथा रूसी साम्राज्य को डराने लगा था। राष्ट्रवाद के प्रभाव में अलग-अलग नस्ल के समूह पृथक-पृथक राष्ट्र की माँग कर रहे थे। इसका सबसे भयानक प्रभाव तात्कालिक रूप में ऑटोमन साम्राज्य पर पड़ा, जहाँ अल्पसंख्यक समस्या ने बाल्कन समस्या का रूप ले लिया। अंततः यह प्रथम विश्व युद्ध का कारण बनी।

इस प्रकार संपूर्ण 19वीं सदी तक यूरोप में मौन क्रांति चलती रही।

Food for Thought

- वियना कांग्रेस ने यूरोपीय व्यवस्था की स्थापना के लिए कौन-से कदम उठाए?
- वियना व्यवस्था को किन कारकों ने ध्वस्त कर दिया?
- राष्ट्रवाद का 19वीं सदी के यूरोप पर क्या प्रभाव पड़ा?
- 19वीं सदी के यूरोप में परिवर्तनों का विरोध कौन कर रहे थे और क्यों?
- ऑटोमन साम्राज्य के भीतर राष्ट्रवाद ने किस प्रकार संकट की स्थिति पैदा की?

■■■

खंड-3

प्रमुख मुद्दे:

- ब्रिटेन में औद्योगीकरण का उद्भव तथा विस्तार।
- औद्योगीकरण का बदलता हुआ मॉडल तथा अन्य क्षेत्रों में उसका विस्तार।
- समाजवाद तथा मार्क्सवाद एवं यूरोप पर उसका प्रभाव।
- साम्राज्यवाद एवं नया साम्राज्यवाद- एशिया में यूरोपीय शक्तियों का प्रसार तथा अफ्रीका का विभाजन, एशिया-प्रशांत क्षेत्र में अमेरिकी नव साम्राज्यवाद।
- प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि एवं प्रभाव।

जानिये:

- ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति किस प्रकार एक अप्रत्याशित घटना के रूप में प्रकट हुई? फिर अलग-अलग क्षेत्रों ने परिस्थितियों के अनुकूल औद्योगीकरण के पृथक् मॉडल का विकास किया, कैसे?
- 19वीं सदी के यूरोप में औद्योगीकरण ने किस प्रकार परिवर्तन के एक प्रमुख कारक के रूप में कार्य किया?
- औद्योगीकरण ने एक तरफ मध्य वर्ग की स्थिति को मज़बूत बनाया तो दूसरी तरफ उसने एक औद्योगिक श्रमिक वर्ग को जन्म दिया। इसलिये एक तरफ जहाँ मध्यवर्गीय विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद की प्रगति हुई, वहीं दूसरी तरफ निम्नवर्गीय विचारधारा के रूप में समाजवाद एवं मार्क्सवाद का प्रसार आरंभ हुआ।
- औद्योगिक क्रांति का एक स्वाभाविक परिणाम था- नए साम्राज्यवाद का उद्भव एवं प्रसार। इसने एक भूमंडलीकृत पद्धति को जन्म दिया।
- साम्राज्यवाद, समाजवाद एवं राष्ट्रवाद के बीच तालमेल और टकराहट का परिणाम था- प्रथम विश्वयुद्ध।

-मणिकांत सिंह

■ **औद्योगिक क्रांति से क्या तात्पर्य है?**

- औद्योगिक क्रांति उत्पादन की पद्धति में एक मूलभूत परिवर्तन को रेखांकित करती है। इसने मानव पर मशीन की सर्वोच्चता स्थापित कर दी। इसके साथ घरेलू उद्योगों का स्थान फैक्ट्री प्रणाली ने लिया तथा ब्रिटिश आर्थिक जीवन का आधार कृषि के बदले उद्योग हो गया। मोटे तौर पर, ब्रिटेन में 1760 से 1820 के बीच ब्रिटेन में होने वाले आर्थिक और सामाजिक रूपान्तरण को 'औद्योगिक क्रान्ति' का नाम दिया गया था।
- वस्तुत: 18वीं सदी के अन्त तक ब्रिटेन एवं पश्चिमी यूरोप में जो आर्थिक-सामाजिक रूपान्तरण हुए थे, उसकी जड़ पिछली तीन-चार शताब्दियों में यूरोप में होने वाले परिवर्तनों में थी, जिसे निम्नलिखित डायग्राम से समझा जा सकता है-

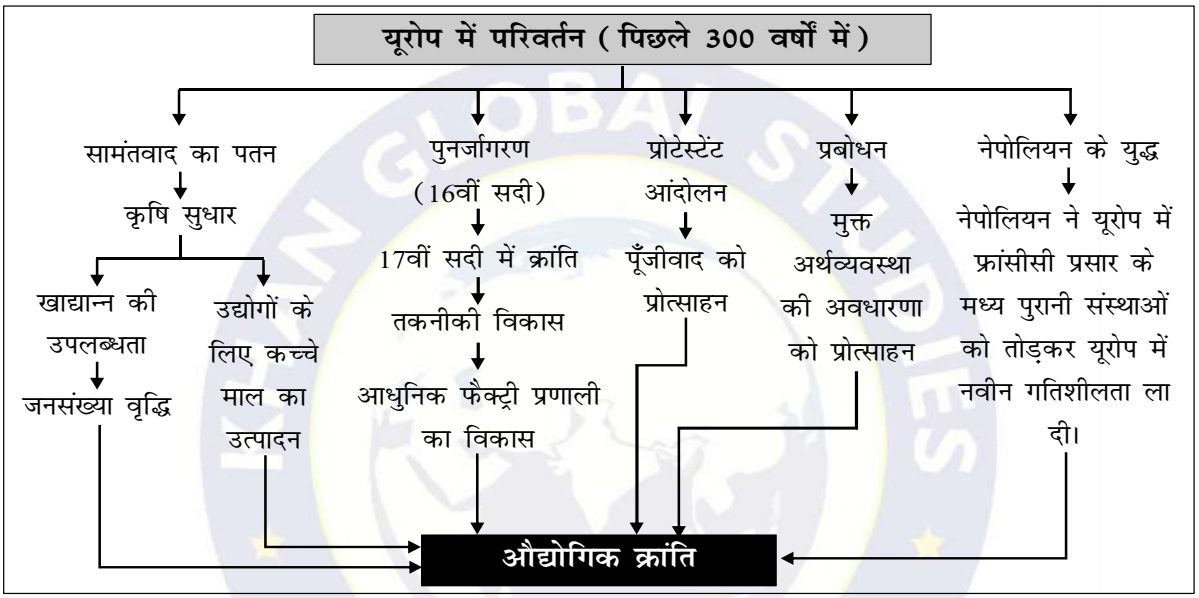

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का उद्भव

■ **औद्योगिक क्रान्ति ब्रिटेन में ही क्यों घटित हुई?**

- जैसा कि हम जानते हैं कि व्यापारिक क्रान्ति के क्षेत्र में ब्रिटेन के कई प्रतिद्वंद्वी रहे थे, यथा- स्पेन, फ्रांस, हॉलैंड आदि। तो फिर अन्य देशों को पीछे छोड़ते हुए ब्रिटेन औद्योगीकरण की दिशा में कैसे आगे निकल गया? वस्तुत: उन देशों में व्यावसायिक पूंजी का औद्योगिक पूंजी में रूपांतरण नहीं हो सका, जबकि ब्रिटेन में ऐसा हुआ। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. **आंतरिक बाजार के विकास ने वस्तुओं की माँग बढ़ायी-**
   - कृषि सुधार के परिणामस्वरूप कच्चे माल के साथ खाद्यान्न की उपलब्धता बढ़ी तथा जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहन मिला।
   - 17वीं सदी में इंग्लैण्ड, वेल्स एवं स्कॉटलैण्ड का एकीकरण हुआ, इससे राजनीतिक एकता को बल मिला। जगह-जगह चुंगी लेने की बजाय चुंगी व्यवस्था का मानकीकरण कर दिया गया था, इसलिये वाणिज्य-व्यापार को प्रोत्साहन मिला।
   - इस काल में बैंकिंग व्यवस्था एवं मुद्रा सुधार को बल मिला। इससे शाख व्यवस्था बेहतर हुई। फिर चूँकि लोगों की प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई, इसलिये बाज़ार का भी विस्तार हुआ।
   - यातायात एवं संचार व्यवस्था का बेहतर विकास हुआ यथा- पक्की सड़क, नहर एवं आगे रेलवे का निर्माण। पक्की सड़क एवं नहरों के निर्माण ने यातायात व्यवस्था को सुदृढ़ किया। नहरों के माध्यम से खनन उत्पाद के रूप में कोयले को फैक्ट्री स्थल तक पहुँचाना आसान हो गया।

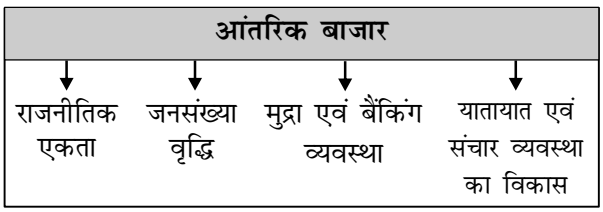

2. **बाह्य बाजार का विकास-**
   - ब्रिटेन को भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कैरेबियाई देशों से पूँजी एवं कच्चे माल की प्राप्ति हो रही थी। ब्रिटेन

में सूती वस्त्र उद्योग के विकास का दिलचस्प पहलू यह है कि वह कच्चे माल एवं बाज़ार, दोनों ही दृष्टियों से विदेशी कारकों पर निर्भर था, अर्थात् भारत से बड़ी मात्रा में कपास प्राप्त हो जाता, फिर भारत वस्त्र बाज़ार की भूमिका निभाता। जहाँ तक पूँजी की बात है तो बताया जाता है कि औद्योगिक क्रांति में ब्रिटेन की लगभग 5% राष्ट्रीय आय का निवेश हुआ, इसमें लगभग 2% केवल भारत से आता था।

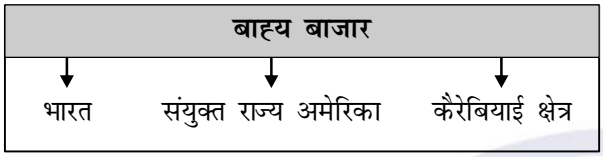

3. तकनीकी विकास-

- व्यावसायिक वस्तुओं की माँग ने उत्पादन को प्रोत्साहन दिया, तो उत्पादन ने तकनीकी विकास को बल प्रदान किया। इसी क्रम में सूती वस्त्र उद्योग और लौह उद्योग के विकास के लिए तकनीकी का विकास हुआ। सूती वस्त्र उद्योग की जरूरत के अनुकूल कताई और बुनाई को प्रोत्साहन मिला, यथा- हरग्रीव्ज की स्पीनिंग जेनी, आर्कराईट का वाटर फ्रेम तथा क्रॉम्पटन का म्यूल, जॉन के का फ्लाईंग शटल और एडमण्ड कार्टराइट का पावर लूम। वहीं लौह तकनीकी के क्षेत्र में डर्बी परिवार के द्वारा कोक के माध्यम से लोहे को गलाने की विधि का विकास हुआ। तकनीकी विकास ही अपने आप में पर्याप्त नहीं होता, सबसे महत्वपूर्ण तत्व है- उसकी सामाजिक स्वीकृति। ब्रिटेन में नवीन तकनीकी को सामाजिक स्वीकृति मिली।

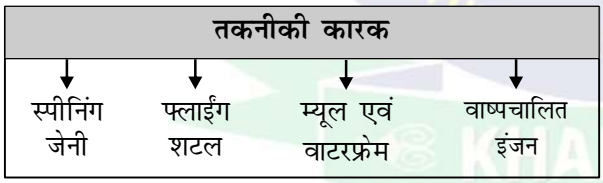

4. सामाजिक परिवर्तन- एक मध्यवर्ग का उद्भव तथा उसके द्वारा बचत एवं निवेश में रुचि ने भी औद्योगिक क्रांति को अपने ढंग से प्रोत्साहन दिया।

■ **औद्योगिक क्रान्ति का ब्रिटेन के समाज पर प्रभाव:-**

- कहा जाता है कि औद्योगिक क्रान्ति ने एक तरफ उत्पादन की समस्या का तो हल किया, परन्तु वितरण की समस्या को जन्म दे दिया अर्थात् इसके परिणामस्वरूप सामाजिक विभाजन और भी बढ़ गया। नये शहर स्थापित होने लगे और गाँव उजड़ने लगे। फिर गांव से विस्थापित होने वाले किसान श्रमिक के रूप में ढल रहे थे। परन्तु शहरों में मूलभूत संरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर) के अभाव में उन्हें बहुत ही अस्वास्थ्यकर स्थिति में काम करना होता। उनके तनख्वाह भी अत्यधिक कम थे। इन कारणों से औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिकों की जीवन प्रत्याशा 21 से 17 वर्ष तक हो गयी थी।
- अन्त में, मजदूरों की कष्टप्रद स्थिति की ओर कुछ मानवतावादी चिन्तकों का ध्यान गया। इन्हीं में एक मानवतावादी चिंतक थे उद्योगपति रॉबर्ट ओवन। इन्होंने सरकार का ध्यान श्रमिकों की स्थिति की ओर आकर्षित किया। अत: सरकार के द्वारा 1819 एवं 1833 में श्रमिकों की सुरक्षा के लिए कानून बनाये गये, इतना तक कि 1842 में खनन उद्योग में भी उनकी सुरक्षा के लिए कानून बने।

■ **औद्योगिक क्रान्ति का ब्रिटेन की संस्कृति पर प्रभाव:-**

- औद्योगिक क्रान्ति ने ब्रिटिश सांस्कृतिक जीवन में भी व्यापक बदलाव ला दिया। सांस्कृतिक दृष्टिकोण में दो प्रकार के परिवर्तन देखे गये-

1. लोगों में उपभोक्तावाद की ओर आकर्षण बढ़ रहा था। जिसके कारण मानव करूणा का ह्रास देखा गया अर्थात्, अपने ही समूह के अन्य व्यक्तियों के प्रति संवेदनशीलता कम हो गयी।
2. दूसरी तरफ, बढ़ते हुए शहरीकरण, उजड़ते हुए गाँव, क्षतिग्रस्त हो रही प्रकृति तथा बढ़ती हुई संवेदनहीनता के विरूद्ध स्वाभाविक रूप में प्रतिक्रिया भी हो रही थी और बुद्धिजीवियों का एक वर्ग औद्योगिक क्रान्ति की पूर्व स्थिति की ओर आकर्षण दिखा रहा था। उदाहरण के लिए, सर्वप्रथम इस स्थिति के विरूद्ध प्रतिक्रिया वड्र्सवर्थ, पी. बी. शेली और जॉन किट्स जैसे रोमान्टिक लेखकों ने दिखायी। 19वीं सदी के एक अंग्रेजी उपयान्सकार चार्ल्स डिकेन्स ने अपने उपन्यास 'हार्ड टाईम्स' में ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप लंदन पर पड़ने वाले प्रभाव को दर्शाया है।

प्रश्न:- क्या कारण था कि औद्योगिक क्रांति सर्वप्रथम इंग्लैंड में घटी थी? औद्योगीकरण के दौरान वहाँ के लोगों की जीवन गुणता (quality of life) पर चर्चा कीजिए। भारत में वर्तमान में जीवन-गुणता से वह किस प्रकार तुलनीय है? (UPSC- 2015)

*(**प्रश्न का अर्थ-अन्वेषण:-** इंग्लैंड एवं औद्योगिक क्रांति विश्व इतिहास का एक बहुचर्चित मुद्दा है। ब्रिटेन में लोगों की जीवन-पद्धति पर इसका प्रभाव पड़ा यह भी एक सामान्य मुद्दा है। परंतु यकीनन प्रश्न-चयनकर्त्ता (Question setter) ने वर्तमान भारत के जीवन-स्तर से ब्रिटिश*

जीवन-स्तर की तुलना कर इस प्रश्न को मौलिक एवं जटिल बनाने का प्रयास किया है। इसलिए इस प्रश्न के उत्तरार्द्ध पर विचार करना अभ्यर्थियों के लिए चुनौतीपूर्ण है।)

मॉडल उत्तर:- व्यावसायिक क्रांति में कई देशों ने भागीदारी निभायी थी, परंतु औद्योगीकरण का प्रथम प्रयोग ब्रिटेन में ही हुआ। निम्नलिखित कारकों ने ब्रिटेन में औद्योगीकरण के लिए माहौल निर्मित किया-

17वीं सदी से ही ब्रिटेन आर्थिक-सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजर रहा था। कृषि क्रांति ने खाद्यान्न एवं कच्चे माल की जरूरत को पूरा किया। जमींदार एवं भूस्वामियों ने अपनी भूमि पर बाड़ेबंदी कर पूँजीवादी खेती की शुरूआत की। दूसरी तरफ, व्यावसायिक क्रांति के परिणामस्वरूप एक मध्य वर्ग उभरकर आया तथा इस वर्ग ने बचत एवं निवेश में रूचि ली। फिर वही समय था जब यातायात के सुगम साधन के रूप में नहर तथा पक्की सड़कों का विकास हुआ। साथ ही, इस काल में मुद्रा तथा बैंकिंग को प्रोत्साहन मिला। इन कारणों से ब्रिटेन का आंतरिक बाजार विकसित हुआ। फिर ब्रिटेन का बाह्य बाजार भी काफी व्यापक था। उसके उपनिवेश अमेरिका, वेस्टइंडीज तथा एशिया में स्थापित थे, जहाँ से उसे कच्चे माल के साथ-साथ पूँजी प्राप्त हो रही थी। अंत में, तकनीकी क्रांति ने औद्योगिक क्रांति के उद्‌भव में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। तकनीकी क्रांति के बिना आधुनिक फैक्ट्री प्रणाली का विकास संभव नहीं था। स्पीनिंग जेनी, वाटर फ्रेम, पावर लूम आदि के विकास ने सूती वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन दिया। फिर स्टीम इंजन के विकास ने आधुनिक फैक्ट्री प्रणाली की नींव रख दी।

औद्योगिक क्रांति की आरम्भिक अवस्था में ब्रिटेन में लोगों को अत्यधिक पीड़ा झेलनी पड़ी। जमींदारों के द्वारा बाड़ेबंदी किए जाने के कारण छोटे किसान भूमि से वंचित हो गए तथा शहर की ओर पलायन कर गए। वहाँ उन्हें बहुत कम वेतन तथा भत्ते पर एवं बड़ी ही अस्वास्थ्यकर स्थिति में कार्य करना पड़ता। परंतु क्रमिक रूप में उनकी स्थिति में सुधार हुआ। सरकार ने भी उनकी सुरक्षा के लिए 1819 तथा 1833 में श्रम कानून बनाए तथा बढ़ते हुए औद्योगीकरण के साथ उनके जीवन स्तर में सुधार हुआ।

भारत की स्थिति ब्रिटेन से बिल्कुल अलग है। सही मायने में भारत औद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजर ही नहीं सका। इसलिए वर्तमान में भी पचास प्रतिशत से अधिक जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, जबकि संपूर्ण जीडीपी में कृषि का अशंदान लगभग 15 प्रतिशत ही है। अगर विनिर्माण क्षेत्र का विकास होता, तो कृषि पर जनसंख्या का अधिभार कम किया जा सकता था। परंतु ऐसा नहीं हो सका है। हम सेवा क्षेत्र में अवश्य आगे बढ़े हैं, परंतु वह क्षेत्र उच्च प्रोफेशनल को ही स्तरीय रोजगार दे सका है। दूसरी तरफ, पर्यावरण एवं आर्थिक उदारीकरण की दोहरी मार से किसान परेशान हैं। अभी भी लगभग एक चौथाई जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे है। इसलिए लोगों के जीवन-गुणता में अपेक्षित सुधार नहीं हो सका है।

■ **अन्य क्षेत्रों में औद्योगिक क्रांति का विस्तार-**

- औद्योगीकरण का प्रथम प्रयोग ब्रिटेन में हुआ तथा ब्रिटेन से इसका विस्तार अन्य क्षेत्रों में हुआ। ब्रिटिश औद्योगीकरण अनियोजित रहा था अर्थात् इसके लिए कोई योजना नहीं बनी थी। परंतु ब्रिटेन के पश्चात् चाहे जिस देश में भी औद्योगीकरण घटित हुआ, वहाँ यह सुनियोजित था। फिर, एक क्षेत्र में होने वाला औद्योगीकरण स्वाभाविक रूप में दूसरे क्षेत्र में विऔद्योगीकरण (उद्योगों के पतन) को प्रोत्साहन देता है। इसलिये जब एक क्षेत्र में औद्योगीकरण आरंभ हो जाता है, तो दूसरे क्षेत्र के लिए अपने उद्योगों को बचाना कठिन हो जाता है। अत: जिन देशों ने परंपरागत पद्धति से उत्पादन करना जारी रखा, वहाँ विऔद्योगीकरण का खतरा उत्पन्न हुआ। उदाहरण के लिए, भारत एवं चीन। दूसरी तरफ, अपने आप को बचाने के लिए जो भी देश औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़े, उन्हें ब्रिटिश मॉडल से पृथक कोई ऐसा मॉडल अपनाना था, ताकि ब्रिटिश उत्पादों से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए भी वे औद्योगीकरण की दिशा में प्रगति कर सकें। इस संदर्भ में हम औद्योगीकरण के अमेरिकी मॉडल, जर्मन मॉडल, रूसी मॉडल तथा जापानी मॉडल को समझ सकते हैं।

औद्योगीकरण का अमेरिकी मॉडल

- जैसा कि हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़ा, परंतु इस दिशा में प्रगति करने से पूर्व उसके समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी अपनी व्यापारिक संरचना के स्वरूप में परिवर्तन लाना। स्वतंत्रता से पूर्व वह ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादों का आयातक और कृषि उत्पादों का निर्यातक रहा था क्योंकि ब्रिटिश के द्वारा उस पर वाणिज्यवादी नीति थोपी गई थी। इसके अलावा, संयुक्त राज्य अमेरिका में उचित इन्फ्रास्ट्रक्चर का अभाव था, यथा- यातायात और संचार व्यवस्था, एक संगठित बैंक एवं मुद्रा प्रणाली आदि। अत: संयुक्त राज्य अमेरिका ने औद्योगीकरण का एक पृथक् मॉडल विकसित किया, इसका बल निम्नलिखित कारकों पर रहा था-

1. **नये संविधान पर आधारित एक शक्तिशाली संघीय सरकार:**- 1790 ई. में एक शक्तिशाली संघीय सरकार की स्थापना हुई, जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक एकीकृत बाजार के रूप में विकसित करने में अहम भूमिका निभाई।

2. **अमेरिकी उद्योगों को संरक्षण:-** यूरोपीय उत्पादों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने एक प्रकार की चुंगी व्यवस्था कायम की, जो अमेरिकी औद्योगीकरण की मानक मॉडल बन गयी। संयुक्त राज्य अमेरिका की इस संरक्षणवाद की नीति ने उसे विश्व की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बना दिया। एक अमेरिकी अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ हैमिल्टन ने संरक्षणवादी नीति पर विशेष बल दिया था।

3. **आधुनिक यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास:-** इसने आंतरिक बाजार को जोड़ने में अहम भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए, संघीय सरकार ने कुछ प्रमुख सड़कें एवं नहरें निर्मित करवायीं जिनमें एक थी कम्बरलैंड रोड। इसके अतिरिक्त हाईवे और सुपर-हाईवे, रेलवे तथा आगे एयरपोर्ट भी बनाने के लिए कदम उठाए गए।

4. **प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन:-** अमेरिकी मॉडल की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण था अमेरिकी सरकार के द्वारा प्राथमिक शिक्षा को व्यापकता में लागू करना। उदाहरण के लिए, 1830 में प्राथमिक स्कूल मॉडल को लागू किया गया। इसका एक उद्देश्य था जनसामान्य अमेरिकी को मूलभूत शिक्षा प्रदान करना, ताकि वह व्यावसायिक बातों और औद्योगीकरण को महत्व दे सके।

5. **नेशनल बैंक की स्थापना:-** औद्योगीकरण के लिए साख व्यवस्था को मजबूत करने के उद्देश्य से नेशनल बैंक की स्थापना की गई। प्रथम एवं द्वितीय बैंक, जिन्हें बैंक ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स के नाम से जाना गया क्रमश:, 1796 और 1816 ई. में स्थापित किए गए। साथ ही, मुद्रा एवं बीमा पद्धति का भी विकास किया गया।

- संरक्षणवादी नीति के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका का औद्योगीकरण ब्रिटेन से पृथक दिशा में चला गया। फिर ब्रिटेन की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रम महंगा था। अत: उसने अनुसंधान और विकास के माध्यम से सबसे बेहतर तकनीकी विकसित करने का सफल प्रयास किया। जिसके कारण अमेरिकी अर्थव्यवस्था उच्च तकनीकी एवं महंगे श्रम वाली अर्थव्यवस्था बनी रही। इसलिए जिस किसी भी देश ने अमेरिकी औद्योगिक मॉडल को अपनाने का प्रयास किया, उसे बहुत समस्याएं झेलनी पड़ीं।

औद्योगीकरण का जर्मन मॉडल

- औद्योगीकरण के क्षेत्र में जर्मनी को एक पृथक् चुनौती का सामना करना पड़ा था और उसने उस चुनौती का समाधान भी अपने ढंग से करने का प्रयास किया। इसी ने जर्मन औद्योगीकरण को एक नई दिशा दे दी।

- **जर्मनी के समक्ष चुनौतियाँ:-**

1. जर्मन क्षेत्र लगभग 300 से अधिक राज्यों में विभाजित था, इसलिए उसका आंतरिक बाजार भी विभाजित था। साथ ही, विधि व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था ये सभी विभाजित थीं।
2. कुछ क्षेत्रों में सामंतवाद अभी भी कायम था। इस कारण अपेक्षित संख्या में श्रमिकों की कमी थी।
3. ब्रिटेन के विपरीत यहाँ निवेश के लिए निजी पूंजी का अभाव था।
4. जर्मनी में एक प्रकार का पितृसत्तावादी कानून प्रचलित था जिसके तहत एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में लोगों के बसने की पाबंदी थी।

- **औद्योगीकरण की दिशा में जर्मनी की प्रगति:-**

1. नेपोलियन के अंतर्गत विभाजित जर्मन क्षेत्रों के पुनर्संगठन से बाजार के एकीकरण की आधारशिला बनी। इसके अलावा, सामंतवाद का अंत, नेपोलियन कोड को लागू करना आदि कारणों से भी जर्मन अर्थव्यवस्था को गति मिली।
2. वियना कांग्रेस के द्वारा प्रशा को जो राईनलैंड का भूभाग दिया गया था, वह कोयले का भंडार था। इससे प्रशा में औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला ।
3. प्रशा की आर्थिक सफलता के कारण जर्मन राज्यों का प्रशा के साथ आर्थिक एकीकरण हो गया तथा इस क्रम में 1834 में चुंगी संघ (जॉल्वेरिन) की स्थापना हुई।
4. 1849 में जर्मनी में पितृसत्तावादी कानून की समाप्ति के बाद एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में श्रमिकों की आवाजाही बढ़ गई।
5. जर्मन औद्योगीकरण के मॉडल को प्रेरित करने में फ्रैडरिक लिस्ट नामक एक अर्थशास्त्री का विशेष योगदान रहा था। वह अमेरिकी मॉडल से प्रभावित था तथा एडम स्मिथ की मुक्त अर्थव्यवस्था के मॉडल के विपरीत वह संरक्षणवाद की नीति का प्रबल समर्थक था।
6. जर्मनी के आंतरिक बाजार को विकसित करने में दो अन्य कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही- एक था 1830-40 के दशक में रेलवे का विकास और दूसरा, प्राथमिक शिक्षा पर बल।
7. जर्मन औद्योगीकरण को वास्तविक प्रोत्साहन 1870 में जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् ही मिला क्योंकि जर्मन सरकार ने उसमें सक्रिय भूमिका निभाई। औद्योगिक निवेश में ज्वॉईंट स्टॉक बैंक ने भूमिका निभाई।

- **प्रभावः**- औद्योगीकरण के कारण जर्मनी इलेक्ट्रिकल्स उद्योग, रसायन उद्योग और मोटरवाहन उद्योग में ब्रिटेन से काफी आगे निकल गया। वस्तुतः ब्रिटेन ने औद्योगिक क्षेत्र में पिछले 100 वर्षों में जो हासिल किया था वह जर्मनी ने मात्र 30 वर्षों में हासिल कर लिया। इसका एक तार्किक परिणाम था ब्रिटिश और जर्मन साम्राज्य के बीच बाजार के लिए प्रतिस्पर्द्धा। दूसरी तरफ, एकीकृत जर्मनी ने यूरोप के शक्ति संतुलन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला दिया, इसी का नतीजा था- दो विश्वयुद्ध।

रूस में औद्योगीकरण

■ **औद्योगीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँः-**

1. रूस एक महाद्वीपीय आकार वाला देश था तथा इसके पास अपार संसाधन थे, परंतु इसका अधिकांश भाग ठंड से ग्रस्त था।
2. रूसी समाज अत्यधिक परंपरागत था तथा वहाँ दास व्यवस्था प्रचलित थी।
3. रूस में उद्योगों में निवेश के लिए निजी पूँजी का अभाव था।

■ **औद्योगीकरण की दिशा में रूस की प्रगति-**

- सर्वप्रथम इस दिशा में प्रयोग एक रूसी शासक पीटर द ग्रेट ने किया था परंतु उसे सफलता नहीं मिली। वास्तविक रूप में औद्योगीकरण की प्रगति 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जार अलेक्जेंडर द्वितीय के काल में हुई, जिसने 1861 में दास व्यवस्था का उन्मूलन किया तथा औद्योगीकरण को स्पष्ट रूप में प्रोत्साहन दिया।
- वस्तुतः रूसी औद्योगीकरण गेरशेनक्रॉन मॉडल (Gerschenkron Model) पर आधारित था। इसके अनुसार, जो औद्योगीकरण के क्षेत्र में बाद में आता है उसके लिए आवश्यक नहीं है कि वह प्रथम औद्योगीकृत देश के मॉडल को अपनाने का प्रयास करे, बल्कि उसे अपना मॉडल स्वयं विकसित करना चाहिए। इस क्रम में उसका यह मानना था कि जो देश औद्योगीकरण के क्षेत्र में बाद में आता है, वहाँ सरकार को सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। अतः रूस के औद्योगीकरण में सरकार ने उत्पादक, निवेशक और खरीददार की भूमिका निभाई। इसलिए रूसी औद्योगीकरण के निम्नलिखित लक्षण प्रकट हुए-

1. राज्य ने निवेशक की भूमिका निभाई तथा निवेश की रकम को पूरा करने के लिए एक तरफ विदेशी कर्ज लिया, तो दूसरी तरफ किसानों पर अत्यधिक कर लगाया। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध तक रूस, यूरोप का सबसे कर्जदार देश बन गया तथा किसानों में भी असंतोष हुआ।
2. राज्य ने स्वयं उत्पादक की भूमिका निभाई, इसलिए रूसी औद्योगीकरण किसी स्वतंत्र मध्यवर्ग को जन्म नहीं दे सका।
3. रूसी औद्योगीकरण का बल पूँजीगत उद्योगों पर था, न कि उपभोक्ता संबंधी उद्योगों पर।

■ **प्रभावः**- जब भी हम रूस में औद्योगीकरण के प्रभावों का परीक्षण करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि एक प्रकार से रूसी औद्योगीकरण ने रूसी क्रांति के साथ-साथ कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता का मार्ग तैयार किया। उदाहरण के लिए, किसानों पर अत्यधिक कर लगाए जाने के कारण किसान नाराज थे, अतः वे क्रांति में शामिल हो गए। फिर निम्नलिखित दो कारकों ने कम्युनिस्ट पार्टी की सफलता में अपना योगदान दिया-

- प्रथम, जैसा कि हम जानते हैं कि रूसी औद्योगीकरण ने स्वतंत्र मध्यवर्ग को जन्म नहीं दे सका, अतः वहाँ मध्यवर्ग कमजोर था। इसलिए जब रूस में कम्युनिस्ट पार्टी का उदय हुआ तब मध्यवर्ग रूस में कम्युनिस्ट आंदोलन का मुकाबला नहीं कर सका। द्वितीय, रूस में अधिकांश उद्योग कुछ खास क्षेत्रों में ही स्थापित हुए। इसलिए रूसी औद्योगीकरण के परिणामस्वरुप श्रमिकों में तेजी से वर्गीय चेतना विकसित हुई तथा इसने 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति की पृष्ठभूमि निर्मित कर दी और अंततः रूस में कम्युनिस्ट पार्टी को सफलता मिली।

जापान का औद्योगीकरण

- जापान ने औद्योगीकरण का एक पृथक मॉडल तैयार किया। इसका कारण था औद्योगीकरण के मध्य जापान के द्वारा पृथक् चुनौतियों का सामना किया जाना।

■ **चुनौतियाँः-**

1. जापान पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार था। इसने चुंगी लगाकर अपने उद्योगों को संरक्षण देने का अधिकार भी खो दिया था। अतः चुनौती यह थी कि अपने नवस्थापित उद्योगों का संरक्षण किस प्रकार किया जाए।
2. जापान में बैंकरों का एक समूह था जिसके पास निवेश के लिए रकम थी, परंतु वह उद्योगों के बजाय भूमि के क्षेत्र में निवेश करने में रुचि ले रहा था क्योंकि भूमि में निवेश करना उसे सस्ता दिख रहा था।

■ **औद्योगीकरण के क्षेत्र में जापान की रणनीतिः-**

1. 1868 की मेइजी पुनर्स्थापना के पश्चात् जापान ने अपनी प्रशासनिक संरचना, विधि व्यवस्था तथा सरकार के स्वरूप में यथासंभव संशोधन लाया, जिससे जापान के आधुनिकीकरण को बल मिला।
2. जापान ने औद्योगीकरण के अमेरिकी मॉडल के एक महत्वपूर्ण पहलू, प्राथमिक शिक्षा के विकास की रणनीति को अपनाया। परंतु उस मॉडल के विपरीत सस्ते श्रम की स्थिति को देखते हुए उसने सूती वस्त्र उद्योग, रेशमी वस्त्र

उद्योग जैसे उपभोक्ता संबंधी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया।

3. फिर जापान ने यातायात और संचार व्यवस्था के विकास के क्रम में रेलवे और फिर मोटरवाहन उद्योग आदि के विकास पर बल दिया गया।
4. चूँकि जापान को आरंभ में चुंगी के माध्यम से अपने उद्योगों को संरक्षण देने की स्वतंत्रता (ऐसा 1911 के पश्चात् ही संभव हुआ) नहीं थी, बदले में उसने उद्योगों को सब्सिडी देकर इसकी क्षतिपूर्ति करनी चाही।

■ **विशेषताएँ:-**

1. चूँकि आरंभ में बैंकरों ने उद्योगों में निवेश करने में रुचि नहीं दिखाई थी, अत: राज्य ने अपनी पहल पर उद्योगों की स्थापना की तथा सामरिक महत्व के उद्योगों को छोड़कर शेष उद्योगों को निजी पूँजीपतियों के हाथों में बेच दिया। इस कारण जापान के औद्योगीकरण ने किसी नए वर्ग को जन्म नहीं दिया, अपितु बैंकरों का एक वर्ग ही उद्योगों को खरीदकर औद्योगिक वर्ग में परिवर्तित हो गया।
2. सामान्यत: ऐसा देखा गया कि पूँजीवाद के विकास की चरम अवस्था में ही औद्योगिक पूँजी और बैंकिंग पूँजी आपस में मिलकर एकाधिकारवादी पूँजीवाद को प्रोत्साहन देती है। परंतु जापान में यह आरंभिक अवस्था में ही आ गई क्योंकि बैंकर ने ही उद्योग खरीद लिए। उदाहरण के लिए, जापान में पूँजीपतियों का एक जैबात्सु परिवार था जिसके पास कुल बैंकिंग पूजी का 34% था। इसके अतिरिक्त उसके पास उद्योग भी आ गए।
3. जापान पश्चिमी मॉडल की तरफ आकर्षित हुआ तथा उसकी तकनीकी को तेजी से अपनाया। परंतु उसने पश्चिम से उदारवादी विचारधारा को नहीं लिया, बल्कि उस पर समुराई संस्कृति ही हावी रही। इसलिए जापानी औद्योगीकरण ने पूँजीवाद का एक अनोखा मॉडल तैयार किया।

■ **प्रभाव:-** जापान में औद्योगीकरण का व्यापक विस्तार हुआ था, वहीं जापान के पूँजीवाद पर एकाधिकारवाद का प्रभाव था। साथ ही, जापान समुराई संस्कृति से प्रेरित था। इन सब का मिला-जुला प्रभाव था जापान में सैन्यवाद का उद्‌भव, जिसने पहले एशिया-प्रशांत क्षेत्र में जापान को एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में स्थापित किया, फिर उसे द्वितीय विश्वयुद्ध में उलझा दिया।

औद्योगिक क्रांति: एक निरंतर क्रांति

■ **प्रथम औद्योगिक क्रांति (1760-1840 ई.):-** वाष्पचालित इंजन, सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र एवं लौह उद्योग, पश्चिमी यूरोप तक सीमित।

- **प्रभाव** - मुक्त अर्थव्यवस्था की नीति एवं बाजार की खोज।

■ **द्वितीय औद्योगिक क्रांति (1860-1914 ई.):-** विद्युत शक्ति, पेट्रोलियम तथा अंतर्दहन इंजन, ऑटोमोबाईल उद्योग, टेलीग्राफ का विकास, वायुयान का विकास। मध्य यूरोप, पूर्वी यूरोप तथा एशिया में जापान में प्रसार।

- **प्रभाव:-** साम्राज्यवाद का प्रसार तथा अफ्रीका का विभाजन, ब्रिटेन तथा जर्मनी के बीच प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध।

■ **तृतीय औद्योगिक क्रांति:-** (1990 के दशक तथा उसके पश्चात्) रिफीन नामक विद्वान में तृतीय औद्योगीकरण की अवधारणा दी है। इसका आधार सूचना प्रौद्योगिकी एवं नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत को माना जाता है।

- भारत पिछली दो औद्योगिक क्रांति से वंचित रह गया था, किन्तु वह तृतीय औद्योगिक क्रांति से जुड़ गया।
- **प्रभाव:-** तृतीय औद्योगिक क्रांति ने 1990 के दशक में पूर्वी यूरोप की समाजवादी सरकारों को और 2011 में अरब देशों में तानाशाही सरकारों को हिला दिया।

■ **चतुर्थ औद्योगिक क्रांति:-** हाल में चतुर्थ औद्योगिक क्रांति की परिकल्पना की गई है। आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस, रोबोटिक्स, जीनोम तकनीकी, नैनो तकनीकी, आदि से इसे जोड़ा जाता है।

प्रश्न : विलम्ब से होने वाली जापानी औद्योगिक क्रांति में कुछ ऐसे कारक भी थे जो पश्चिमी देशों के अनुभव से बिल्कुल भिन्न थे। विश्लेषण कीजिए। (UPSC- 2013)

उत्तर:- जापान के औद्योगीकरण का अध्ययन बहुत ही दिलचस्प तथ्य रहा है क्योंकि जापान प्रथम गैर-यूरोपीय देश रहा था जिसने औद्योगीकरण तथा साम्राज्यवाद के मोर्चे पर पश्चिमी शक्तियों के समक्ष बड़ी चुनौती खड़ी कर दी थी। किंतु चूंकि जापान की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ पश्चिमी देशों की परिस्थितियों से भिन्न थीं, इस कारण से जापान ने औद्योगीकरण के लिए एक पृथक मार्ग ग्रहण किया। यही वजह है कि जापान के औद्योगीकरण का स्वरूप पश्चिमी औद्योगीकरण से भिन्न रहा।

वस्तुत: जापान का औद्योगीकरण उस आधुनिकीकरण कार्यक्रम का हिस्सा था जो मेईजी पुनर्स्थापना के साथ आरंभ हुआ था तथा जिसका उद्देश्य रहा था पश्चिमी साम्राज्यवाद की चुनौती को स्वीकार करना। फिर जापान के औद्योगीकरण के लिए पूंजीगत एवं भारी उद्योगों की स्थापना आवश्यक थी। राज्य के द्वारा पहले इस क्षेत्र में निजी पूंजी को आकर्षित किया गया, किंतु जब निजी निवेशकों ने इसमें रूचि नहीं दिखायी, तो फिर सरकार के द्वारा स्वयं बड़े एवं भारी उद्योगों की स्थापना की गई तथा फिर इन उद्योगों में केवल सामरिक महत्व के उद्योगों को छोड़कर अन्य उद्योगों को सब्सिडी दर पर निजी पूंजीपतियों के

हाथों बेच दिया गया। इसके निम्नलिखित परिणाम सामने आए। प्रथम, जापान के औद्योगीकरण ने किसी नये वर्ग को जन्म नहीं दिया, अपितु बैंकरों का एक वर्ग ही उद्योगों को खरीदकर उद्योगपतियों के रूप में ढल गए। दूसरे, जापान में आरम्भ में ही पूंजीवाद एकाधिकारवाद के चरण पर पहुंच गया। उसी प्रकार, जापान के आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण कार्यक्रम मध्यवर्ग के अंतर्गत नहीं, अपितु सामंतों के एक वर्ग के अंतर्गत क्रियान्वित किया गया। इसके अतिरिक्त चूंकि जापान का घरेलू बाजार छोटा था, इसलिए जापान के उद्योगों को आरंभ से ही बाह्य बाजार पर निर्भरता रही। उपर्युक्त सभी कारकों ने जापान में सैन्यवादी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। इसका दूरगामी परिणाम था पर्लहार्बर पर जापानी आक्रमण तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की भागीदारी। अंततोगत्वा इसकी परिणति हिरोशिमा एवं नागासाकी में हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जापान के औद्योगीकरण का अनुभव पश्चिमी देशों के अनुभव से पृथक रहा तथा इसने जापान की विदेश नीति पर भी अपना प्रभाव छोड़ा।

Food for Thought

- औद्योगिक क्रांति की जड़ पिछली तीन-चार शताब्दियों में यूरोप में होने वाले सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तनों में कैसे निहित था?
- ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति ने किस प्रकार दूसरों के औद्योगीकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न की?
- जर्मनी, रूस और जापान जैसे देशों ने औद्योगीकरण का अपना अलग रास्ता कैसे बनाया?
- वर्तमान में भारत में आर्थिक नीति के सामाजिक प्रभाव के साथ ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के सामाजिक प्रभाव की तुलना कैसे की जा सकती है?
- जापान ने औद्योगीकरण के अपने मॉडल के साथ किस प्रकार का प्रयोग किया और एशियाई महाद्वीप पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?

■■■

KHAN GLOBAL STUDIES Most Trusted Learning Platform KHAN SIR

समाजवाद

- जैसा कि हमने देखा कि पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध आरंभिक संघर्ष मध्यवर्ग ने आरंभ किया था तथा मध्य वर्ग की विचारधारा जो प्रबोधन, अमेरिकी क्रांति और फ्रांस की क्रांति के मध्य विकसित हुई, उसे उदारवाद के नाम से जाना गया। (राष्ट्रवाद की पहचान भी मध्यवर्गीय विचारधारा के रूप में हुई है।) निम्न वर्ग भी इस व्यवस्था से अत्यधिक असंतुष्ट था, परंतु उसका न तो स्वतंत्र नेतृत्व था और न ही स्वतंत्र विचारधारा। इसलिए वह नेतृत्व के लिए मध्यवर्ग की ओर ही देखता रहा था परंतु मध्यवर्गीय नेतृत्व से उसे निराशा मिलती रही थी। अंत में, उसने अपना नेतृत्व और पृथक विचारधारा प्रस्तुत की जिसे समाजवाद के नाम से जाना गया। परंतु यह स्थिति औद्योगिक क्रांति के पश्चात् ही प्रकट हुई।
- वस्तुत: समानता की अवधारणा इतिहास में कोई नई विचारधारा नहीं थी। पीछे के चिंतक भी मानव समानता पर बल देते रहे थे। रूसो ने पहले ही यह घोषित कर दिया था कि मानव स्वतंत्र पैदा हुआ है तथा सभी मानव समान हैं क्योंकि वे प्रकृति की संतान हैं। परंतु आधुनिक संदर्भ में समाजवाद की अवधारणा औद्योगिक क्रांति की देन है। औद्योगिक क्रांति ने निम्नलिखित प्रभाव पैदा किया था-

1. औद्योगीकरण के साथ श्रमिकों की संख्या बढ़ी। इस कारण निम्न वर्ग पहले की तुलना में अधिक ताकतवर बनकर उभरा।
2. पूँजी के द्वारा श्रम का अत्यधिक शोषण आरंभ हुआ, इस कारण श्रमिकों में असंतोष उत्पन्न होने लगा।

- फिर श्रमिकों की दशा पर विचार करने के लिए कुछ बुद्धिजीवी सामने आए। वे मध्य वर्ग की पृष्ठभूमि से ही थे तथा वे शान्तिपूर्ण तरीके से अपने लक्ष्य को पाना चाहते थे। इन्हें आरंभिक समाजवादी चिन्तक के रूप में जाना जाता है और इस प्रकार के अधिकांश चिन्तक फ्रांस से संबंध रखते थे।

■ उदारवादी एवं आरंभिक समाजवादियों में समानता के बिंदु:-

1. दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि मध्य वर्ग से थी अर्थात् दोनों मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी थे।
2. दोनों शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास रखते थे और क्रांति से परहेज करते थे।

■ असमानता के बिंदु:-

1. जहाँ उदारवादी राज्य की सीमित भूमिका (Minimal state) पर बल देते थे, वहीं आरंभिक समाजवादी श्रमिकों की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति में वृद्धि की बात करते थे (Maximal state)।
2. जहाँ उदारवादी मध्यवर्ग के हित से प्रेरित थे, वहीं आरंभिक समाजवादी निम्न वर्ग के हित से।

■ आरम्भिक समाजवादी चिन्तक-

- **सेंट साइमन**- यह एक फ्रांसीसी समाजवादी था जो औद्योगीकरण एवं नगरीय समाज का समर्थक था। उनका मानना था कि प्रकृति के पास अपार संसाधन है। इसलिए आपस में संघर्ष एवं प्रतिस्पर्द्धा करने के बजाय अगर सभी लोग मिल-जुलकर प्रकृति के संसाधन का दोहन करते हैं, तो फिर सबको लाभ मिलता है। उसने यह नारा दिया कि 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार'। यह नारा समाजवाद का प्रसिद्ध नारा बन गया।
- **चार्ल्स फोरिए**- यह भी एक फ्रांसीसी चिंतक था। यह औद्योगिक समाज और नगरीय जीवन को शोषण का कारण मानता था। इसने शोषण के विकल्प के रूप में सहकारी खेती पर बल दिया।
- **रॉबर्ट ओवन**- यह एक ब्रिटिश चिन्तक एवं पूँजीपति था। एक उद्योगपति की हैसियत से उसने स्कॉटलैंड स्थित अपनी फैक्ट्री में एक प्रयोग किया। उसने श्रमिकों के वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएँ बढ़ा दीं, परंतु आश्चर्यजनक रूप में उससे फैक्ट्री की आमदनी कम होने के बजाय बढ़ गई। अत: वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि संतुष्ट श्रमिक ही वास्तविक श्रमिक है।
- **लुई ब्लाँ**- लुई ब्लाँ भी एक फ्रांसीसी समाजवादी था, परंतु उसकी दृष्टि पूर्व समाजवादियों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक थी। उसका मानना था कि-

1. श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए केवल आर्थिक सुविधाएँ देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि श्रमिकों का सरकार पर नियंत्रण आवश्यक है। राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि अगर सरकार श्रमिकों की समर्थक रहेगी, तभी वह श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए ठोस कदम उठा सकेगी।
2. राज्य को एक साहूकार की भूमिका निभानी चाहिए और श्रमिकों को उचित पूँजी एवं उपकरण उपलब्ध कराने चाहिए, जिससे उत्पादन के मामले में वे स्वावलम्बी हो

सकें और श्रमिकों का शोषण समाप्त हो सके।

■ **आरंभिक समाजवादियों का योगदान-**

1. सर्वप्रथम इन चिंतकों ने पूँजी एवं श्रम के बीच संबंधों को परिभाषित करते हुए श्रमिकों के शोषण की समस्या को उठाया तथा उसका समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया।
3. इन चिंतकों ने अपने स्तर से कुछ संगठनों का निर्माण कर अपने विचारों को फैलाने का भी प्रयास किया। इनके विचारों ने आगे कार्ल मार्क्स को भी प्रेरणा प्रदान की। मार्क्स पेरिस में 'लीग ऑफ जस्ट' नामक संस्था का सदस्य रहा था, जो सेंट साइमन के विचारों पर आधारित थी।

■ **सीमाएँ:-**

1. आरंभिक समाजवादी चिंतकों का दृष्टिकोण अत्यधिक आदर्शवादी था। वे मानव की मूलभूत अच्छाई में विश्वास करते हुए शांतिपूर्ण परिवर्तन की बात करते थे, जो व्यावहारिक रूप में संभव नहीं था।
2. इन चिंतकों का दृष्टिकोण वर्ग-समन्वयवाद पर आधारित था। ये क्रांति के विरोधी थे तथा ये संघर्ष की जगह मेल-जोल से परिवर्तन लाना चाहते थे। आगे वर्ग-समन्वय की अवधारणा कार्ल मार्क्स को प्रभावित नहीं कर सकी तथा वह इससे आगे निकल गया।

वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद

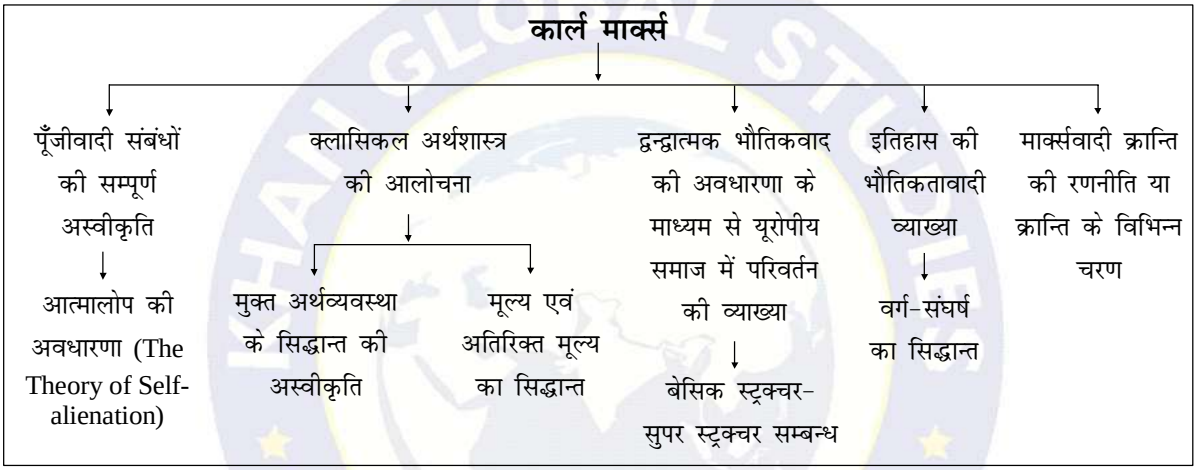

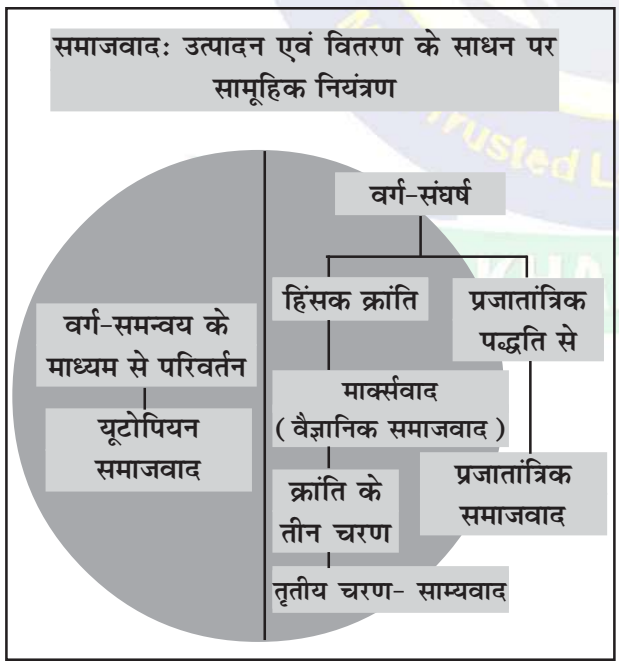

उपर्युक्त डायग्राम निम्नलिखित तथ्य निर्देशित करता है:-

1. समाजवाद एक वृहद् अवधारणा है तथा मार्क्सवाद उसका एक भाग है। इसलिए सभी मार्क्सवादी, समाजवादी हैं, परंतु सभी समाजवादी, मार्क्सवादी नहीं।
2. कमोवेश सभी समाजवादियों का लक्ष्य एक था, वह था समतामूलक समाज की स्थापना, परंतु लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन के मुद्दे पर गहरा मतभेद था। कुछ समाजवादी वर्ग-समन्वय के माध्यम से यह लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे, किंतु कार्ल मार्क्स उसे अव्यावहारिक मानता था तथा वह वर्ग-संघर्ष पर बल देते हुए उग्र साधन अपनाने की बात करता था।
3. मार्क्स ने सर्वहारा क्रांति के तीन चरण निर्धारित किए थे। इसमें जो क्रांति का तीसरा चरण होता, उसके लिए उसने 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग किया था। परंतु चूंकि यह तीसरा चरण नहीं आया, अत: आगे साम्यवाद, मार्क्सवाद का पर्यायवाची बनकर रह गया।

■ **कार्ल मार्क्स :-**

- कार्ल मार्क्स एक जर्मन था। उसने 19वीं सदी के एक प्रमुख दार्शनिक हीगेल के विचारों पर अनुसंधान किया। आगे वह एक मानवतावादी पूंजीपति एंजेल्स द्वारा लिखित पुस्तक 'The condition of working class in England' से बहुत प्रभावित हुआ। फिर मार्क्स और एंजेल्स ने मिलकर अनेक रचनाएँ कीं, इनमें एक प्रमुख रचना है

1848 में लिखी गई **'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो'**। फिर 1868 में कार्ल मार्क्स ने **'दास कैपिटल'** का प्रथम भाग लिखा, जबकि उसके द्वितीय और तृतीय भाग को एंजेल्स ने पूरा किया।

- मार्क्स का विचार अपने युग से आगे था और एक तरह से देखा जाए तो यह 19वीं सदी का रूसो था। उसने दुनिया भर के मज़दूरों से अपील की कि विश्व के मज़दूरों एक हो, तुम्हारे पास खोने के लिये कुछ भी नहीं सिवाय दु:ख की शृंखला के अर्थात् जंजीरों के, जबकि पाने के लिये सारा विश्व है। पीछे रूसो ने मानव के जंजीरों में जकड़े होने की बात कही थी, परंतु कार्ल मार्क्स ने उन जंजीरों को उतार देने की अपील की।
- परंतु, उसके जीवन काल में कहीं भी क्रांति घटित नहीं हुई और 1883 में उसकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि मृतक सीजर, जीवित सीजर से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। यह बात कार्ल मार्क्स पर भी लागू होती है। आगे आने वाले समय में मार्क्स का भूत पूँजीवादी विश्व को डराता रहा और मज़दूरों को सुखद जीवन का आश्वासन देता रहा।

कार्ल मार्क्स की विचारधारा के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं-

1. पूँजीवादी संबंधों की संपूर्ण अस्वीकृति:

- **आत्मालोप का सिद्धांत (Theory of self alienation)** - कार्ल मार्क्स के अनुसार, सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि मानव को पशु से पृथक करने वाली प्रमुख विशेषता तर्कशीलता होती है, किंतु मार्क्स का मानना था कि वह विशेषता होती है मानव के श्रम की क्षमता।
- उसके अनुसार, मानव जो श्रम करता है और जब उस श्रम का लाभ उसे मिलता है तो उसे 'रचनात्मक सुख' प्राप्त होता है। परंतु जब उसका लाभ कोई और ले जाता है और उसे वह प्राप्त नहीं होता, तो फिर उसके समक्ष आत्मालोप की स्थिति उत्पन्न होती है।
- उसके विचार में, एक औद्योगिक व्यवस्था या पूँजीवादी प्रणाली के अंतर्गत श्रमिक आत्मालोप का शिकार बन जाता है और आत्मालोप की अवस्था से उभरने का एकमात्र समाधान है श्रमिकों में वर्गीय चेतना का विकास। फिर वे क्रांति के लिए तैयार हो जाते हैं।

2. क्लासिकल अर्थशास्त्र की आलोचना:

- **मुक्त अर्थव्यवस्था की अवधारणा की अस्वीकृति**- एडम स्मिथ ने मुक्त अर्थव्यवस्था की अवधारणा रखी थी। इसके निम्नलिखित पहलू थे-
  i. बाजार अपने आन्तरिक नियमों से परिचालित होता है, वह है माँग और पूर्ति के नियम।
  ii. उत्पादक, उपभोक्ता एवं श्रमिकों के हित में प्राकृतिक रूप से सामंजस्य होता चलता है।

परन्तु कार्ल मार्क्स ने उपर्युक्त धारणा को चुनौती दी। उसका बल निम्नलिखित तर्क पर था -

i. पूँजीपतियों और श्रमिकों के हित के बीच संतुलन नहीं हो पाता क्योंकि श्रमिक रोटी के लिए संघर्ष करते हैं, तो पूँजीपति मुनाफे के लिए। अत: जाहिर है कि पूँजीपतियों की सौदेबाजी की शक्ति कहीं अधिक होती है और वे मजदूरों को कम वेतन पर काम करने के लिए विवश करते हैं।
ii. इसके अतिरिक्त, कार्ल मार्क्स ने मशीनीकरण के दुष्परिणाम को समझा। उसके अनुसार, मशीनों ने बड़ी आसानी से मानव श्रम को विस्थापित कर दिया। इस कारण श्रमिकों की सौदेबाजी की शक्ति और भी कम हो गयी। अत: एडम स्मिथ जिसे मुक्त अर्थव्यवस्था कहते हैं वास्तव में वह मुक्त अर्थव्यवस्था नहीं होती, बल्कि पूँजीपतियों के एकाधिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था होती है।

- **मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त**- क्लासिकल अर्थशास्त्र को ही आधार बनाकर कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत (Theory of surplus value) दिया था। वस्तुत: क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह घोषित किया था कि उत्पादन में पूँजी और श्रम की भूमिका होती है तथा श्रम के द्वारा किसी वस्तु को आकार देकर उसका मूल्य बढ़ाया जाता है। इसी को आधार बनाकर कार्ल मार्क्स ने यह घोषित किया कि चूँकि पूँजीपति उस अतिरिक्त मूल्य को हजम कर जाते हैं और श्रमिकों को उनका अंशदान नहीं देते हैं, इसलिये एक तरफ जहाँ पूँजीपतियों के हाथों में पूँजी का संचय होता चला जाता है, वहीं दूसरी तरफ श्रमिकों की दशा खराब होती जाती है। फिर इस संचित पूंजी को पूँजीपति जब अन्य क्षेत्रों में लगाते हैं, तो फिर अन्य मज़दूरों के शोषण का भी रास्ता तैयार हो जाता है। इसलिये मार्क्स का यह मानना है कि औद्योगिक समाज अपनी मूल संरचना में अन्यायपूर्ण संबंधों पर आधारित है।

3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अवधारणा के माध्यम से यूरोपीय समाज में परिवर्तन की व्याख्या-

- **यूरोपीय समाज के विकास के विभिन्न चरण**- मार्क्स उसी प्रकार यूरोपीय समाज में क्रमिक विकास की अवस्था देखता है, जैसे चार्ल्स डार्विन प्रकृति की विभिन्न प्रजातियों में देखता है। मार्क्स ने इसे निम्नलिखित अवस्था में देखा-

i. **प्रारंभिक समाजवाद अथवा आदिम समाजवाद:**- मार्क्स के अनुसार, यह वह अवस्था है जब लोग सामूहिक रूप

से उत्पादन एवं खपत करते थे तथा निजी संपत्ति अस्तित्व में नहीं आई थी।

ii. **दास व्यवस्था:**- मार्क्स ने प्राचीन यूनानी एवं रोमन समाज में यह अवस्था देखी थी जब कुछ लोगों ने कुछ अन्य लोगों के श्रम पर कब्जा कर लिया और उनके श्रम का शोषण करने लगे।

iii. **सामंतवाद:**- तीसरी अवस्था सामंतवाद की अवस्था थी जब कुछ लोगों ने भूमि संपदा पर कब्जा कर लिया और स्वतंत्र किसानों को कृषि दास में रूपांतरित कर दिया।

iv. **पूँजीवाद:**- अब उत्पादन के नए साधन के रूप में व्यापार और उद्योग अस्तित्व में आए तथा उन पर जो कब्जा किया वे पूँजीपति कहलाये और उनके द्वारा श्रमिकों का शोषण किया जाने लगा। ये श्रमिक सर्वहारा कहे गए।

v. **समाजवाद:**- अब अंतिम अवस्था समाजवाद की होगी जब सर्वहारा वर्ग उत्पादन के इस नए साधन पर कब्जा कर लेगा और फिर बुर्जुआ वर्ग को समाप्त कर देगा।

- **परिवर्तन का सूत्र- द्वन्द्वात्मकता (Dialecticism):-** ऊपर हमने देखा कि यूरोपीय समाज क्रमिक रूप में विकसित होते हुए आगे बढ़ रहा है। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसमें परिवर्तन के कारक की भूमिका कौन निभा रहा है। कार्ल मार्क्स ने इस बदलाव की व्याख्या द्वन्द्वात्मकता के परिप्रेक्ष्य में की। उसने एक जर्मन दार्शनिक हीगेल से द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा ली। हीगेल एक प्रत्ययवादी (विचारधारा की सत्यता को मानने वाला) चिंतक था तथा विचारधारा में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन का कारण मानता था। किंतु स्वयं विचारधारा में परिवर्तन कैसे होता है, इसके लिए उसने द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा दे डाली। उसके विचार में, पहले एक विचारधारा आती है जिसे उसने 'Being' का नाम दिया। फिर एक दूसरी विचारधारा आती है जो उससे टकराती है। उसे वह 'Not Being' का नाम देता है। फिर ये दोनों आपस में टकराकर एक तीसरी विचारधारा का रूप ले लेती हैं जिसे वह 'Becoming' कहता है। फिर Becoming, Being का रूप ले लेती है.....।
- मार्क्स इस अवधारणा से बहुत प्रभावित हुआ। परंतु मार्क्स मूलत: एक भौतिकतावादी चिंतक था, इसलिए उसने द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा को भौतिक पदार्थ के स्तर पर लागू किया और उसे Thesis, Anti-Thesis and Synthesis का नाम दिया। उसने उसे वर्ग-संघर्ष के रूप में व्यक्त किया। फिर इसी आधार पर उसने यूरोपीय समाज के परिवर्तन की व्याख्या की। उसके अनुसार, अगर दास व्यवस्था थेसिस था एवं सामंतवाद एंटीथेसिस, तो पूँजीवाद सिन्थेसिस और अगर सामंतवाद थेसिस था तथा पूँजीवाद एंटीथेसिस, तो समाजवाद सिन्थेसिस।

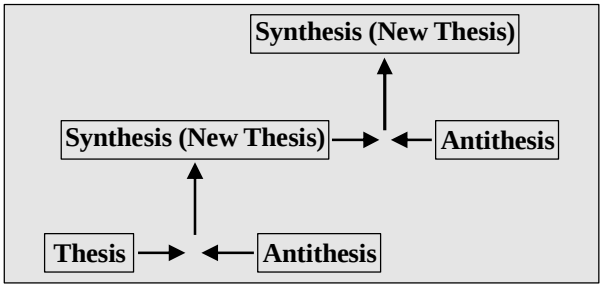

4. इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या एवं वर्ग-संघर्ष:-

- क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने अर्थव्यवस्था की व्याख्या करते हुए तीन वर्गों की बात कही थी, यथा - ज़मींदार, पूँजीपति एवं श्रमिक। मार्क्स ने उन्हें दो समूहों में विभाजित कर दिया- पूँजीपति वर्ग एवं सर्वहारा वर्ग। उसी प्रकार कार्ल मार्क्स से पहले भी चिंतक आर्थिक-भौतिक कारक का प्रभाव मानव के परिवेश एवं वातावरण पर स्वीकार करते थे, परंतु मार्क्स ने उसमें भी एक प्रमुख कारक के रूप में **उत्पादन के साधन** पर बल दिया था तथा उत्पादन के साधनों में होने वाले परिवर्तनों को इतिहास के परिवर्तनों से जोड़कर देखा। इसलिये इसे इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या के रूप में देखा जा सकता है।

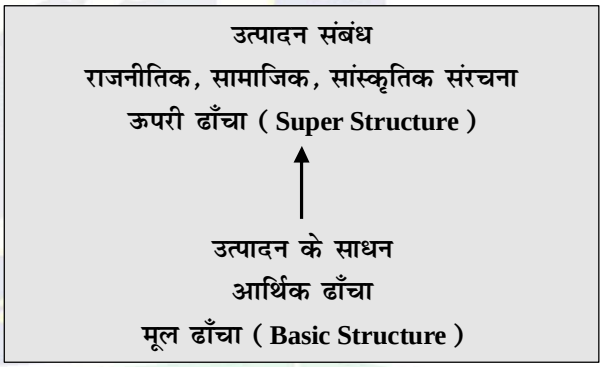

- मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधन पर कब्ज़ा करने के लिये दो वर्गों के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में जो वर्ग विजेता बन जाता है, वह उत्पादन के साधन अथवा आर्थिक ढाँचे पर कब्ज़ा कर लेता है। फिर उस ढाँचे पर अपने नियंत्रण को आगे भी बनाए रखने के लिये वह राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचे में इस प्रकार के परिवर्तन लाता है कि उत्पादन के साधन पर आगे भी नियंत्रण बना रहे और वह नियंत्रण मज़बूत रहे। इसीलिये मार्क्स उत्पादन के साधन को मूल ढाँचा (Basic Structure) और उत्पादन के संबंधों को ऊपरी ढाँचे (Super Structure) का नाम देता है।

5. मार्क्सवादी क्रांति के विभिन्न चरण :-

- मार्क्स ने सर्वहारा क्रांति के तीन चरण निर्धारित किए-

1. **प्रथम चरण अथवा प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action) का चरण**– इस चरण में वर्गीय चेतना उभरने के बाद सर्वहारा वर्ग रक्तपूर्ण क्रांति के माध्यम से उत्पादन के साधन पर कब्जा कर लेगा।
2. **द्वितीय चरण अथवा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का चरण**– इस चरण में मार्क्स का बल निम्नलिखित बातों पर रहा–
   i. जिस प्रकार पहले राज्य का उपयोग कर बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा वर्ग का शोषण किया था, उसी प्रकार अब सर्वहारा वर्ग उसी राज्य का उपयोग कर बुर्जुआ वर्ग को समाप्त कर देगा अर्थात् निजी सम्पत्ति की समाप्ति।
   ii. साथ ही, इस क्षेत्र का सर्वहारा वर्ग अन्य क्षेत्रों में क्रांति का निर्यात करेगा जिससे अन्य क्षेत्रों में भी सर्वहारा क्रांति घटित होगी और सर्वहारा का अधिनायकवाद स्थापित हो जाएगा अर्थात् विश्व क्रान्ति के लक्ष्य की प्राप्ति।
3. **तृतीय चरण अथवा वर्ग–विहीन एवं राज्यविहीन समाज का चरण**– जब संपूर्ण विश्व में एक ही वर्ग अर्थात् सर्वहारा वर्ग रह जाएगा, तो फिर राज्य की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी और संपूर्ण विश्व में एक ही राज्य रह जाएगा क्योंकि अन्य राज्य लुप्त हो जाएंगे। इस अवस्था को मार्क्स ने साम्यवाद का नाम दिया था। उसके अनुसार, निजी संपत्ति की समाप्ति के साथ मानव के सभी कुविचार मिट जाएंगे और वे आपस में शांति और सहयोग से जीने लगेंगे। राष्ट्र के समाप्त होते ही सैन्य तैयारी, युद्ध सब कुछ समाप्त हो जाएगा, परंतु यह चरण स्वयं मार्क्स का यूटोपिया (कल्पना) सिद्ध हुआ।

■ **कार्ल मार्क्स के द्वारा यूरोप में श्रमिकों को संगठित करने के लिए उठाए गए कदम:–**

• कार्ल मार्क्स ने तात्कालिक पूँजीवादी व्यवस्था को न केवल सशक्त वैचारिक चुनौती दी, बल्कि उसने उस विचारधारा को फैलाने के लिए सक्रिय प्रयास भी किया। उसका मानना था कि सर्वहारा क्रान्ति उस देश में होगी, जो औद्योगीकरण में सबसे आगे है क्योंकि वहाँ पूँजी और श्रम के हितों के बीच सबसे अधिक टकराहट होगी तथा इस कारण मजदूरों का अत्यधिक शोषण होगा एवं उनमें वर्गीय चेतना आएगी। अत: लंदन में उसने एक वर्किंग मैन एसोसिएशन का गठन कर ब्रिटेन के श्रमिकों को संगठित करने की योजना रखी। फिर, 1864 में उसने **'सोशलिस्ट इंटरनेशनल'** का गठन किया तथा इसके माध्यम से नवीन विचारों को फैलाने का प्रयास किया। यद्यपि यह अत्यधिक समय तक नहीं चल सका अर्थात् शीघ्र ही इसका विघटन हो गया।

■ **कार्ल मार्क्स की गतिविधियों का परिणाम–**

• पश्चिमी यूरोप एवं मध्य यूरोप में श्रमिक संघर्ष तीव्र होने लगा तथा कई संगठन बनने लगे। जब 1870 के सेडान के युद्ध में फ्रांस की पराजय हुई, तो राजतंत्र के विरुद्ध गहरा असंतोष उत्पन्न हुआ। फिर 1871 में श्रमिकों ने फ्रांस की राजधानी पेरिस पर कब्जा कर लिया। इसे **'पेरिस कम्यून'** के नाम से जाना गया। हालांकि, दो महीने के पश्चात् कम्यून का पतन हो गया, परंतु आगे चलकर फ्रांस में एक कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। उसी प्रकार, 1880 के दशक में ब्रिटेन में भी श्रमिक आंदोलन में अत्यधिक तेजी आ गई थी और 1889 में लंदन बंदरगाह पर एक बड़ी हड़ताल हुई। परंतु उसके बाद ब्रिटेन में एक लेबर पार्टी का गठन हुआ तथा लेबर पार्टी ने प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रम को अपनाया। फिर वही समय था जब जर्मनी में मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होकर एक सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी सक्रिय हो गई थी।

• परंतु समाजवादी विचारों के प्रसार एवं श्रमिक गतिविधियों में तीव्रता आने के पश्चात् भी पश्चिमी यूरोप के किसी भी देश में सर्वहारा क्रांति घटित नहीं हो सकी, जबकि ये देश औद्योगीकरण की दिशा में प्रगति कर चुके थे। 1883 में मार्क्स निराश होकर मरा और वह इतिहास में एक गलत भविष्यवक्ता सिद्ध हुआ। **अब अगर हम इसके कारणों का परीक्षण करते हैं तो निम्नलिखित कारण उभर कर आते हैं–**

1. मार्क्स पूँजीवाद के अनुकूलन की शक्ति को नहीं समझ सका। दूसरे शब्दों में, उसने क्रांति की एक वैज्ञानिक सूत्र के रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया; यथा– अधिक औद्योगीकरण का अर्थ औद्योगिक श्रमिकों की संख्या में व्यापक वृद्धि तथा श्रमिकों का शोषण, फिर श्रमिकों में असंतोष तथा उनमें वर्गीय चेतना का आना तथा इसके साथ ही सर्वहारा क्रांति घटित होना। परंतु स्वयं मार्क्स को इस बात का अंदाजा नहीं था कि पूँजीवाद अपने व्यवहार को निम्नलिखित रुप में बदल लेगा–
   i. कुलीन वर्ग और मध्य वर्ग, श्रमिक वर्ग के विरुद्ध आपस में गठबंधन कायम कर लेंगे।
   ii. पूँजीवादी हितों पर आधारित यूरोपीय सरकारें श्रमिकों को क्रांति से विलग करने के लिए श्रमिक कल्याणकारी कार्यक्रम ले आऐंगी।
2. जैसा कि आगे मार्क्स के अनुयायी लेनिन ने सिद्ध किया कि पूँजीवाद ने अपने आप को बचाने के लिए साम्राज्यवाद

का सहारा लिया। अर्थात् कुछ समय तक अपने श्रमिकों के शोषण को रोककर वे अपने साम्राज्य की ओर मुड़ गए तथा उन साम्राज्यों से उन्होंने जो धन प्राप्त किया, उसका एक अंश अपने श्रमिकों को देने लगे। इसलिए उनके श्रमिक क्रांति से दूर हट गये।

■ **क्या मार्क्सवादी समाजवाद विफल रहा?**

- ऐसा हम नहीं कह सकते। वस्तुतः मार्क्सवादी समाजवाद के भय से पूँजीवादी सरकारों ने अपने व्यवहार में कुछ प्रमुख परिवर्तन ला दिए थे। ये इस प्रकार हैं –

1. श्रमिकों के लिए लोक कल्याणकारी कार्यों को प्रोत्साहन दिया गया।
2. श्रमिकों के बीच मताधिकार का विस्तार किया गया।
3. यूरोप में कई राजनीतिक दलों ने अपनी पार्टी को समाजवादी पार्टी का नाम दिया।
4. अधिकांश यूरोपीय देशों ने अपने संविधान में समाजवादी गणतंत्र जैसे लक्ष्य को अपना लिया।

प्रश्न :- मार्क्सवाद, फ्रांसीसी समाजवाद तथा हीगेल के विचारों की सन्तति (संतान) था। टिप्पणी कीजिए।

उत्तर :- मार्क्सवाद, समाजवाद का उग्र रूप था तथा इसे प्रेरित करने में एक से अधिक कारकों की भूमिका रही थी। ये कारक थे- फ्रांसीसी समाजवादियों एवं जर्मन दार्शनिक हीगेल के विचार।

फ्रांसीसी समाजवादियों की भूमिका-

- सेंट साइमन, चार्ल्स फोरिए एवं लुई ब्लाँ जैसे फ्रांसीसी समाजवादियों ने निम्नलिखित रूप में मार्क्स को प्रेरणा प्रदान की-

1. सर्वप्रथम फ्रांसीसी समाजवादियों के द्वारा औद्योगीकरण के शोषणमूलक स्वरूप को उद्घाटित किया गया।
2. फ्रांसीसी समाजवादियों के द्वारा सर्वप्रथम यह माँग की गयी कि औद्योगीकरण का लाभ श्रमिक वर्ग को ही मिले।
3. इन्होंने सरकार से अपील की कि वह श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए ठोस कदम उठाए। लुई ब्लाँ ने श्रमिकों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया।

फिर भी हीगेल का योगदान मार्क्सवाद में कहीं ज्यादा है। उपर्युक्त समाजवादी चिन्तकों ने वर्ग-समन्वय की बात कही थी, परन्तु हीगेल के दर्शन से मार्क्स को संघर्ष की प्रेरणा मिली। उसने हीगेल की द्वन्द्वात्मकता की अवधारणा को भौतिकवाद से जोड़कर 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की अवधारणा विकसित की तथा इसके माध्यम से वर्ग-संघर्ष पर बल दिया।

इस तरह, मार्क्सवाद, फ्रांसीसी समाजवाद एवं हीगेल की विचारधारा का ऋणी रहा है।

प्रश्नः- 19वीं सदी के यूरोप पर मार्क्सवाद के प्रभाव का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तरः- 19वीं सदी में कार्ल मार्क्स ने न केवल पूँजीवाद पर उग्र वैचारिक प्रहार किया, बल्कि श्रमिक आंदोलन की संपूर्ण रणनीति भी प्रस्तुत की। यह दूसरी बात है कि वह अपने लक्ष्य में आंशिक रूप से ही सफल रहा।

मार्क्स के द्वारा उठाए गए कदम-

1. पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पर चोट करते हुए सर्वहारा क्रान्ति की रूपरेखा प्रस्तुत की।
2. ब्रिटेन के श्रमिकों को संगठित करने के लिए वर्किंग मैन एसोसिएशन का गठन किया।
3. 1864 में सोशलिस्ट इंटरनेशनल का गठन कर श्रमिकों में क्रान्ति की चेतना जगाने का प्रयास किया।

प्रभाव-

ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में श्रमिक गतिविधियाँ बढ़ गईं। उदाहरण के लिए, 1871 में पेरिस कम्यून, जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रगति तथा ब्रिटेन में लेबर पार्टी का गठन। परन्तु मार्क्स के जीवनकाल में कहीं भी सफल सर्वहारा क्रान्ति घटित नहीं हो सकी।

फिर भी, हम इतना तो मान ही सकते हैं कि भले ही उसने पूँजीवाद का अन्त नहीं किया, किन्तु पूँजीवाद का व्यवहार तो अवश्य ही बदल डाला। अब यूरोप की पूँजीवादी सरकारें श्रमिकों के बीच कल्याणकारी कार्य कर रही थीं तथा उनके बीच मताधिकार का विस्तार कर रही थीं।

अपनी आंशिक सफलता के बावजूद मार्क्सवाद लगभग 150 वर्षों तक पूँजीवादी विश्व के लिए सबसे बड़ी चुनौती बना रहा।

अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण

19वीं सदी के प्रमुख विचारक एवं उनका प्रभाव

वह विचारक जिन्होंने 19वीं सदी के इतिहास पर सबसे अधिक प्रभाव डाला, वे थे- कार्ल मार्क्स, चार्ल्स डार्विन और फ्रैडरिक नीत्से। जैसा कि हमने देखा कार्ल मार्क्स ने आर्थिक संबंधों की वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से व्याख्या करने की कोशिश की थी। उसी प्रकार चार्ल्स डार्विन ने मानव तथा विभिन्न जीव-जंतुओं की उत्पत्ति की व्याख्या वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से की। उसने 1859 में ऑरिजिन ऑफ स्पेशीज़ (Origins of Species) की रचना की। उसमें उसने यह दिखाने का प्रयास किया कि इस पृथ्वी पर मानव का विकास क्रमिक रूप में हुआ। विभिन्न जीव-जंतुओं में संघर्ष होता रहा था। इनमें जो कमज़ोर थे, वे मिट गए और जो शक्तिशाली थे, वे बढ़कर आगे आए। इस तरह कमज़ोर प्रजाति से धीरे-धीरे शक्तिशाली प्रजाति का विकास हुआ। इसी आधार पर योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of Fittest) की अवधारणा निकलकर आई। डार्विन की विचारधारा ने निम्नलिखित प्रभाव पैदा किया-

प्रथम, इस विश्व की उत्पत्ति के संदर्भ में जो ईसाई धर्म की अवधारणा थी, जिसके तहत इस पृथ्वी को महज़ कुछ हज़ार वर्ष पुराना माना गया था, ध्वस्त हो गई तथा पृथ्वी के उद्भव के संबंध में एक वैज्ञानिक विचारधारा उभरकर आई। दूसरे, यद्यपि चार्ल्स डार्विन का विचार तो पृथ्वी एवं जीव-जंतुओं की उत्पत्ति के संदर्भ में था परंतु कुछ व्यक्तिवादी चिंतकों ने इसे सामाजिक संबंधों में भी लागू करने का प्रयास किया। इसे सामाजिक डार्विनवाद (Social Darwinism) के नाम से जाना गया। ऐसा ही एक चिंतक था हर्बर्ट स्पेंसर। उसने डार्विन से पहले ही सामाजिक संदर्भ में योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत को प्रतिपादित करने का प्रयास किया था। फिर डार्विन के विकास के आगमन के पश्चात् इस विचार को और भी प्रोत्साहन मिला। हर्बर्ट स्पेंसर मार्क्स के बिलकुल विपरीत था। अगर मार्क्स उग्र समाजवादी था तो हर्बर्ट स्पेंसर उग्र व्यक्तिवादी। हर्बर्ट स्पेंसर का मानना था कि समाज में भी प्रतिभाशाली व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर मिलना चाहिये और कमज़ोर लोगों को मिट जाना चाहिये। अपने इसी विचार के प्रभाव में उसने सरकार के द्वारा कल्याणकारी कार्य किये जाने का विरोध किया। उसके विचार में इससे राज्य के धन का अपव्यय होगा और कमज़ोर को बचाने का प्रयास व्यर्थ है। इसी आधार पर युद्ध को भी उचित करार दिया क्योंकि इसके माध्यम से कमज़ोर मिट जाते हैं और शक्तिशाली को आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। स्पेंसर के इस विचार ने अमेरिकी पूंजीपतियों पर गहरा प्रभाव डाला और उन्होंने खुली प्रतिस्पर्द्धा पर बल दिया। आगे यूरोप में मुसोलिनी और हिटलर जैसे उग्र राष्ट्रवादियों की चेतना पर भी सामाजिक डार्विनवाद का प्रभाव देखा गया।

19वीं सदी का ही एक दूसरा चिंतक था नीत्से। उसकी सोच भी रेडिकल अथवा मूल परिवर्तनवादी थी। उसने प्लेटो के काल से लेकर 19वीं सदी तक जितने भी विचार थे, उन सभी को चुनौती दे डाली। उसने घोषित किया कि न तो कोई एकमात्र सत्य और न ही सत्य की ओर जाने वाला कोई एक मार्ग। एक तरह से अगर देखा जाए तो यह विचारधारा उत्तर-आधुनिकतावाद की भी पूर्वगामी बन गई।

इन चिंतकों के ठीक बाद 20वीं सदी के आरंभिक दशक में एक क्रांतिकारी विचारधारा लेकर एक और चिंतक आया, वह था सिग्मंड फ्रायड। अगर मार्क्स ने वैज्ञानिक पद्धति को आर्थिक क्षेत्र में लागू किया था और डार्विन ने इसे पृथ्वी और मानव के विकास के संदर्भ में तो फ्रायड ने इसे मानव की सोच और जीवन के दृष्टिकोण के अध्ययन के संदर्भ में लागू किया। उसने जिस पद्धति का विकास किया उसे मनोविश्लेषण (Psycho Analysis) का नाम दिया जाता है। उसने मानव के व्यक्तित्व के मूल्यांकन का आधार ही बदल दिया तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि मानव का कार्य-व्यवहार उसके चेतन (Concious) मस्तिष्क की तुलना में अवचेतन (Unconcious) मस्तिष्क से अधिक प्रभावित होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब किसी व्यक्ति को अच्छे तथा बुरे दो भिन्न ध्रुवों में बांटकर देखना मुश्किल हो गया। उसी प्रकार तर्कवाद जैसी अवधारणा को भी चुनौती मिली क्योंकि भले ही हमारा चेतन मन तर्क को स्वीकार कर सकता है परंतु अवचेतन मन अपने मन से व्यवहार करता है।

उपर्युक्त सभी चिंतकों ने 19वीं सदी से लेकर आरंभिक 20वीं सदी के इतिहास को एक भिन्न दिशा दे दी और अप्रत्यक्ष रूप में प्रथम विश्वयुद्ध में भी उनका योगदान रहा।

■■■

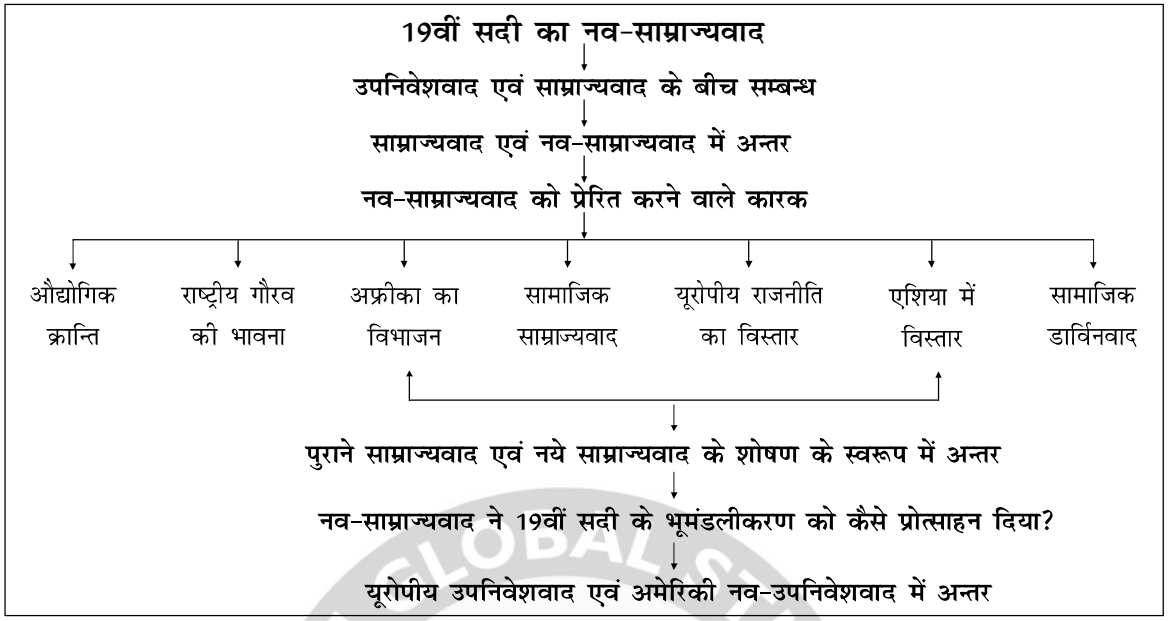

■ **उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के बीच संबंध:-**

• 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग 19वीं सदी के अंत में आरंभ हुआ। 'साम्राज्यवाद' एवं 'उपनिवेशवाद' इन दोनों शब्दों के संबंधों को लेकर काफी विवाद है, परन्तु कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि अगर उपनिवेशवाद एक दृष्टिकोण है, तो साम्राज्यवाद उसका क्रियान्वयन। दूसरे शब्दों में, सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि अगर एक देश, दूसरे देश पर राजनीतिक, आर्थिक नियंत्रण स्थापित कर लेता है, तो वह साम्राज्यवाद की स्थिति है। वहीं अगर संबंधित देश के शोषण के संदर्भ में वह कोई निश्चित नीति अपनाता है, तो उसे 'उपनिवेशवाद' का नाम दिया जाता है।

■ **साम्राज्यवाद एवं नव-साम्राज्यवाद में अंतर:-**

• सामान्यत: यूरोपीय साम्राज्यवाद को दो चरणों में देखा जाता है। प्रथम चरण भौगोलिक खोज के साथ 16वीं, 17वीं सदी में आरंभ हुआ। यह वाणिज्यवादी आर्थिक दर्शन पर आधारित था। इसे 'साम्राज्यवाद' के नाम से जाना गया। यह लगभग तीन शताब्दियों तक चला, किंतु 18वीं सदी के अंत तक इसका पतन हो गया। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. **अमेरिकी क्रांति**- एक आंदोलन के पश्चात् विश्व के सबसे पहले उपनिवेश के रूप में 1783 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका स्वतंत्र हो गया। यह पुरानी औपनिवेशिक नीति के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया थी।
2. एडम स्मिथ द्वारा अपनी पुस्तक **'वेल्थ ऑफ नेशन्स'** में वाणिज्यवाद की आलोचना की गई तथा मुक्त अर्थव्यवस्था के सिद्धांत पर बल दिया गया। उनका यह मानना था कि उपनिवेशवाद से प्राप्त लाभ उपनिवेश के लिए किए गए व्यय की तुलना में कम होता है। आगे कॉबडेन नामक एक ब्रिटिश विचारक और नेता ने घोषित किया कि ब्रिटेन के लिए सुखद स्थिति यह होगी कि वह अपने उपनिवेश के प्रत्येक क्षेत्र को स्वतंत्र कर दे।
3. 19वीं सदी के आरंभ में साइमन बोलिवर के नेतृत्व में **लैटिन अमेरिका स्थित स्पेन के उपनिवेशों में स्वतंत्रता** आंदोलन का आरंभ तथा इस आंदोलन के पश्चात् उपनिवेशों का स्वतंत्र हो जाना।
4. 1823 ई. में **मुनरो सिद्धांत की घोषणा** ने अमेरिकी महाद्वीप में यूरोपीय साम्राज्यवाद को गहरा धक्का पहुँचाया।

• फिर साम्राज्यवाद का दूसरा चरण 1870 के दशक तथा उसके पश्चात् परिवर्तित रूप में प्रकट हुआ तथा प्रथम विश्व युद्ध तक एशियाई-अफ्रीकी महाद्वीपों में यूरोपीय शक्तियों का उग्र विस्तार होता रहा। इसे मूलत: औद्योगिक क्रांति से प्रेरणा मिली। इसे 'नव-साम्राज्यवाद' के नाम से जाना गया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इस साम्राज्यवाद को धक्का लगा तथा एशिया एवं अफ्रीका में उपनिवेश

मुक्ति की प्रक्रिया आरंभ हुई और 1980 के दशक तक अधिकांश देश स्वतंत्र हो गए। परंतु कुछ आलोचकों का मानना है कि उपनिवेशवाद समाप्त नहीं हुआ, उसने केवल अपना रूप परिवर्तित किया। इसे 'नव-उपनिवेशवाद' के नाम से जाना गया।

उपहार प्रणाली

- 16वीं सदी तथा 18वीं सदी के बीच यूरोपीय कंपनियों के द्वारा जो सामग्रियाँ उपनिवेशों से प्राप्त की गईं, उसे 'उपहार प्रणाली' के नाम से जाना गया क्योंकि यूरोपीय कंपनियों ने जो प्राप्त किया उसके बदले संबंधित उपनिवेश को कुछ प्राप्त नहीं हुआ। उपहार प्रणाली के निम्नलिखित पहलू थे-

1. अमेरिकी महाद्वीप से यूरोपीय कंपनियों को बड़ी मात्रा में सोने एवं चाँदी के रूप में कीमती धातु प्राप्त हुई।
2. यूरोपीय कंपनियाँ आरंभ में अमेरिका से प्राप्त कीमती धातु के माध्यम से एशियाई उत्पाद खरीदती रही थीं। परंतु आगे चलकर जब उन्होंने इस भू-भाग पर कब्जा कर लिया और यहाँ से राजस्व वसूलने लगे, तो फिर उस राजस्व की रकम से ही क्षेत्रीय उत्पाद खरीद कर मुनाफा कमाने लगे और कीमती धातु का आना बहुत कम हो गया। अत: यह सामग्रियाँ अब उपहार बन गईं क्योंकि यह एशिया से यूरोप की ओर एकतरफा हस्तांतरण था।
3. यूरोपीय कंपनियों के द्वारा सामुद्रिक मार्ग पर भी एकाधिकार स्थापित किया गया। फिर तटकर एवं चुंगी की वसूली की जाने लगी और फिर उसके माध्यम से क्षेत्रीय उत्पादों की खरीद की गई।
4. इस काल में महानगरीय राज्य का बल उपनिवेश से केवल व्यापारिक वस्तुओं के दोहन पर रहा था। संबंधित उपनिवेश की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन लाने में रुचि नहीं दिखाई गई।

■ **नव-साम्राज्यवाद को प्रेरित करने वाले कारक:-**

1. **औद्योगिक क्रांति का प्रभाव**- हॉब्सन, लेनिन, रोजा लक्जेमबर्ग तथा रुडोल्फ हिलफर्डिंग जैसे विद्वानों ने साम्राज्यवाद के प्रसार को पूँजीवाद से जोड़कर देखा है। निम्नलिखित रुप में पूँजीवाद को एक प्रेरक कारक माना जा सकता है-
   i. औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार की जरूरत- विशेषकर इसलिए क्योंकि यूरोपीय देशों के द्वारा एक-दूसरे पर चुंगी आरोपित कर अपने बाजार को बंद करने का प्रयास किया गया। वस्तुत: 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश सरकार ने यह महसूस किया कि जर्मनी एवं संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य व्यावसायिक प्रतिद्वंद्वियों के द्वारा बहुत ही कड़ाई से संरक्षणवादी नीति को लागू किया जा रहा था। यही वजह है कि यूरोपीय देशों ने अपनी औद्योगिक वस्तुओं के बाजार के लिए उपनिवेशों की ओर देखा।
   ii. कच्चे माल की प्राप्ति के लिए अन्य महाद्वीपों के संसाधनों का दोहन करना।
   iii. औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप संचित पूँजी के निवेश के लिए नए क्षेत्रों पर नियंत्रण।
2. **राष्ट्रीय गौरव की भावना**- औद्योगिक क्रांति निश्चय ही एक कारण रहा था, परन्तु यही एक मात्र कारण नहीं था। हमारे समक्ष ऐसे देशों के भी उदाहरण मिलते हैं जो औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे नहीं थे, परंतु साम्राज्यवाद के मोर्चे पर काफी आगे हो चुके थे। इसका उदाहरण है फ्रांस। अत: कहीं न कहीं साम्राज्यवाद का प्रसार राष्ट्रीय गौरव की भावना से भी जुड़ चुका था। इतना ही नहीं, अन्य राष्ट्र भी राष्ट्रीय गौरव की भावना से प्रेरित थे। ब्रिटेन गर्व से कहता था कि 'हमारे साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता', तो जर्मनी ने जवाबी नारा दिया कि 'हमें भी सूर्य के नीचे जमीन चाहिए।'
3. **सामाजिक साम्राज्यवाद**- नया साम्राज्यवाद केवल बाह्य कारकों से ही नहीं, बल्कि आंतरिक अथवा घरेलू कारकों से भी प्रेरित रहा था। मार्क्सवाद के प्रसार और बढ़ते हुए वर्ग-संघर्ष की स्थिति से निपटने के लिए एक सुगम उपाय था बाह्य मोर्चे पर आक्रामक नीति अपनाना। अत: यूरोपीय शासकों ने अपनी जनता का ध्यान घरेलू समस्याओं से हटाने के लिए उन्हें साम्राज्यवाद की ओर उन्मुख कर दिया। जर्मन शासक विलियम कैसर को उसके एक नौसैनिक अधिकारी ने कुछ इसी प्रकार का सुझाव दिया कि अगर आप सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) की प्रगति को रोकना चाहते हैं, तो साम्राज्यवाद की दिशा में आगे बढ़िए।
4. **यूरोपीय राजनीति का विस्तार**- 19वीं सदी के यूरोप में चल रही कूटनीति ने भी नए साम्राज्यवाद के प्रसार में अहम भूमिका निभाई। जर्मन चांसलर बिस्मार्क इस बात से भयभीत हो गया था कि अफ्रीका के मामले में यूरोपीय शक्तियों का उलझाव एक बड़े युद्ध को जन्म दे सकता था तथा फिर युद्ध के कारण उसकी कूटनीतिक रणनीति बिगड़ जाती। इसलिए 1884 में उसने एक बर्लिन-अफ्रीकी कांग्रेस का आयोजन कर यूरोपीय शक्तियों के बीच अफ्रीकी महाद्वीप को विभाजित कर दिया।
5. **सामाजिक डार्विनवाद**- सामाजिक डार्विनवाद नस्लीय श्रेष्ठता की भावना से प्रेरित था तथा राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए युद्ध और संघर्ष को अनिवार्य मानता था। अत: सामाजिक डार्विनवाद ने भी आक्रामक विदेश नीति एवं साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया।

- एक दिलचस्प तथ्य यह है कि नया साम्राज्यवाद कहीं न कहीं धार्मिक कारक से भी प्रेरित रहा था। ईसाई मिशनरियाँ अपनी सरकार पर यह दबाव डाल रही थी कि वह नए भू-भाग पर कब्जा करें, ताकि वहाँ ईसाई धर्म का प्रसार किया जा सके।

अभ्यास प्रश्नः-

1. *'19वीं सदी का नव-साम्राज्यवाद राष्ट्रीय गौरव की भावना से प्रेरित था, न कि आर्थिक कारक से।' इस कथन का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।*
2. *क्या आप 19वीं सदी के नव-साम्राज्यवाद के लिए महज औद्योगिक क्रान्ति को उत्तरदायी मानते हैं? अपने मत के पक्ष में उत्तर दीजिए।*

■ **अफ्रीका का विभाजन** -

- अफ्रीका महाद्वीप, यूरोप के सबसे निकट था फिर भी 18वीं सदी के मध्य तक यूरोपीय उपनिवेशकर्त्ता केवल तटीय क्षेत्र तक सीमित थे। परंतु 19वीं सदी के अंतिम दशकों में अफ्रीकी महाद्वीप की ओर यूरोपीय देशों का आकर्षण इतना बढ़ गया कि अफ्रीका 1880 के दशक में 20 वर्षों के अंदर ही विभाजित हो गया। यह यूरोपीय शक्तियों के बीच अफ्रीका के बंदरबाँट (Scramble for Africa) का परिणाम था।
- **19वीं सदी के अंत में अफ्रीका की ओर यूरोपीय देशों के आकर्षण के कारणः-**

1. 'कुनैन' नामक औषधि की खोज के बाद मलेरिया जैसी बीमारी से लड़ना संभव हुआ। इसके अतिरिक्त, मशीनगन के आविष्कार ने भी यूरोपीय उपनिवेशकर्त्ताओं के लिए जनजातीय मुखियाओं को हराकर अफ्रीका की मुख्य भूमि में विस्तार करना आसान बना दिया।
2. अफ्रीका में होने वाले कुछ खास उत्पादों की ओर यूरोपीय देश आकर्षित हुए। ये उत्पाद थे- पाम ऑयल, प्लैटिनम, स्वर्ण, रबड़ तथा कुछ अन्य प्रकार के खनिज आदि।
3. फिर, औद्योगिक क्रांति के पश्चात् कच्चे माल एवं बाजार की जरूरत को पूरा करने के लिए यूरोपीय शक्तियाँ अफ्रीकी महाद्वीप की ओर आकर्षित हुईं।
4. **यूरोपीय कूटनीति का विस्तार**- तात्कालिक रूप में यह यूरोपीय कूटनीति का विस्तार था। अफ्रीका के मुद्दे पर यूरोपीय शक्तियों के बीच इतनी प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई थी कि यह एक अखिल यूरोपीय युद्ध का रूप ले सकता था। दूसरी तरफ, जर्मन चांसलर बिस्मार्क प्रत्येक स्थिति में युद्ध की स्थिति को टालना चाहता था। इसलिए उसकी अध्यक्षता में **1884 में बर्लिन-अफ्रीकी कांग्रेस का आयोजन** हुआ। इसमें 14 देशों ने हिस्सा लिया तथा इस कांग्रेस में अफ्रीका को विभाजित कर दिया गया। केवल लाइबेरिया एव इथियोपिया बचे रहे। हिस्सा लेने वाले 14 देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका और ऑटोमन साम्राज्य भी शामिल थे। परंतु आश्चर्य का विषय यह है कि इसमें किसी भी अफ्रीकी देश को प्रतिनिधित्व नहीं मिला।

- **यूरोपीय शक्तियों के बीच भू-भागीय क्षेत्रों का वितरण**- 1884 की बर्लिन-अफ्रीकी कांग्रेस के पश्चात् अफ्रीकी महाद्वीप का विभाजित परिदृश्य कुछ इस प्रकार था-

ब्रिटेन - मिस्र, सूडान, केन्या, युगाण्डा आदि।
फ्रांस - उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका का एक बड़ा भाग; यथा- अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनीशिया आदि।
इटली - लीबिया, सोमाली लैंड आदि।
जर्मनी - कैमरून, नामीबिया, तंजानिया आदि।
बेल्जियम - काँगो।

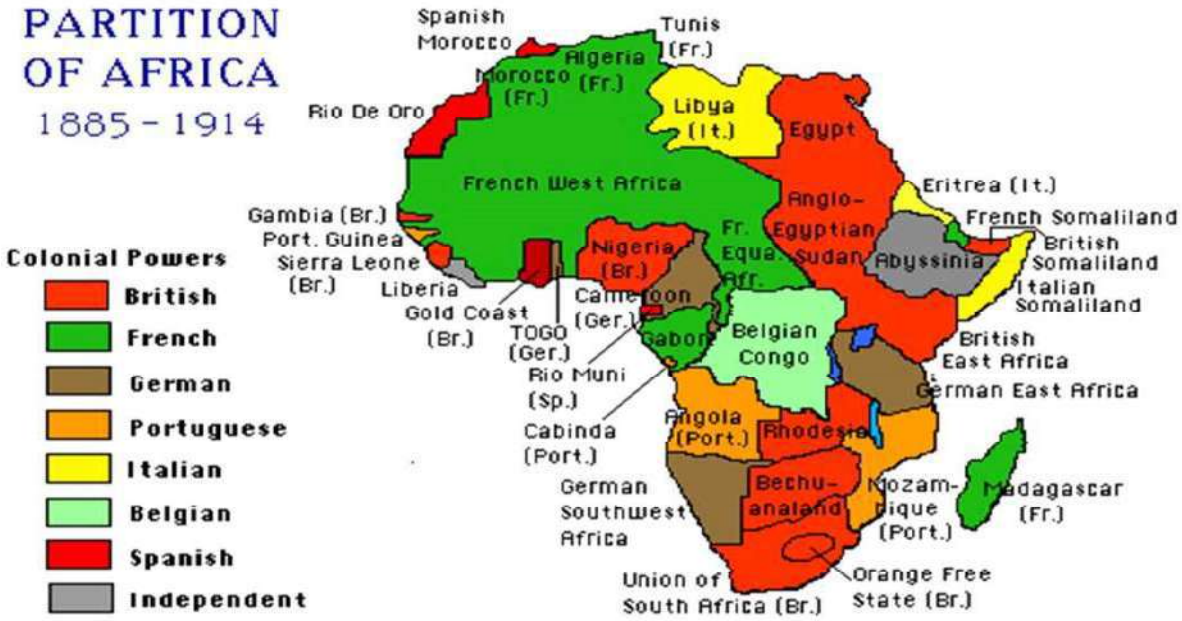

■ **विभाजन का प्रभाव**– इसका राजनीतिक एवं आर्थिक, दोनों प्रभाव देखा गया।

- **राजनीतिक प्रभाव**– अफ्रीकी समाज मुख्यत: एक जनजातीय समाज था। अत: वहाँ सामुदायिकता की मुख्य पहचान जनजातीय थी। परंतु यूरोपीय शक्तियों ने अपने साम्राज्यवादी हित के अनुकूल उन सभी को राष्ट्र का आकार दे दिया और वेस्टफेलिया पद्धति के अनुकूल एक निश्चित भौगोलिक सीमा निर्धारित कर दी। किंतु इसने अफ्रीकी महाद्वीप में एक नए प्रकार की जटिलता को जन्म दिया। या तो कुछ शत्रु जनजातियाँ एक राष्ट्र की सीमा के अंदर आ गईं या एक विशिष्ट जनजाति समूह के लोग दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों की सीमा में बँट गए। इसने अफ्रीकी महाद्वीप में अस्थिरता को जन्म दिया। उपनिवेश मुक्ति के पश्चात् इथियोपिया और सूडान विभाजित हो गया, जबकि कुछ अन्य अफ्रीकी राष्ट्र गृहयुद्ध के शिकार हो गए।
- **आर्थिक प्रभाव**– इसका आर्थिक प्रभाव भी विनाशक सिद्ध हुआ। व्यावहारिक रूप में अफ्रीकी अर्थव्यवस्था दो क्षेत्रक में बँट गई, बाह्य क्षेत्रक और आंतरिक क्षेत्रक। बाह्य क्षेत्रक पर विदेशी पूँजी का कब्जा हो गया, जबकि आंतरिक क्षेत्रक निम्न गुणवत्ता, निम्न तकनीकी पर आधारित एक पिछड़ा क्षेत्र बना रहा। इसलिए अफ्रीकी संसाधनों का लाभ उपनिवेशकर्त्ता देश को तो मिला, परंतु अफ्रीकी देशों को भूख और गरीबी ही मिली।

प्रश्न : यूरोपीय प्रतिस्पर्द्धा की दुर्घटनाओं के द्वारा अफ्रीका को कृत्रिम रूप से निर्मित छोटे-छोटे राज्यों में काट दिया गया। विश्लेषण कीजिए। (UPSC, 2013)

उत्तर:– अफ्रीका महादेश अन्य महाद्वीपों की तुलना में यूरोप से निकट था। फिर भी 1880 से पूर्व यूरोपीय देशों ने जहाँ अन्य महाद्वीपों में प्रसार करने में विशेष रूचि दिखायी थी, वहीं अफ्रीका में वे तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित रहे थे, किंतु 1880 के पश्चात् उन्होंने अफ्रीका की मुख्य भूमि में तेजी से प्रसार आरंभ किया। इसके परिणामस्वरूप बीस वर्षों के अंदर अफ्रीका विभिन्न टुकड़ों में विभाजित हो गया। अगर हम इसके विभाजन के प्रमुख कारणों पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि जहाँ औद्योगिक क्रांति ने कच्चे माल एवं बाजार की जरूरत के कारण यूरोपीय देशों को अफ्रीका की ओर आकर्षित किया था, वहीं यूरोपीय कूटनीति ने इसका खण्डीकरण कर दिया।

अफ्रीका पर कब्जा जमाने में पहल लियोपोल्ड के अंतर्गत बेल्जियम ने की थी, जब इसने कांगो पर कब्जा कर लिया था। फिर यूरोपीय देशों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा एवं तनाव को कम करने के लिए 1884-85 ई. में 'बर्लिन-अफ्रीकी कांग्रेस' का आयोजन किया गया तथा इसने अफ्रीका महाद्वीप को विभाजित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप ट्यूनीशिया, अल्जीरिया तथा अन्य क्षेत्रों पर फ्रांस का नियंत्रण हुआ। वहीं ब्रिटेन ने मिस्र, सूडान, केन्या, युगांडा आदि क्षेत्रों पर कब्जा जमाया। इतना तक कि इटली एवं जर्मनी जैसे राष्ट्र भी, जिनका निर्माण बाद में हुआ था, इस दौर में पीछे नहीं रहे। इटली तथा जर्मनी को भी अफ्रीका में एक बड़ा भू-भाग प्राप्त हुआ। फिर जैसाकि हम जानते हैं अफ्रीकी समाज एक जनजातीय समाज था, किंतु यूरोपीय राष्ट्रों ने उस पर राष्ट्रीय-राज्य व्यवस्था को आरोपित करने का प्रयास किया। किंतु यह व्यवस्था अफ्रीकी समाज के अनुकूल नहीं रही। यही वजह रही कि यूरोपीय शक्तियों के निकलने के बाद जनजातीय तनाव, गृहयुद्ध तथा विघटन वहाँ आम घटना बन गई।

इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ औद्योगिक क्रांति ने अफ्रीका महाद्वीप के विखण्डीकरण का रास्ता तैयार किया, वहीं यूरोपीय कूटनीति ने इसे क्रियान्वित कर दिया।

■ **एशिया में साम्राज्यवाद का विस्तार**–

- पुराने साम्राज्यवाद के चरण में ही यूरोपीय शक्तियों का एशिया में प्रसार हो रहा था, फिर नव-साम्राज्यवाद के युग में उन्होंने नये क्षेत्रों पर कब्जा किया तथा अपना नियंत्रण बढ़ाया। (वस्तुत: मुनरो सिद्धांत के पश्चात् अटलांटिक के पश्चिमी भाग में विस्तार पर अंकुश लग चुका था।) एशिया में विभिन्न शक्तियों ने निम्नलिखित उपनिवेश स्थापित किए–

ब्रिटेन – भारत, बर्मा, श्रीलंका, ईरान का एक भाग, मलय प्रायद्वीप।
रूस – साइबेरिया, मंगोलिया, ईरान का एक भाग।
जापान – कोरिया, ताईवान आदि।
हॉलैंड – इंडोनेशिया।
फ्रांस – वियतनाम।

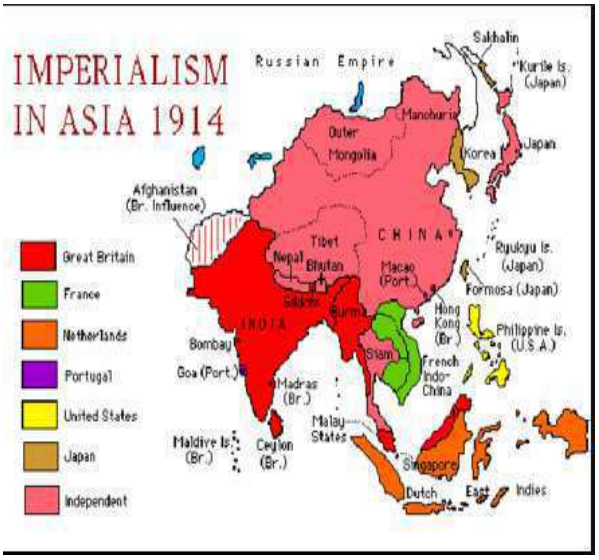

■ **अमेरिकी नव-उपनिवेशवाद-**

- अमेरिकी राष्ट्र के 'जीन' में ही विस्तारवाद और साम्राज्यवाद अंतर्निहित है। वह औद्योगीकरण की बाध्यता के कारण बाजार प्राप्त करने के लिए मजबूर था। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला प्रथम उपनिवेश होने के नाते वह हमेशा उपनिवेशों का वास्तविक हमदर्द होने का दिखावा करता था।
- सबसे पहले इसने 'मैनिफेस्ट डेस्टिनी' के नारे के साथ पश्चिम की ओर विस्तार किया। यह प्रक्रिया अलास्का, प्यूर्टो रिको और हवाई द्वीप आदि के अधिग्रहण तक जारी रही। जैसे ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने अति उत्पादन की समस्या का सामना किया, वैसे ही उसने एशिया-प्रशांत क्षेत्र में नौसैनिक विस्तार की योजना बनाई। फिर वर्ष 1898 में स्पेन के विरुद्ध युद्ध लड़ते हुए इसने फिलीपींस और क्यूबा को स्वतंत्र करवाया। फिर अमेरिका ने फिलीपींस को एक अर्द्ध-उपनिवेश में परिवर्तित कर दिया और यह दर्शाने का प्रयास किया कि फिलीपींस के विकास के लिये हमें फिलीपींस में होना आवश्यक है। औपनिवेशिक महत्त्वाकांक्षा को एक ब्रिटिश विद्वान रूडयार्ड किपलिंग ने 'श्वेतों का अधिभार' (White Man's Burden) जैसी विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया। इसके अनुसार अश्वेत लोगों को सभ्य बनाना श्वेत लोगों का दायित्व है। इसे अमेरिकी नव-साम्राज्यवाद के नाम से जाना गया।

प्रश्नः- 19वीं सदी के अंत में फिलीपींस के संदर्भ में अमेरिकी नव-उपनिवेशवाद इंडोनेशिया में डच उपनिवेशवाद और वियतनाम में फ्राँसीसी उपनिवेशवाद से पृथक् था। परीक्षण कीजिये।

(Keywords- नव-उपनिवेशवाद का अर्थ, फिलीपींस में अमेरिकी उपनिवेशवाद, इंडोनेशिया में डच एवं वियतनाम में फ्राँसीसी उपनिवेशवाद की चर्चा, फिलीपींस के संदर्भ में अमेरिकी नव-उपनिवेशवाद पृथक् कैसे, निष्कर्ष।)

उत्तरः- उपनिवेशवाद का शाब्दिक अर्थ किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा किसी निर्बल, किंतु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र पर अधिकार कर अपने हितों को साधना है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिकतर पराधीन उपनिवेश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गए, परंतु परोक्ष रूप से किसी-न-किसी तरह उपनिवेशवाद का शिकार बने रहे, ऐसी स्थिति नव-उपनिवेशवाद के रूप में देखी जाती है। 19वीं सदी के अंत में औद्योगीकरण के फलस्वरूप यह प्रवृत्ति फिलीपींस, इंडोनेशिया एवं वियतनाम जैसे देशों में देखने को मिलती है।

फिलीपींस में अमेरिकी उपनिवेशवादः अमेरिका ने 1898 में स्पेन से युद्ध कर क्यूबा एवं फिलीपींस पर कब्ज़ा कर लिया। फिलीपींस पर उपनिवेश के रूप में प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक शोषण किया। किंतु, जब यहाँ राष्ट्रीय भावना जागृत हुई, तो फिलीपींस को अर्द्ध-उपनिवेश का दर्जा देकर कहा कि फिलीपींस के विकास के लिये अमेरिका का होना आवश्यक है। इसी समय साम्राज्यवादी लेखक रुडयार्ड किपलिंग ने श्वेतों के अधिभार की अवधारणा दी और कहा अश्वेत लोगों को सभ्य बनाने के लिये श्वेतों का होना आवश्यक है।

इंडोनेशिया और वियतनाम में डच एवं फ्राँसीसी उपनिवेशः इन उपनिवेशों में निरंकुश शासन की स्थापना कर अत्यधिक शोषण किया गया, साथ ही डच कल्चर प्रणाली एवं भारी कर लगाकर संसाधनों का दोहन किया गया तथा लोगों को गुलाम बनाकर रखा गया।

परंतु, जब इन उपनिवेशों की तुलना करते हैं तो ज्ञात होता है कि अमेरिकी उपनिवेश की पद्धति इन दोनों से पृथक् थी। अमेरिका ने प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर आर्थिक लाभ के रूप में कच्चा माल एवं बाज़ार प्राप्त किया, परंतु लोगों को अर्द्ध-स्वतंत्रता भी प्रदान की, जिसमें शासन चलाने, आत्मरक्षा करने की स्वतंत्रता आदि शामिल थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इंडोनेशिया एवं वियतनाम में ऐसी स्थिति देखने को नहीं मिली।

■ **पुराने साम्राज्यवाद एवं नव-साम्राज्यवाद के शोषण के स्वरूप में अन्तर-**

- **पुराना साम्राज्यवाद**- यह वाणिज्यिक पूँजीवाद से प्रेरित था, अतः इसने निम्नलिखित रूप में शोषण को अंजाम दिया-

1. उपनिवेशों से प्राप्त रकम से ही वहाँ के उत्पादों की खरीद करना अर्थात् बदले में उपनिवेशों को कोई लाभ प्राप्त नहीं।
2. उन उपनिवेशों से, जहाँ कीमती धातु उपलब्ध थी, कीमती धातु की लूट करना।

- **नव-साम्राज्यवाद**- यह औद्योगिक पूँजीवाद के हित से प्रेरित था, अतः इसने निम्नलिखित रूप में शोषण को अंजाम दिया-

1. उपनिवेशों को विनिर्मित वस्तुओं के आयातक एवं कच्चे माल के निर्यातक के रूप में परिवर्तित कर दिया।
2. संबंधित उपनिवेश में उद्योगों का विनाश हुआ, जिसे विऔद्योगीकरण का नाम दिया जाता है।
3. संबंधित उपनिवेश के बाजार का दोहन करने के लिए आधुनिक यातायात एव संचार व्यवस्था के रूप में रेलवे एवं टेलीग्राफ का विकास किया गया।
4. उपनिवेशों में यूरोपीय शिक्षा पद्धति का प्रसार किया गया,

ताकि एक ऐसा वर्ग पैदा हो जिसका आकर्षण मातृदेश (जो उपनिवेश बनाता है) के औद्योगिक उत्पादों की ओर हो। इस प्रकार से औपनिवेशिक समाज विभाजित हो जाता है।

■ **नव-साम्राज्यवादियों ने 19वीं सदी में भूमंडलीकरण को कैसे प्रेरित किया?**

• वर्तमान में विश्व व्यवस्था कुछ ज्यादा ही भूमंडलीकृत हो गई है, परंतु इतिहास में कई दौर ऐसे आए, जब कुछ कारणों से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बल मिला और फिर उस भूमंडलीकरण का अवसान हुआ। ऐसा ही एक काल था 19वीं सदी का विश्व। इस काल में भूमंडलीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला था तथा इसके निम्नलिखित महत्वपूर्ण पहलू थे-

1. **एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में वस्तुओं का आदान-प्रदान**- यह वह काल था जब विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की परस्पर आर्थिक निर्भरता बढ़ गई थी। 18वीं सदी में यूरोप की जनसंख्या में व्यापक वृद्धि हुई और बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों की जरूरत पड़ी। अत: इस काल में यूरोपीय साम्राज्यवादियों के द्वारा अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा एशिया में खाद्यान्नों के उत्पादन पर विशेष बल दिया गया और उन खाद्यान्नों का आयात किया गया। दूसरी तरफ, यूरोप में औद्योगीकरण की गति तेज हो गई थी। अत: यूरोपीय देशों ने अपने औद्योगिक उत्पादों का बड़े पैमाने पर उपनिवेशों में निर्यात किया।
2. **पूँजी का आदान-प्रदान**- जब अन्य महाद्वीपों में कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन मिला, तो बड़े क्षेत्र आबाद हुए। वहाँ से अनाजों का निर्यात किया गया। फिर कृषि उत्पाद एवं कच्चे मालों के संग्रह एवं निर्यात के लिए रेलवे एवं बंदरगाह की जरूरत हुई। अत: पश्चिमी देशों ने अन्य महाद्वीपों में बड़ी मात्रा में पूँजी निवेश करना आरंभ किया, विशेषकर इसलिए क्योंकि उन क्षेत्रों में श्रम सस्ता था, अत: पूँजी पर मुनाफा अधिक मिलता।
3. **नवीन तकनीकी का विकास**- नवीन तकनीकी के बिना यह भूमंडलीकरण संभव नहीं था। इसलिए नवीन तकनीकी के रूप में रेलवे, वाष्पचालित जहाज, स्वेज नहर का निर्माण एवं टेलीग्राफ ने अहम भूमिका निभाई। इन्होंने एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में वस्तुओं का आदान-प्रदान संभव बनाया तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जोड़ने का काम भी किया।
4. **एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या का हस्तांतरण**- यह वह काल था जब यूरोप की जनसंख्या बढ़ रही थी। फिर संसाधन एवं रोजगार की खोज में लगभग 50 मिलियन यूरोपीय लोग अमेरिकी महाद्वीप, अफ्रीका एवं एशिया में प्रवासी के रूप में चले गए। इतना ही नहीं, उन्होंने अन्य महाद्वीपों के लोगों को भी विभिन्न महाद्वीपों में स्थानांतरित किया, ताकि श्रमिकों की समस्या का समाधान हो सके।

• 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक श्रमिकों की समस्या का हल बहुत हद तक दास व्यापार के माध्यम से खोजा गया था। परंतु 19वीं सदी में तथा विकसित हो रही उदारवादी एवं समाजवादी विचारधारा के युग में दास व्यापार नहीं चल सकता था। इसकी तीखी आलोचना शुरू हो गई थी। इसलिए 1833 में दास व्यवस्था का उन्मूलन हो गया, परंतु अब उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए एक नई व्यवस्था विकसित की गई जिसे अनुबंधित श्रमिक अथवा करार-पत्र श्रमिक (Indentured labour) के नाम से जाना गया। इसमें अन्य महाद्वीपों में निवास कर रहे निर्धन लोगों के साथ यूरोपीय उपनिवेशकर्त्ताओं के द्वारा करार-पत्र पर हस्ताक्षर कराया जाता और फिर उन्हें अन्य महाद्वीपों में कुछ वर्षों के अनुबंध पर श्रमिक के रूप में भेज दिया जाता। प्राय: उनको चीनी उद्योग अथवा खनन क्षेत्र में काम करने के लिए भेजा जाता।

• पश्चिमी देशों के द्वारा थोपी गई व्यापार और उद्योग नीति के कारण प्राय: उपनिवेशों में देशी उद्योगों का पतन हो गया था और गहन बेरोजगारी का वातावरण उत्पन्न हो गया था। ऐसे में लोग इस तरह के काम को पकड़ने के लिए विवश होते। भारत में भी बिहार, संयुक्त प्रांत, मध्य भारत, तमिलनाडु आदि क्षेत्रों से बड़ी संख्या में लोग अनुबंधित श्रमिक के रूप में कैरेबियाई क्षेत्र, मॉरीशस आदि क्षेत्रों में भेजे गए। अगर वैश्विक स्तर पर देखा जाए, तो लगभग 150 मिलियन लोगों का स्थानांतरण हुआ।

प्रश्न: अंग्रेज किस कारण भारत से करारबद्ध श्रमिक अन्य उपनिवेशों में ले गए थे? क्या वे वहाँ पर अपनी सांस्कृतिक पहचान को परिरक्षित रखने में सफल रहे हैं? (UPSC-2018)

(Keywords- उपयुक्त भूमिका- करारबद्ध श्रमिक के संदर्भ में, श्रमिकों से करार करने का कारण, श्रमिक जिन देशों में ले जाए गए, करारबद्ध श्रमिकों के वंशज भारतीय संस्कृति का परिरक्षण कैसे कर रहे हैं, कुछ समस्याएँ, उचित सकारात्मक निष्कर्ष।)

उत्तर:-1833 ई. में उदारवादी विचारधारा के फलस्वरूप दास प्रथा का उन्मूलन हुआ। इससे ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उद्योगों में काम करवाने हेतु श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी और इस स्थिति में ब्रिटिश ने भारत में श्रमिकों से करार/अनुबंध किया।

दरअसल ब्रिटेन में औद्योगीकरण के कारण बड़े-बड़े

उद्योगों की स्थापना हुई, जिनसे सूती वस्त्र उद्योग, खनन उद्योग (कोयला, लोहा), रेलवे का विकास हुआ। विशेषकर लोहे को गलाने के लिये कोयला खनन के लिये काफी मज़दूरों की आवश्यकता थी, इसलिये ब्रिटिश द्वारा करार किये गए मज़दूर मुख्य रूप से कैरेबियाई द्वीप समूह (गुयाना, ट्रिनिडाड, टोबैगो) तथा अन्य देशों, जिनमें फिजी, नेटाल शामिल हैं, में भेजे गए एवं तमिलों को मुख्य रूप से मलाया तथा सूरीनाम भेजा गया, जहाँ इनसे अमानवीय परिस्थिति में घंटों काम करवाया जाता था।

इन अनुबंधित श्रमिकों के साथ भारतीय संस्कृति भी गई, जिसके लक्षण वहाँ आज भी देखे जा सकते हैं। जहाँ मॉरिशस में भोजपुरी के साथ-साथ तमिल, हिन्दी एवं मराठी आदि भाषाओं का प्रयोग होता है, वहीं गुयाना में लोग रामायण के साथ मसालों की खुशुबू भी ले गए। इन देशों में होली, दुर्गा पूजा, मुहर्रम आदि त्यौहार भी धूमधाम से मनाए जाते हैं। हालाँकि, साहित्य नोबेल पुरस्कार विजेता वी.एस. नायपॉल, जो अनुबंधित श्रमिकों के वंशज हैं, क्रिकेटर शिव नारायण चंद्रपॉल भारतीय मूल के ही हैं, इन्हें संबंधित क्षेत्र में सांस्कृतिक पहचान पर बल दिये जाने के कारण कई स्थलों पर भेदभाव का शिकार होना पड़ा।

अत: कहा जा सकता है कि जो भारतीय श्रमिक अनुबंधित रूप में गए, वे अपने साथ बंधन के रूप में भारतीय संस्कृति भी ले गए, जिसका वे आज तक भलीभाँति संरक्षण करते आ रहे हैं।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में स्वर्ण-मानक का प्रयोग**- प्रथम अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में स्वर्णमान (Gold Standard) का विकास हुआ अर्थात् दुनिया की प्रमुख मुद्राओं का स्वर्ण के साथ समायोजन हुआ, तभी अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन हो सका। स्वर्णमान एक ऐसी पद्धति थी जिसके माध्यम से स्वाभाविक रूप में विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं के बीच संतुलन होता था। आगे प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् और विशेषकर विश्व आर्थिक मंदी के काल में परिस्थितियों के दबाव में यह पद्धति टूट गई और फिर भूमंडलीकरण को धक्का लगा।

- द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम काल में ब्रेट्टन वुड्स (Bretton Woods) सम्मेलन के आधार पर स्थापित IMF (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष) ने डॉलर को वही भूमिका प्रदान की, जो 19वीं सदी में स्वर्ण मानक को मिली थी, अर्थात् इसके पश्चात् विश्व की प्रमुख मुद्राओं का समायोजन डॉलर के साथ होने लगा था।

6. **विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन**- उस काल में 5-6 शक्तियाँ अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन कर रही थीं। ये शक्तियाँ थीं- संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, फ्रांस तथा ऑस्ट्रिया। ये शक्तियाँ एक देश के द्वारा दूसरे देश को दिए गए ऋण की गारंटी देती थी। वर्तमान में यही भूमिका विश्व बैंक निभाती है।

प्रश्न:- 19वीं सदी का नव-साम्राज्यवाद राष्ट्रवादी कारक की उपज था, न कि औद्योगिक क्रांति की। क्या आप सहमत हैं?

*(**प्रश्न विश्लेषण:** यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Argumentative' है। यहाँ 'Keywords' हैं- 'राष्ट्रवादी कारक', 'औद्योगिक क्रांति', 'क्या आप सहमत हैं?' इस प्रश्न का झुकाव इस बात पर है कि राष्ट्रवाद के साथ-साथ औद्योगिक क्रांति की भूमिका को भी स्वीकार किया जाना चाहिये।)*

उत्तर:- नव-साम्राज्यवाद को प्रेरित करने में राष्ट्रीयतामूलक तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, फिर भी आर्थिक कारक के महत्त्व को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

जैसा कि हम जानते हैं कि नव-उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद राष्ट्रीय गौरव के उद्देश्य से भी प्रेरित रहा था। अधिक-से-अधिक क्षेत्रों को औपनिवेशिक नियंत्रण में लेना राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का विषय बन गया था। अलग-अलग देशों के द्वारा अलग-अलग नारे अपनाए गए। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन की घोषणा थी कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता, तो जर्मन लोगों का नारा था कि हमें भी सूर्य के नीचे ज़मीन चाहिये। अमेरिका की घोषणा थी '20वीं सदी अमेरिकावासियों के लिये है', जापानियों का आकर्षक नारा था कि 'एशिया, एशियावालों के लिये है'। फिर फ्राँस जैसे राष्ट्र के लिये, जो साम्राज्यवादी प्रसार में सबसे आगे था, राष्ट्रीय गौरव की भावना महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरणा का काम कर रही थी, विशेषकर इसलिये, क्योंकि औद्योगीकरण की दृष्टि से फ्राँस, यूरोपीय देशों से पीछे था। अगर गौर से देखा जाए तो यूरोपीय सरकारों के द्वारा राष्ट्रीय गौरव पर बल देकर लोगों का ध्यान आंतरिक समस्याओं से खींचकर बाह्य मुद्दों की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया जा रहा था।

परंतु, फिर भी इसका पूरा उत्तरदायित्व महज़ राष्ट्रवादी कारक को नहीं दिया जा सकता। इसमें औद्योगिक क्रांति ने भी महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक का काम किया। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप कच्चे माल की प्राप्ति, तैयार माल की खपत एवं वित्त निवेश के लिये उपनिवेशों की ज़रूरत हुई। 1870 के दशक तथा उसके पश्चात् यूरोपीय देश एशियाई और अफ्रीकी उपनिवेश की ओर उन्मुख हुए। फिर उग्र राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय गौरव की भावना ने नव-साम्राज्यवाद के लिये उत्प्रेरक का कार्य किया। यही वजह है कि हम राष्ट्रीयतामूलक कारक को महत्त्व देते हुए भी आर्थिक कारक की भूमिका को अस्वीकार नहीं कर सकते।

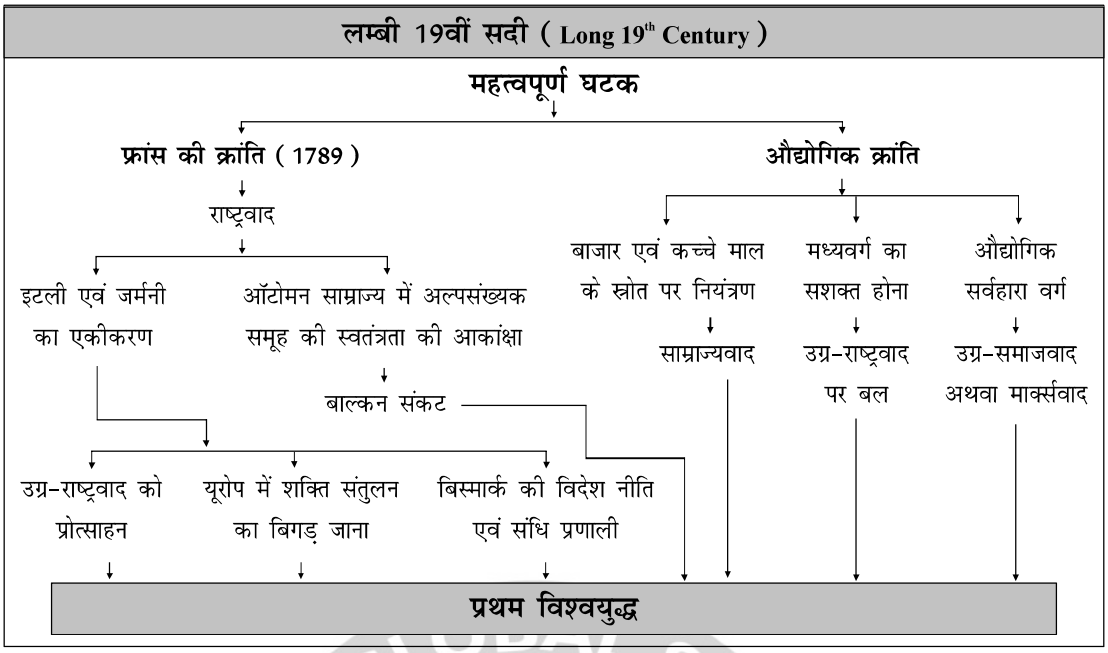

प्रश्नः-19वीं सदी एक अतिदीर्घ सदी थी जो 1789 ई. से आरम्भ होकर 1914 ई. में समाप्त हुई। टिप्पणी कीजिए।

उत्तरः- 19वीं सदी को दीर्घकालीन सदी माना गया है तथा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि यह फ्रांस की क्रांति से आरम्भ हुई थी तथा प्रथम विश्व युद्ध के साथ ही समाप्त हुई। इस विचार को प्रेरित करने के पीछे निम्नलिखित तार्किक आधार हैं-

19वीं सदी दो क्रांतियों की सदी थी- फ्रांस की क्रांति एवं औद्योगिक क्रांति। इन दोनों क्रांतियों ने वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं, जिनके कारण प्रथम विश्व युद्ध घटित हुआ।

- **फ्रांस की क्रांति-**

1. फ्रांस की क्रांति ने राष्ट्रवाद को जन्म दिया, परन्तु इस राष्ट्रवाद ने शीघ्र ही उग्र अथवा आक्रामक राष्ट्रवाद का रूप ले लिया।
2. राष्ट्रवाद के प्रभाव में जर्मनी का एकीकरण हुआ, परन्तु इसके कारण यूरोप में शक्ति संतुलन बिगड़ गया।
3. राष्ट्रवाद के प्रभाव में बाल्कन संकट ने जन्म लिया जिसकी परिणति अंततोगत्वा प्रथम विश्व युद्ध के रूप में हुई।

- **औद्योगिक क्रांति-**

1. औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप बाजार एवं कच्चे माल की प्राप्ति के लिये यूरोपीय शक्तियाँ एक बार फिर साम्राज्यवाद की ओर मुड़ गईं। फिर साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य प्रतिद्वंद्विता ने प्रथम विश्व युद्ध को जन्म दिया।
2. औद्योगिक क्रांति ने एक तरफ जहाँ एक सशक्त मध्य वर्ग को जन्म दिया, वहीं एक सर्वहारा वर्ग का भी मार्ग प्रशस्त किया। फिर मध्य वर्ग में उत्पन्न उग्र-राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय गौरव की भावना ने नव-साम्राज्यवाद के लिये उत्प्रेरक का कार्य किया। दूसरी तरफ सर्वहारा वर्ग पर मार्क्सवाद के प्रभाव ने अधिकांश यूरोपीय देशों में वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहित किया और वहाँ मार्क्सवादी क्रांति का खतरा उत्पन्न होने लगा। इससे सामाजिक साम्राज्यवाद को बल मिला।

अतः उपर्युक्त दोनों क्रांतियों से उत्पन्न राष्ट्रवाद एवं नव-साम्राज्यवाद जैसी विचारधाराओं ने प्रथम विश्व युद्ध को जन्म दिया।

19वीं सदी का भूमंडलीकरण क्या था? इसका संचालन किस प्रकार होता था?

वर्तमान युग से पूर्व भी विश्व भूमंडलीकृत की अवस्था में पहुँच चुका था। ऐसा 19वीं सदी में देखने को मिलता है। इस काल में निम्नलिखित कारकों ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया-

- यातायात एवं संचार व्यवस्था, रेलवे, वाष्पचालित जहाज एवं टेलिग्राफ के विकास तथा स्वेज नहर के खुल जाने से यातायात एवं संचार में गतिशीलता।
- अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में स्वर्ण मानक का उपयोग।
- साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन किया जाता था। अगर कोई भी देश अपने ऋण अधिभार को देने से इंकार कर देते तो फिर इन शक्तियों के द्वारा उससे बलपूर्वक ऋण की वसूली की जाती थी। ऐसा तुर्की के संदर्भ में देखा गया, जब साम्राज्यवादी शक्तियों ने उससे बलपूर्वक ऋण की राशि वसूल की।

साम्राज्यवाद का पश्चिमी देशों पर प्रभाव

साम्राज्यवाद से पश्चिमी देशों को अत्यधिक लाभ मिला। प्रथम, साम्राज्यवादी शोषण से संग्रहित फंड का उपयोग औद्योगीकरण में निवेश के लिये हुआ। दूसरे, 1860 के पश्चात् जब दूसरे औद्योगीकरण का दौर आया तो उन्हें उपनिवेशों से कई तरह के फायदे हुए। इस काल में पूंजीगत उद्योगों में कच्चे माल के रूप में खनन उत्पाद प्राप्त हुए। फिर, उपनिवेशों ने मृतदेश के तैयार माल के

लिये बाज़ार प्रदान किया। उदाहरण के लिये, भारतीय रेलवे के निर्माण के बिना ब्रिटिश रेल एवं इस्पात उद्योग को उतना अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक शक्तियों ने पूंजी निवेश के लिये भी उपनिवेशों का उपयोग किया। तीसरे, पश्चिमी देशों में बढ़ते हुए शहरीकरण के कारण बड़ी मात्रा में कृषि उत्पादों की ज़रूरत पड़ी। अत: पश्चिमी साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों की कृषि अर्थव्यवस्था का भी दोहन किया।

साम्राज्यवाद से औपनिवेशिक शक्तियों को कुछ अप्रत्यक्ष लाभ भी था। वस्तुत: उन देशों में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप एवं औद्योगिक श्रमिक वर्ग स्थापित हो चुका था तथा वर्ग संघर्ष के कारण संबंधित देश में साम्राज्यवाद की प्रगति हो रही थी। ऐसी स्थिति में उपनिवेश से लूट कर लाए गए धन से वे अपने श्रमिकों के लिये कल्याणकारी कार्यक्रम चलाने लगे। फिर, उनके श्रमिक क्रांति के मार्ग से हटते चले गए। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादी मोर्चे पर संबंधित देश की सफलता के कारण लोगों का ध्यान आंतरिक समस्याओं से हटकर बाह्य मोर्चे पर चला गया। इससे भी समाजवाद की प्रगति अवरुद्ध हुई।

उपनिवेशों पर साम्राज्यवाद का प्रभाव

उपनिवेशों पर साम्राज्यवाद का बड़ा ही दुखद एवं पीड़ादायक अनुभव रहा। साम्राज्यवादी शक्तियों ने उपनिवेशों की कृषि संपदा को निचोड़ दिया। फिर, पश्चिमी देशों के औद्योगिक उत्पादों ने उपनिवेशों के हस्तशिल्प उद्योगों को गहरा धक्का पहुँचाया। इस कारण उपनिवेशों में क्रयशक्ति कम हो गई।

सबसे बढ़कर यूरोपीय साम्राज्यवाद ने केवल प्राकृतिक संसाधनों का ही दोहन नहीं किया बल्कि उपनिवेशों में मानव श्रम का भी भरपूर दोहन किया। पूर्व काल में अफ्रीकी महाद्वीप से बड़े पैमाने पर दासों को बेचा गया। परंतु 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक साम्राज्यवादी शक्ति होने तक शोषण का हथकंडा बदलने लगे थे तथा अपनी नई नीति को 'श्वेतों के अधिभार' (Whitemen's burden) का नाम देने लगे थे। अत: अब दास व्यवस्था का स्थान करारबद्ध श्रमिक (Indentured Labour) ने ले लिया था। 19वीं सदी के करारबद्ध श्रमिक को 'दास व्यवस्था की नई पद्धति' का भी नाम दिया जाने लगा था। यह कहा जाता है कि जब ब्रिटिश साम्राज्य के उपर सूरज की चमक आई थी तो पहली चमक चीनी उत्पादक द्वीपों से ही उठी थी। ब्रिटिश साम्राज्य ने कैरिबियन द्वीप मुख्यत: त्रिनिदाद, गुयाना और सुरिनाम, मॉरिशस एवं फिजी में अपने उपनिवेश विकसित किये थे तथा उन क्षेत्रों में करारबद्ध श्रमिकों को भेजना आरंभ किया। इन श्रमिकों को खनन, बागान, रेलवे निर्माण विभिन्न क्षेत्रों में लगाया गया था, परंतु इनका एक बड़ा हिस्सा चीनी उत्पादन में लगाया गया।

अधिकतर करारबद्ध श्रमिक वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत तथा तमिलनाडु से भेजे जाते थे। तमिल मुख्यत: श्रीलंका एवं मलाया भेजे जाते। वस्तुत: 1833-34 में ब्रिटिश उपनिवेशों में जब औपचारिक रूप में दास व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया तो इसकी क्षति-पूर्ति करारबद्ध श्रमिकों (Indentured labour) से की जाने लगी। फिर 1834 और 1900 ई. के बीच लगभग 5 लाख भारतीय केवल मॉरिशस लाए गए। उसी प्रकार करारबद्ध श्रमिकों का पहला समूह गुयाना में 1838 में लाया गया, परंतु 1917 तक उनकी संख्या दो लाख तक पहुँच गई।

अगर हम गहराई से परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि ये करारबद्ध श्रमिक, स्वेच्छा से अन्य देशों की ओर पलायन नहीं करते बल्कि ये शोषणमूलक ब्रिटिश शासन की उपज थे। वस्तुतः ब्रिटिश औद्योगिक नीति के कारण भारतीय हस्तशिल्प उद्योग का पतन हुआ। इस कारण अधिसंख्या में भारतीय बेरोज़गार हो गए। उसी प्रकार भूराजस्व की रकम अत्यधिक रखे जाने के कारण किसान अपनी जमीन से हाथ धो बैठते तथा फिर श्रमिक के रूप में कहीं और जाने के लिये विवश हो जाते। आगे 1900 ई. के पश्चात् भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने इस पद्धति का जमकर विरोध किया। अंत में, 1921 में यह पद्धति समाप्त कर दी गई।

अगर हम संबंधित देशों में इनकी स्थिति पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इनमें से कुछ तो भारत वापस आ गए, परंतु एक बड़ी संख्या संबंधित देश में ही बस गई। वर्तमान मॉरिशस में बहुसंख्यक जनसंख्या भारतीय मूल की ही है। कुछ भारतीय मूल के लोगों ने वैश्विक स्तर पर अपनी पहचान बनाई। इनमें त्रिनिदाद के वी.एस. नॉयपौल प्रमुख हैं, जिन्हें साहित्य का नॉबेल पुरस्कार भी मिल चुका है।

इन विदेशी प्रवासियों ने अधिकतर अपनी संस्कृति एवं पहचान को बनाए रखने का प्रयास किया था। मॉरिशस में भोजपुरी के साथ-साथ हिन्दी, तमिल, तेलुगू, मराठी आदि भाषाओं का भी प्रयोग होता रहा। उसी तरह, भारतीय गुयाना में रामायण की कहानी के साथ मसाले की खुशबू भी लेकर गए। कई बार सांस्कृतिक पहचान पर बल दिये जाने के कारण संबंधित क्षेत्र में सांस्कृतिक तनाव की स्थिति भी आ जाती। फिर, कई स्थलों पर इन्हें भेदभाव का शिकार भी होना पड़ा।

संविधानवाद का विकास

यूरोपीय मध्यवर्ग ने सदा ही सीमित मताधिकार पर बल दिया था, परंतु समाजवादी क्रांति के भय से पूंजीवादी सरकारों ने श्रमिक कल्याण का नया कार्यक्रम शुरू कर दिया तथा संविधान में 'गणतंत्रवादी समाजवाद' जैसा शब्द उल्लिखित किया।

■■■

Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

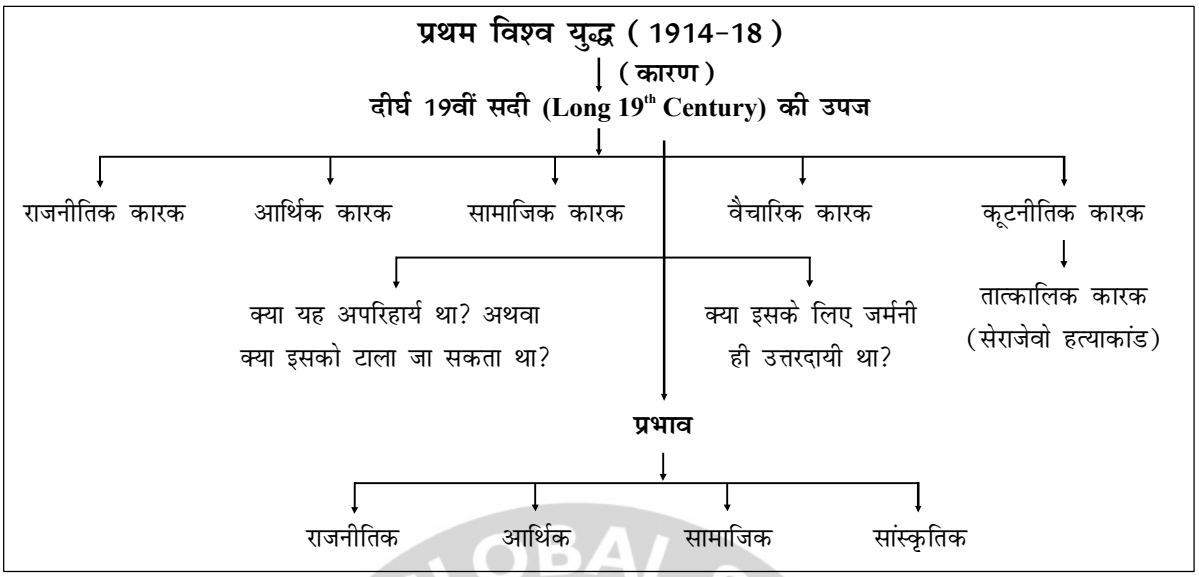

■ **पृष्ठभूमि:-**

• प्रथम विश्व युद्ध उग्र राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद एवं सैन्यवाद का त्रासद परिणाम था। 19वीं सदी की यूरोपीय राजनीति ने जो दिशा पकड़ ली थी वह स्वाभाविक रूप में प्रथम विश्व युद्ध की ओर चली गई। इसी आधार पर 19वीं सदी एक लंबी 19वीं सदी के रूप में जानी जाती है जो 1789 से आरंभ होकर 1914 में समाप्त हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के साथ ही उस सदी का अंत हुआ था।

■ **प्रथम विश्वयुद्ध के कारण:-**

• अगर हम प्रथम विश्व युद्ध के कारणों पर विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि यह युद्ध जटिल परिस्थितियों की उपज था तथा इसके लिए राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक एवं कूटनीतिक कारक सभी उत्तरदायी थे।

1. राजनीतिक कारक:

• 1871 ई. की फ्रैंकफर्ट की संधि के पश्चात् यूरोपीय राजनीति में एक प्रकार का कूटनीतिक आंदोलन हो चुका था और 1907 ई. तक दो सैनिक गुट; यथा- जर्मनी, ऑस्ट्रिया एवं इटली के त्रिगुट तथा ब्रिटेन, फ्रांस एवं रूस के त्रिगुट (Triple Entente) अस्तित्व में आ चुके थे। परंतु ये दोनों रक्षात्मक गुट थे आक्रामक नहीं। फिर भी निम्नलिखित कारणों से गुटबंदी ने यूरोप को युद्ध के कगार पर ला दिया-

i. गुटबंदी के कारण दो देशों के बीच उभरने वाला कोई भी विवाद अनायास ही एक बड़ा अंतर्राष्ट्रीय मुद्दा बन जाता था।

ii. दोनों गुटों ने एक-दूसरे से सशक्त दिखने के लिए व्यापक सैन्य तैयारी आरंभ कर दी। इस कारण नीति-निर्माण का काम धीरे-धीरे राजनीतिक नेतृत्व के हाथों से निकल कर सैनिक नेतृत्व के हाथों में चला गया।

iii. दोनों पक्षों ने अपनी सैनिक तैयारी को उचित करार देने के लिए अपनी जनता को गुमराह किया और शत्रु पक्ष की तैयारी को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने का प्रयास किया। इस कारण जनमत भी दूषित हो गया।

• बाल्कन संकट ने यूरोप की लगभग सभी महत्वपूर्ण शक्तियों को उलझा दिया था तथा अखिल स्लाववादी और अखिल जर्मनवादी आंदोलन ने यूरोप को युद्ध के कगार पर ला दिया।

2. आर्थिक कारक:

i. जर्मन एकीकरण के पश्चात् जर्मनी का तीव्र औद्योगीकरण प्रारंभ हुआ। इस कारण बाजार के लिए ब्रिटेन और जर्मनी के बीच प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई तथा इसने दोनों के बीच तनाव को जन्म दिया।

ii. एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवादी प्रसार के कारण यूरोपीय शक्तियों के बीच टकराहट पैदा होने लगी और अन्य महाद्वीपों में होने वाली टकराहट ने यूरोप में भी तनाव को बढ़ा दिया।

3. सामाजिक कारक:

i. मार्क्सवाद के प्रभाव ने अधिकांश यूरोपीय देशों में वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहन दिया था और वहाँ मार्क्सवादी क्रांति का खतरा उत्पन्न हो रहा था। इस कारण से यूरोपीय सरकारों ने आंतरिक संघर्ष को बाहर की ओर मोड़ने का प्रयास किया। इससे सामाजिक साम्राज्यवाद को बल मिला।

ii. राजनीति में जनता की सक्रियता ने भी एक अलग प्रकार की जटिलता पैदा कर दी। लगभग सभी यूरोपीय सरकारों पर अपने जनमत का दबाव था। जो सरकार पीछे हटती, उसे अपनी जनता के आक्रोश का सामना करना पड़ता।

4. वैचारिक कारक (बौद्धिक कारक):

- 19वीं सदी के कुछ विचारक भी अनजाने ही सही युद्ध को वैधता और प्रोत्साहन दे रहे थे। उदाहरण के लिए, 19वीं सदी के जर्मन दार्शनिक हीगेल ने 'राष्ट्रीय गौरव' पर अत्यधिक बल दिया था और घोषित किया था कि राष्ट्र इस पृथ्वी पर एक दैवीय विचार है। इससे राष्ट्र के प्रति समर्पण के भाव को बल मिला। उसी प्रकार, हरबर्ट स्पेंसर जैसे ब्रिटिश चिंतक द्वारा 'सामाजिक डार्विनवाद' पर बल दिया गया था, जिसमें शक्तिशाली को बढ़ने एवं कमजोर को मिट जाने की प्रवृत्ति को समर्थन देने की बात कही गई थी। उसके विचार में युद्ध इस प्रक्रिया का माध्यम है। बताया जाता है कि यह भी एक कारण था जिससे यूरोप की जनता में युद्ध की प्रवृत्ति को बल मिला। जब ऑस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, तो लाखों लोग वियना की सड़कों पर उतरकर खुशियाँ मना रहे थे।

5. कूटनीतिक कारक:

- युद्ध को रोकने में कूटनीति एक कारगर उपाय सिद्ध हो सकती थी, परंतु निम्नलिखित कारणों से यह कारगर सिद्ध नहीं हो सकी-

i. अमेरिकी विशेषज्ञ हेनरी किसिंगर की पुस्तक 'वर्ल्ड ऑर्डर' के अनुसार, विशेषकर सेडान के युद्ध के पश्चात् तथा रेलवे एवं वाष्पचालित जहाजों के प्रयोग के बाद युद्ध की गति काफी त्वरित हो गई थी, परंतु कूटनीति उस गति से त्वरित नहीं हो सकी, निर्णय लेने में काफी विलंब होता था।

ii. प्रथम विश्व युद्ध से ठीक पूर्व कूटनीतिक प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई थी। यदि कूटनीतिक प्रक्रिया चल रही होती, तो युद्ध का कोई-न-कोई समाधान ढूँढ़ लिया गया होता। जैसा कि हम जानते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण सेराजेवो हत्याकांड था। दरअसल, ऑस्ट्रिया के राजकुमार आर्चड्यूक फर्डिनेण्ड की हत्या बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में कर दी गई। फिर इस हत्या ने प्रथम विश्वयुद्ध का रूप ले लिया। हालाँकि, इससे पूर्व भी इटली एवं पुर्तगाल के शासकों की हत्या हो चुकी थी, परंतु इसके कारण कोई युद्ध घटित नहीं हुआ था। वस्तुतः इस काल में युद्ध घटित होने का बड़ा कारण था- यूरोपीय राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक प्रक्रिया का अवरुद्ध हो जाना। अगर उसकी तुलना हम 1950 तथा 1960 की दशक की विश्व व्यवस्था से करते हैं तो मानो नाटो और वार्सा पैक्ट जैसे दो सैनिक गुट हों, परंतु संयुक्त राष्ट्र संघ अनुपस्थित हो।

■ **क्या प्रथम विश्वयुद्ध को टाला जा सकता था?**

- **पक्ष में**- यह सही है कि 20वीं सदी के आरंभिक दशक तक साम्राज्यवाद, सैन्यवाद, उग्र राष्ट्रवाद सभी एक जटिल स्थिति में पहुँच गए थे। विभिन्न देशों के बीच तनाव काफी बढ़ गया था। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के साम्राज्यवादी विभाजन के पश्चात् यूरोपीय शक्तियाँ अब यूरोप में लौटने लगी थीं। इस कारण बाल्कन समस्या संकटपूर्ण स्थिति में पहुँच गयी थी। वहीं जर्मनी ने यूरोप के शक्ति संतुलन को बिगाड़ कर रख दिया था।
- फिर भी ऐसा मान लेना कि युद्ध अनिवार्य था अथवा इसे टाला नहीं जा सकता था, अपने आप में एक बहुत ही खतरनाक विचार है क्योंकि इस युद्ध के पश्चात् भी वैश्विक व्यवस्था में इस प्रकार की जटिलता आगे भी देखी गई। संपूर्ण शीतयुद्ध के काल में तनाव बना रहा था। शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् अमेरिकी साम्राज्यवादी अहंकार, आतंकवाद की समस्या, उपराष्ट्रवाद तथा अरब क्षेत्र में उभरने वाले तनाव, कोई भी एक घटना एक विश्वयुद्ध को जन्म दे सकती थी। परंतु कूटनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से इस समस्या का समाधान खोजा जाता रहा है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व जो महत्वपूर्ण घटना हुई थी वह थी कूटनीतिक प्रक्रिया का अवरुद्ध हो जाना। वस्तुतः एक रचनात्मक कूटनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से इस युद्ध का समाधान खोजा जा सकता था।

- **विपक्ष में**- 20वीं सदी के आरंभिक दशक तक यूरोपीय व्यवस्था के समक्ष जो सबसे बड़ी चुनौती उपस्थित हो गई थी, वह थी यूरोपीय शक्तियों के हित में मौलिक टकराहट। इसे हम निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं-

i. जर्मनी के लिए यह युद्ध बाजार प्राप्त करने के लिए एक साधन था।

ii. इटली के लिए यह एड्रियाटिक क्षेत्र में विस्तार करने का एक जरिया था।

iii. फ्रांस के लिए यह जर्मनी के समानांतर अपनी खोयी हुई शक्ति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने का जरिया था।

iv. रूस के लिए यह बाल्कन क्षेत्र में अपनी विश्वसनीयता को बनाए रखने के लिए उठाया गया कदम था।

v. ब्रिटेन के लिए यह शक्ति संतुलन बनाए रखने का माध्यम था।

■ **क्या इस युद्ध के लिए जर्मनी ही उत्तरदायी था?**

- वर्साय की संधि के अनुच्छेद-231 में इस युद्ध का संपूर्ण दायित्व जर्मनी के सिर पर रख दिया गया था। इसका उद्देश्य था मित्र राष्ट्रों को उस अपराध से मुक्त करना, जो उन्होंने वर्साय की संधि के मध्य जर्मनी पर अत्यधिक कठोर शर्तें थोपकर किया था। सबसे बढ़कर, यह विचार इतने व्यापक स्तर पर प्रचारित किया गया था कि जब 1990 में जर्मनी का पुनर्एकीकरण हो रहा था, उस समय भी जर्मन दायित्व का मुद्दा उभरकर आया था। किंतु अगर हम गहराई से परीक्षण करते हैं तो फिर ज्ञात होता है कि जर्मनी इस युद्ध के लिए अवश्य उत्तरदायी था, परंतु एकमात्र वही उत्तरदायी नहीं था, बल्कि अन्य यूरोपीय शक्तियाँ भी उसके लिए उत्तरदायी थीं।
- यह स्मरणीय है कि बाल्कन क्षेत्र में रूस समर्थित सर्बिया ने अखिल स्लाववादी आंदोलन आरंभ कर बाल्कन क्षेत्र में काफी तनाव उत्पन्न कर दिया था। फिर सर्बिया के मुद्दे पर ऑस्ट्रिया को जर्मनी के द्वारा दिए गए समर्थन ने स्थिति को संकटपूर्ण बना दिया। वहीं रूस के द्वारा सर्बिया के समर्थन में खड़े हो जाने की घटना ने बाल्कन क्षेत्र के इस सीमित युद्ध को एक अखिल यूरोपीय युद्ध में रूपांतरित कर दिया। इसके अतिरिक्त, फ्रांस के द्वारा रूस को बिना शर्त समर्थन ने युद्ध को अनिवार्य बना दिया। अब सारी निगाहें ब्रिटेन पर टिकी हुई थीं। परंतु अगर कुछ अन्य शक्तियों ने कुछ करके युद्ध की स्थिति को बनाया, तो ब्रिटेन ने कुछ न करके यूरोप को युद्ध के कगार पर खड़ा कर दिया।

■ **युद्ध में विभिन्न देशों की भागीदारी तथा युद्ध का विस्तार:**

- **सेंट्रल पॉवर**- इसमें जर्मनी और ऑस्ट्रिया शामिल हुए। इटली, त्रिगुट का सदस्य होने के बाद भी इस समूह से बाहर रहा था क्योंकि उसका मानना था कि ऑस्ट्रिया कोई रक्षात्मक युद्ध नहीं लड़ रहा था, बल्कि आक्रामक युद्ध लड़ रहा था। आगे फिर वह मित्र राज्यों के साथ हो गया, परंतु सेंट्रल पावर के समूह में ऑटोमन साम्राज्य और बुल्गारिया भी शामिल हो गए।
- **मित्र राष्ट्र**- इसमें आरंभ में ब्रिटेन, फ्राँस तथा रूस थे, फिर 1915 में लंदन की गुप्त संधि के आधार पर इटली को भी शामिल कर लिया गया तथा उसे यह आश्वासन दिया गया कि उसे एड्रियाटिक क्षेत्र में भू-भाग दिया जाएगा। उसी प्रकार, मित्र राष्ट्रों ने 1917 में जापान के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया, जिसमें जापान को आश्वासन दिया गया कि उसे चीन में शान्तुंग का क्षेत्र दिया जाएगा। परंतु, साथ ही अगर हम उपनिवेशों की भी गणना करते हैं तो इसमें चीन भी शामिल था और चीन से भी यही वादा किया गया कि उसे जर्मन अधिकृत क्षेत्र शान्तुंग लौटा दिया जाएगा। अप्रैल, 1917 में संयुक्त राज्य अमेरिका भी इसमें शामिल हो गया। रूमानिया पहले से ही इसमें शामिल था, परंतु रूसी क्रांति के पश्चात् रूस इससे बाहर हो गया क्योंकि साम्यवादी सरकार, पूँजीवादी युद्ध में अधिक समय तक रहने के लिये तैयार नहीं थी। इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों के समूह में कुल 22 देश शामिल थे।

■ **संयुक्त राज्य अमेरिका इस युद्ध में क्यों शामिल हुआ?**

1. संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्राँस में अपने बाज़ार की रक्षा के लिये प्रतिबद्ध था।
2. **तात्कालिक कारण**-
   - जर्मनी ने मैक्सिको को यूएसए के विरुद्ध युद्ध के लिये भड़काते हुए, साथ ही अपनी सहायता का आश्वासन देते हुए एक टेलीग्राम भेजा, परंतु यह टेलीग्राम ब्रिटेन के हाथ लग गया और उसने इसे संयुक्त राज्य अमेरिका को दे दिया।
   - जर्मन पनडुब्बी ने एक ब्रिटिश यात्री जहाज़ को डुबो दिया, जिसमें बड़ी संख्या में अमेरिकी नागरिक भी थे।

■ **प्रथम विश्वयुद्ध को एक संपूर्ण युद्ध क्यों माना जाता है?**

1. इसमें सैनिकों के साथ-साथ बड़ी संख्या में सिविल नागरिकों की भी भागीदारी रही।

2. इस युद्ध का भौगोलिक प्रसार बहुत अधिक था। यह केवल यूरोप में ही नहीं, बल्कि अन्य महाद्वीपों में भी लड़ा गया तथा भूमि एवं समुद्र, सभी क्षेत्रों में संघर्ष चले।
3. इस युद्ध का काल भी अपेक्षाकृत दीर्घ रहा। फिर यह केवल सैनिकों का युद्ध नहीं था और न ही केवल इसके लिये सैनिक तैयारी पर्याप्त थी, बल्कि यह संसाधनों का भी युद्ध था। इसलिये जिस देश के पास जितना अधिक संसाधन होता, वह इस युद्ध में उतना अधिक टिक पाता।
4. इस युद्ध के मध्य सैनिक संसाधनों के साथ-साथ उद्योगों तथा अन्य आर्थिक केंद्रों को भी निशाना बनाया गया। इसलिये इस युद्ध के मध्य अभूतपूर्व रूप में आर्थिक क्षति हुई।
5. यह किसी भी युद्धरत् राष्ट्र के संपूर्ण राष्ट्रीय प्रयास का नतीजा था। बड़ी संख्या में पुरुष सैन्य मोर्चे पर भेज दिये गए, महिलाएँ ऑफिस, अस्पताल, शिक्षण संस्थाएँ आदि क्षेत्रों में कार्यरत् रहीं। इतना तक कि बच्चों को भी स्कूल से हटाकर उत्पादन में लगाया गया।
6. प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य परंपरागत हथियारों के साथ-साथ नए प्रकार के संहारक हथियारों का विकास देखा गया, उदाहरण के लिये, रासायनिक हथियार और जैविक हथियार।

■ **प्रथम विश्वयुद्ध का यूरोपीय समाज पर प्रभाव:**

- प्रथम विश्वयुद्ध ने निश्चय ही एक विध्वंसात्मक प्रभाव डाला, किंतु कहीं-कहीं इसका रचनात्मक प्रभाव भी देखा गया। प्रथम विश्वयुद्ध एक संपूर्ण युद्ध था। इसमें सैनिकों के साथ-साथ एक बड़ी गैर-सैनिक जनसंख्या की भी भागीदारी रही। अत: स्वाभाविक रूप में इसने यूरोपीय जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित किया-

1. प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य यूरोप के कुछ पुराने राजवंशों का अंत हुआ, यथा- हैब्सबर्ग वंश, रोमनावो वंश, होहेनजोर्लन वंश। इसके परिणामस्वरूप प्रजातांत्रिक विचारों को बल मिला।
2. किंतु, दूसरी तरफ फासीवादी विचारधारा का विकास भी प्रथम विश्वयुद्ध की देन था। विक्षुब्ध जर्मन एवं इटालियन राष्ट्रवाद क्रमश: नाज़ीवाद और फासीवाद के रूप में उदित हुआ।
3. प्रथम विश्वयुद्ध ने युद्ध प्रेरित व्यापार को प्रोत्साहन दिया, किंतु युद्ध के पश्चात् अर्थव्यवस्था को धक्का लगा। फिर 1920 के दशक के अंत में यूरोपीय अर्थव्यवस्था में एक प्रकार का असंतुलन उत्पन्न हो गया, जो विश्व आर्थिक मंदी के रूप में प्रकट हुआ।
4. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में आर्थिक पुनर्निर्माण आरंभ हुआ। इसके साथ कई प्रकार की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं की शुरुआत हुई। इन समस्याओं का सामना करने के क्रम में यूरोपीय सरकारों की शक्ति बढ़ गई तथा मानव स्वतंत्रता नियंत्रित हुई।
5. युद्ध के समय पुरुष जनसंख्या युद्ध मोर्चे पर गई, इसलिये उत्पादन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ गई। फैक्ट्री एवं अन्य उत्पादन केंद्रों पर महिलाओं की व्यापक भागीदारी हुई। आर्थिक जीवन में महिलाओं की भागीदारी ने उनकी सामाजिक स्थिति को प्रभावित किया। इसलिये प्रथम विश्वयुद्ध के बाद महिलाओं के राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों में वृद्धि हुई। महिलाओं के बीच मताधिकार का विस्तार हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद नारीवादी आंदोलन का उद्भव भी देखा गया।
6. प्रथम विश्वयुद्ध ने परिवारों को गहरा धक्का पहुँचाया। पति-पत्नी और बच्चे, सभी एक-दूसरे से अलग हो गए। पुरुष युद्ध मोर्चे पर चले गए, महिलाएँ फैक्ट्री एवं अन्य उत्पादन केंद्रों पर काम करने लगीं, वहीं बच्चे भी अपने अध्ययन को बीच में स्थगित कर युद्धास्त्रों की फैक्ट्री में काम करने लगे।
7. प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य रासायनिक और जैविक हथियार जैसे युद्ध के नए-नए उपकरण विकसित हुए। इनके द्वारा बड़ी संख्या में मानव का विनाश किया गया। इस सच्चाई ने यूरोपीय सभ्यता की आंतरिक कमज़ोरियों को उजागर कर दिया। स्वतंत्रता एवं बंधुत्व जैसे नारे को तार-तार कर दिया गया।
8. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तर्कवाद एवं मानव विवेक की अवधारणा को धक्का लगा। दूसरी तरफ, संशयवाद की अवधारणा को बल मिला। इसके अतिरिक्त आस्था एवं भावना जैसे कारकों पर भी विशेष बल दिया जाने लगा। यह मनोभाव समकालीन साहित्य एवं कला में भी अभिव्यक्त हुआ।

प्रश्न: यह कहना कहाँ तक सही है कि प्रथम विश्वयुद्ध आवश्यक रूप से शक्ति संतुलन के संरक्षण के लिए लड़ा गया था?

उत्तर:- प्रथम विश्वयुद्ध जटिल परिस्थितियों की उपज था। यह 19वीं सदी की आर्थिक-राजनीतिक संरचना में उत्पन्न अंतर्विरोधों का परिणाम था। इस अंतर्विरोध को उत्पन्न करने में शक्ति संतुलन के बिगड़ने जैसे कारक की निश्चय ही महत्वपूर्ण भूमिका रही थी, परन्तु इसके साथ कुछ अन्य कारक भी जुड़े हुए थे।

यूरोप का शक्ति संतुलन बहुत हद तक जर्मन क्षेत्र के विभाजन पर टिका हुआ था॥ इसलिए जर्मनी के एकीकरण ने

यूरोप के शक्ति संतुलन को लगभग ध्वस्त कर दिया। ब्रिटेन के महाद्वीपीय राजनीति में लौटने तथा जर्मनी के विरूद्ध गठबंधन बनाने का एक प्रमुख कारण रहा था शक्ति संतुलन को संरक्षित करने का प्रयास। ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिजरैली के शब्दों में, जर्मनी के एकीकरण ने फ्रांस की क्रांति से भी बड़ा प्रभाव पैदा किया था।

परन्तु इसके साथ कुछ अन्य मुद्दे उभरते चले गए। इन्हीं में एक प्रमुख मुद्दा था बाल्कन क्षेत्र का मुद्दा। बाल्कन क्षेत्र में अखिल स्लाववादी आन्दोलन ने ऑस्ट्रिया तथा सर्बिया के बीच अत्यधिक तनाव उत्पन्न कर दिया था। रूस का समर्थन सर्बिया के साथ रहा था। अत: जैसे ही जर्मनी का समर्थन सर्बिया के शत्रु राष्ट्र ऑस्ट्रिया के साथ हुआ, बाल्कन का मुद्दा एक अखिल यूरोपीय मुद्दा बन गया। इसके अतिरिक्त फ्रांस एवं जर्मनी के बीच तनाव का एक मुद्दा चार दशक पूर्व से फ्रैंकफर्ट की सन्धि से ही चला आ रहा था। फ्रांस एक बार फिर यूरोपीय राजनीति में पुनर्स्थापित हो, इसके लिए जर्मनी की पराजय आवश्यक थी। इसलिए फ्रांस एक वृहद् यूरोपीय गठबंधन में शामिल होकर अपनी जनसांख्यिकी एवं संसाधनों की सीमा से उबरने का प्रयास कर रहा था। इस तरह, बीसवीं सदी के आरंभिक दशक में युद्ध का माहौल कायम था, तभी सेराजेवो हत्याकांड ने एक अनजान उत्प्रेरक की भूमिका निभा दी।

उपर्युक्त तथ्य यह दर्शाते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पीछे शक्ति संतुलन का मुद्दा एक महत्वपूर्ण मुद्दा था, परन्तु यही एक मात्र मुद्दा नहीं था। इससे पूर्व भी यूरोप में शक्ति संतुलन के संरक्षण का मसला आया था, यथा- लुई चौदहवें तथा नेपोलियन के काल में तथा इसके पश्चात् क्रीमिया के युद्ध के समय, परन्तु अगर बीसवीं सदी के आरंभ में यह विश्वयुद्ध का मुद्दा बना, तो इसलिए क्योंकि इसके साथ और कई क्षेत्रीय मसले जुड़ गए थे।

Food for Thought

1. 19वीं सदी को लंबी 19वीं सदी और 20वीं सदी को छोटी 20वीं सदी क्यों कहा गया है?
2. क्या यह कहना सही है कि प्रथम विश्व युद्ध 19वीं सदी के यूरोपीय सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे में उत्पन्न विकृतियों की उपज था?
3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि विश्व युद्धों को दो अलग-अलग युद्धों के रूप में मानने के बजाय उन्हें एक ही युद्ध के रूप में लिया जाना चाहिए जो कि 31 वर्षों तक फैला हुआ है?
4. क्या आप इससे सहमत हैं कि प्रथम विश्व युद्ध पिछले 100 वर्षों से पश्चिम एशिया और अरब क्षेत्र में जारी है?
5. क्या प्रथम विश्व युद्ध यूरोप में शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए लड़ा गया था?

■■■

खंड-IV

यह खंड दो विश्वयुद्धों के बीच विश्व राजनीति की दिशा को बताता है। इस खंड में निम्नलिखित टॉपिक्स का अध्ययन किया जाएगा–

- **उपखंड-I : पेरिस शांति सम्मेलन**
- **उपखंड-II : पूंजीवाद का प्रथम बड़ा संकट (प्रथम विश्वयुद्ध)**
- **उपखंड-III : पूंजीवाद का दूसरा बड़ा संकट- विश्व आर्थिक मंदी**
- **उपखंड-IV : विश्व आर्थिक मंदी के विरुद्ध विध्वंसात्मक प्रतिक्रिया– फासीवाद एवं नाज़ीवाद**

इस खंड के अध्ययन के क्रम में आप निम्नलिखित बातों को जानने का प्रयास कीजिये–

- पेरिस शांति सम्मेलन को 20 वर्षों का युद्ध विराम क्यों कहा गया है? अथवा किसी विद्वान ने विश्वयुद्ध को अलग-अलग न मानकर 31 वर्षों का एक बड़ा युद्ध क्यों करार दिया है? क्या द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों में निहित था?
- रूस की बोल्शेविक क्रांति को पूंजीवाद का संकट क्यों माना जाता है?
- मार्क्स से लेकर लेनिन तक आप मार्क्सवादी विचारधारा में क्या परिवर्तन पाते हैं? आगे स्टॉलिन ने रूसी साम्यवादी व्यवस्था के स्वरूप में क्या परिवर्तन ला दिया?
- विश्व आर्थिक मंदी ने पूंजीवाद के व्यवहार में क्या परिवर्तन ला दिया?
- पूंजीवादी और समाजवादी आर्थिक मॉडल में अंतर का बिंदु क्या है?
- फासीवाद को पूंजीवाद की विफलता का परिणाम क्यों माना जाता है? फासीवाद और मार्क्सवाद के बीच समानता एवं असमानता के बिंदु क्या हैं?

-मणिकांत सिंह

KHAN GLOBAL STUDIES Most Trusted Learning Platform KHAN SIR

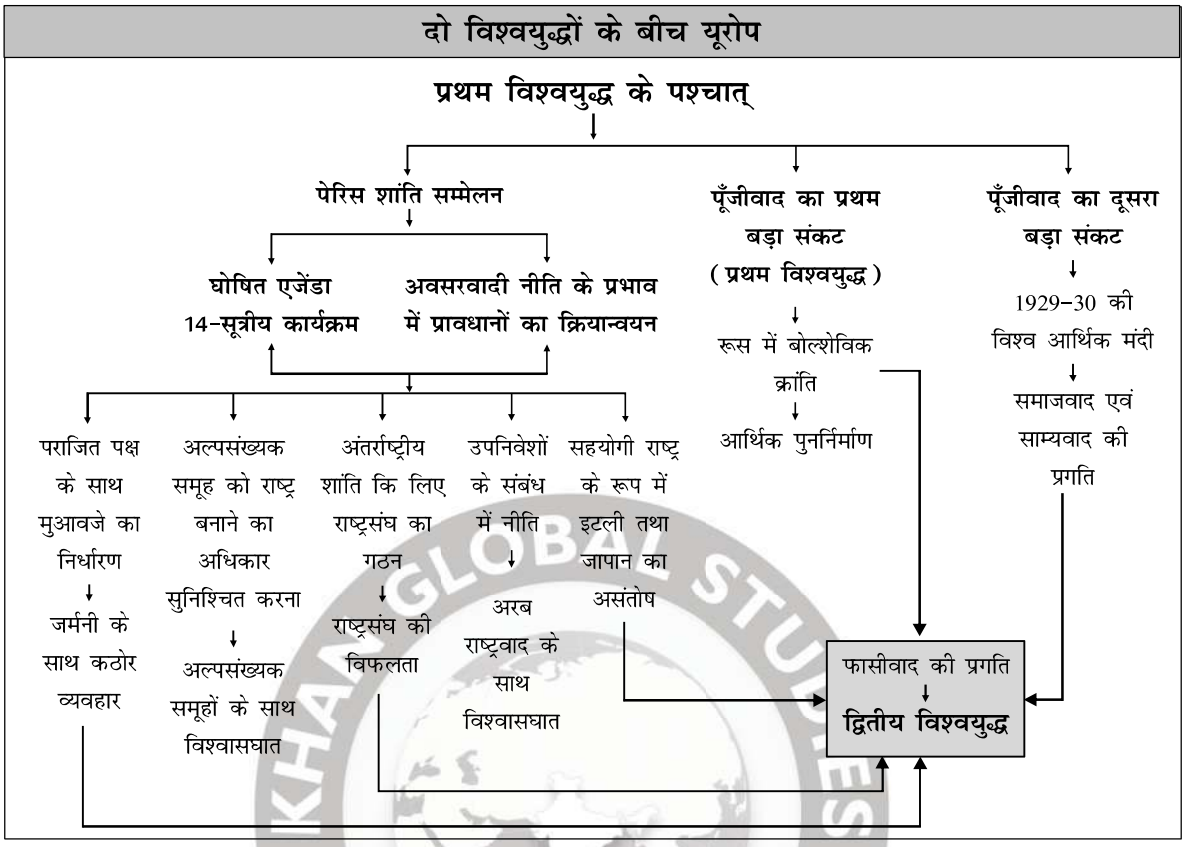

■ पेरिस शांति सम्मेलन

• 11 नवंबर, 1918 को प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् 18 जनवरी, 1919 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में शांति सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन में चार महत्वपूर्ण व्यक्ति थे (Big Four)- अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज, फ्राँसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशो और इटालियन प्रधानमंत्री औरलैण्डो। कालांतर में इटली का राष्ट्रपति औरलैण्डो इससे बाहर हो गया। अत: उपर्युक्त तीन नेताओं का ही वर्चस्व बना रहा। इस शांति सम्मेलन में वास्तविक शक्ति 'सर्वोच्च शांति परिषद्' में निहित थी। यह सम्मेलन पूर्व काल की यूरोपीय कांग्रेस से इस रूप में पृथक् था कि यह एक यूरोपीय सम्मेलन नहीं, बल्कि विश्व सम्मेलन था क्योंकि इसमें यूरोप के बाहर के राष्ट्रों की भी भागीदारी थी। फिर जहाँ वियना कांग्रेस का उद्देश्य राष्ट्रवाद की भावना को कुचलना था, वहीं पेरिस शांति सम्मेलन ने यूरोपीय देशों की भौगोलिक सीमा के निर्धारण में राष्ट्रवाद एवं आत्मनिर्णय के सिद्धांत पर बल दिया। इस शांति सम्मेलन में परस्पर विरोधी विचारधाराएँ टकरा रही थीं। एक तरफ विल्सन का आदर्श था, तो दूसरी तरफ लॉयड जॉर्ज एवं क्लिमेंशो का यथार्थ था। एक तरफ विल्सन के 14 सूत्रीय कार्यक्रम थे, तो दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों की गुप्त संधियाँ थीं। यह दूसरी बात है कि अपने नाम के विपरीत पेरिस शांति सम्मेलन अशांति का जनक सिद्ध हुआ और 20 वर्षों के अन्दर इसके सारे प्रावधान टूटकर बिखर गए।

■ घोषित एजेंडा:

• पेरिस शांति सम्मेलन का घोषित एजेंडा था- विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम। इसमें यह आश्वासन दिया गया था कि विजेता एवं पराजित पक्ष दोनों के साथ न्याय किया जाएगा अर्थात् सम्पूर्ण न्याय की अवधारणा को लागू किया जाएगा। विल्सन को यह विश्वास था कि अगर इस कार्यक्रम को संपूर्णता में लागू किया जाता है, तो प्रथम विश्वयुद्ध यूरोप का अन्तिम युद्ध सिद्ध होगा।

■ अवसरवादी नीति के प्रभाव में प्रावधानों का क्रियान्वयन-

• संधि के प्रावधानों के क्रियान्वयन में विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम की खुलकर अवहेलना की गयी। वास्तव में, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज तथा फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लिमेंशो ने यथार्थवादी राजनीति के दबाव में संधि के प्रावधानों की अवेहलना की। वस्तुत: यथार्थवाद अथवा अवसरवाद का प्रतिनिधित्व ब्रिटेन एवं फ्राँस कर रहे थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री होने के नाते जहाँ वह यूरोप में शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिये अत्यधिक चिंतित थे,

वहीं फ्राँस का प्रधानमंत्री यह समझता था कि जब तक जर्मनी का आकार छोटा नहीं किया जाता, तब तक फ्राँस की स्थिति कमज़ोर बनी रहेगी। इसलिये वह जर्मनी को अत्यधिक दंडित करने का पक्षपाती था। इसके विपरीत अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवाद का प्रतिनिधत्व कर रहे थे, परंतु उनका भी अपना कुछ गुप्त एजेंडा था। वह था- यूरोप पर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव को बढ़ाना तथा अमेरिकी उत्पादों के लिये यूरोप में बाज़ार प्राप्त करना।

■ **पेरिस शांति सम्मेलन के प्रमुख कार्यक्रम**

1. **पराजित पक्ष के साथ मुआवजे का निर्धारण**- युद्ध मुआवजे के निर्धारण के क्रम में बहुत कठोर शर्तें रखी गईं तथा पराजित देशों के साथ पृथक्-पृथक् संधि की गयी, यथा, जर्मनी के साथ वर्साय की संधि, ऑस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की संधि, हंगरी के साथ त्रियानों की संधि, बुल्गारिया के साथ न्यूली की संधि तथा तुर्की के साथ सेब्रे की संधि। इन सभी संधियों में **वर्साय की संधि** सर्वाधिक कठोर थी। यह संधि प्रथम विश्व युद्ध के अंत में जर्मनी और मित्र देशों के बीच हुई थी। इस संधि के द्वारा जर्मनी के लगभग 13% भू-भाग एवं 13% संसाधनों को छीन लिया गया।

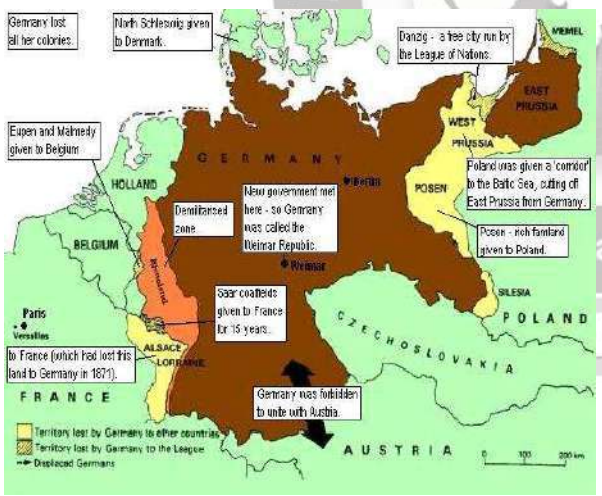

■ **वर्साय की संधि (1919) को एक आरोपित संधि क्यों माना जाता है?**

- निम्नलिखित कारणों से इसे एक आरोपित संधि माना जाता है-

1. जर्मनी के साथ इस संधि के मध्य विश्वासघात हुआ। जर्मनी ने विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर समर्पण किया था, परंतु फिर भी उस पर संधि की कठोर शर्तें थोप दी गईं।
2. जर्मनी से उसका 13% भू-भाग और 13% संसाधन छीन लिया गया। जर्मनी का कुछ भू-भाग काटकर उसके पड़ोसियों को दे दिया गया, ताकि अगर भविष्य में जर्मनी का उत्थान हो, तो पडोसी राष्ट्र उसे रोक सकें। उदाहरण के लिए, सुडेटेनलैंड का क्षेत्र, जहाँ 30 लाख जर्मन जनसंख्या बसती थी, चेकोस्लोवाकिया को दे दिया गया। सबसे बढ़कर, पोलैंड को समुद्र तट तक पहुँचाने के लिए जर्मनी से एक गलियारा निकाला गया। आगे हिटलर ने इसके विरूद्ध प्रतिक्रिया दिखाई।
3. जर्मनी से मुआवजे के बदले क्षतिपूर्ति की रकम ली गयी, जो बहुत अधिक थी।
4. जर्मन प्रतिनिधियों के साथ सामान्य कूटनीतिक औपचारिकता का भी पालन नहीं किया गया, अपितु उनके साथ अपराधी जैसा व्यवहार किया गया।।
5. जर्मनी की ओर से एक निर्वाचित सरकार के रूप में वाइमर गणतंत्र वार्ता कर रहा था। अगर उसके साथ अच्छा व्यवहार किया गया होता, तो जर्मनी में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती और गणतंत्रवाद की परम्परा मजबूत होती। परन्तु उसे अपमानित किये जाने का लाभ आगे नाजी पार्टी और हिटलर को मिला।

- एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे०एम० केंस ने, जो ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल में शामिल था, यह स्पष्ट कर दिया था कि इस संधि का क्रियान्वयन व्यावहारिक रूप में संभव नहीं था।

प्रश्नः वर्साय की संधि ने द्वितीय विश्व युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? (UPSC, 2013 - GS)

उत्तरः विश्व इतिहास में वर्साय की संधि एक ऐसी घटना के रूप में स्थापित है जिसने एक महायुद्ध के समाधान के क्रम में उससे भी भयानक महायुद्ध को जन्म दिया। वर्साय में जर्मनी पर आरोपित संधि की अत्यधिक कठोर शर्तें द्वितीय विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण मानी जाती हैं, किंतु वर्साय की संधि एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच एक कालांतराल है, इस पहलू को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

वर्साय की संधि में कई ऐसे पहलू निहित थे, जो जर्मनी को प्रतिशोधात्मक रूख अपनाने का उचित कारण दे रहे थे।। प्रथम, जर्मनी ने विल्सन के 14 सूत्रीय कार्यक्रम के आधार पर समर्पण किया था, किंतु फिर भी जर्मनी के साथ कठोरता बरती गई थी। दूसरे, इस संधि के मध्य एक सामान्य कूटनीतिक औपचारिकता का भी पालन नहीं किया गया तथा जर्मन प्रतिनिधियों को अपमानित किया गया। तीसरे, आत्मनिर्णय के अधिकार की अवहेलना करते हुए, जो 14 सूत्रीय कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण पहलू था, एक बड़ी जर्मन जनसंख्या को जर्मनी से काटकर अलग कर दिया गया। सबसे बढ़कर, इस संधि की

आर्थिक शर्तें, जैसा कि एक प्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे. एम. केन्स ने भी स्वीकार किया था, इतनी कठोर थीं कि इसका क्रियान्वयन ही संभव नहीं था।

इस प्रकार, वर्साय की संधि में वे सारे कारक मौजूद थे जो जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद को प्रेरित करने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते थे। किंतु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वर्साय की संधि एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच लगभग 20 वर्षों का कालान्तराल था। अतः जाहिर है कि इसमें कुछ और भी ऐसे कारक जुड़ गए थे, जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध को प्रोत्साहित किया। इनमें एक कारक था विश्व आर्थिक मंदी, जिसने जर्मनी में फासीवादी ताकत को मजबूत किया तथा दूसरा, मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन एवं फ्रांस) के बीच इस संधि के क्रियान्वयन पर सहमति नहीं बन पाना।

इस तरह हम देखते हैं कि यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध का आधार निर्मित करने में वर्साय की संधि का भी योगदान रहा था, फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के लिए संपूर्ण उत्तरदायित्व केवल वर्साय की संधि को नहीं दिया जा सकता।

सेंट जर्मेन की संधि–

- 10 दिसंबर, 1919 को ऑस्ट्रिया के साथ यह संधि की गई। इस संधि के द्वारा ऑस्ट्रिया के बड़े साम्राज्य का विघटन हो गया तथा चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, पोलैंड एवं हंगरी जैसे देश अस्तित्व में आए। ऑस्ट्रिया की सेना 30 हजार तक सीमित कर दी गई एवं सबसे बढ़कर ऑस्ट्रिया को चेतावनी दी गई कि अगर वह आगे इस प्रकार का कदम उठाता है तो एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उसका अस्तित्व मिटा दिया जाएगा।

2. अल्पसंख्यक समूह को राष्ट्र बनाने का अधिकार सुनिश्चित करना–

- बाल्कन क्षेत्र में अल्पसंख्यक समूहों के द्वारा की जाने वाली राष्ट्रवादी माँग के कारण सम्पूर्ण 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी के आरम्भ तक अशान्ति छायी रही थी। अतः विल्सन का मानना था कि अगर इस अल्पसंख्यक समूह की राष्ट्रवादी आकांक्षा पूरी कर दी जाती है, तो यूरोप में स्थायी शांति बहाल हो जाएगी। फिर इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हैब्सबर्ग साम्राज्य को विघटित कर दिया गया और इसके विघटन पर ऑस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया जैसे पृथक् राष्ट्र का निर्माण किया गया।

- परन्तु यहाँ भी अवसरवादी राजनीति को ध्यान में रखते हुए विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम की अवेहलना हुई तथा जर्मनी के पड़ोस में शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए एक अल्पसंख्यक समूह के साथ दूसरे अल्पसंख्यक समूह को मिला दिया। इतना ही नहीं, पड़ोसी राष्ट्र को मजबूत बनाने के लिए जर्मन जनसंख्या को भी काटकर उसके साथ मिला दिया गया। उदाहरण के लिए, जर्मन क्षेत्र सुडेन्टेनलैंड को काटकर चेकोस्लोवाकिया के साथ मिला दिया गया। इन कारणों से इन राष्ट्रों में अस्थिरता बनी रह गई। सबसे बढ़कर, 1993 में यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया का विघटन हो गया। इतना तक कि एरिक हॉब्सबॉम ने इन राष्ट्रों के विघटन के कारण की व्याख्या करते हुए कहा कि ये राष्ट्र पेरिस शांति सम्मेलन के एक अधपका चिकेन थे जो दोबारा पकने आये हैं।

3. अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए राष्ट्रसंघ का गठन-

- 1648 की वेस्टफेलिया संधि के पश्चात् शक्ति संतुलन की अवधारणा को युद्ध के विकल्प के रूप में देखा जाता रहा था, परन्तु शक्ति संतुलन की अवधारणा युद्ध का वास्तविक विकल्प नहीं दे सकी। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोपीय नेताओं एवं बुद्धिजीवियों ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के परिप्रेक्ष्य में सोचना आरम्भ कर दिया तथा पेरिस शान्ति सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की पहल पर राष्ट्रसंघ के रूप में एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई। यह 1919 में 41 राष्ट्रों का संगठन था जो 1941 में बढ़कर 60 हो गया। इसके महत्वपूर्ण निकाय के रूप में असेम्बली एवं काउन्सिल थी। इसने शान्ति की दिशा में निम्नलिखित कार्य किए-

i. मैण्डेट प्रणाली के तहत इसने कुछ क्षेत्र प्रमुख देशों के संरक्षण में रखे थे। इस संगठन की निगरानी के कारण वे देश उस क्षेत्र को हड़प नहीं सके।

ii. कम-से-कम छोटे राष्ट्रों के बीच होने वाले विवादों के निपटारे में इसे सफलता भी मिली थी।

iii. विशेषकर, इसके मानवीय और कल्याणकारी कार्य सराहनीय रहे। उदाहरण के लिए, बीमारियों की रोकथाम, शरणार्थियों का पुनर्वास आदि, **परन्तु निम्नलिखित कारणों से राष्ट्र संघ आगे चलकर विफल हो गया-**

a. चूँकि इसमें सभी राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया था और बड़ी शक्तियों को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था, अतः बड़ी शक्तियों ने इसके संचालन में रुचि नहीं ली।

b. इस संस्था के स्वरूप के मुद्दे पर ब्रिटिश, अमेरिकी एवं फ्रांसीसी दृष्टिकोण में मतभेद था। एक तरफ ब्रिटेन और अमेरिका इसे विचार-विमर्श करने तक सीमित रखना चाहते थे, वहीं दूसरी तरफ फ्राँस इसे एक शक्तिशाली संस्था में रूपान्तरित करना चाहता था।

c. इसमें असेम्बली एवं काउन्सिल दोनों को समान शक्ति दी गयी थी।

d. इसका संस्थापक सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका ही इसका सदस्य नहीं बन सका।

e. आरम्भ में पराजित देशों को इसकी सदस्यता से बाहर रखा गया था, अतः इन देशों में संस्था के प्रति सम्मान की भावना नहीं आयी।

f. इसमें किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय पर सर्वसम्मति आवश्यक थी, अतः व्यवहार में इसका क्रियान्वयन बहुत ही मुश्किल हो गया। आगे यह संस्था जापान, इटली एवं जर्मनी की आक्रामक नीति पर अंकुश लगाने में विफल रही।

4. उपनिवेशों के संबंध में नीति-

- सामान्यतः उपनिवेशों को यह स्पष्ट कर दिया गया था कि विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम में वर्णित आत्मनिर्णय का अधिकार उपनिवेशों पर लागू नहीं होता। बावजूद इसके प्रथम विश्व युद्ध की घोषणा एवं विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम के प्रावधान से भारत, चीन एवं मिस्र जैसे उपनिवेश अत्यधिक उत्साहित हो गए थे। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् उन्होंने ठगा हुआ सा महसूस किया। अतः भारत में रॉलेट सत्याग्रह आन्दोलन, चीन में मई चतुर्थ आंदोलन और मिस्र में स्वतंत्रता आंदोलन आरम्भ हो गया।
- दूसरी तरफ, पराजित पक्ष के उपनिवेशों के सन्दर्भ में कुछ दूसरे प्रकार का निर्णय लिया गया। उन उपनिवेशों को सेंट्रल पावर से मुक्त किया जाना था, परन्तु उन्हें आजादी नहीं दी गयी, बल्कि उन्हें गुलाम बनाए रखने के लिए एक नए प्रकार की पद्धति अर्थात् मैन्डेट प्रणाली (संरक्षण प्रणाली) विकसित की गयी। इसके अंतर्गत राष्ट्र संघ की निगरानी में इन उपनिवेशों को विकसित राष्ट्रों के संरक्षण में रखा जाना था। कुल मिलाकर यह नव-उपनिवेशवाद का ही एक रूप बन गया। पराजित राष्ट्रों के उपनिवेशों को विकास के स्तर के आधार पर A, B और C समूहों में बाँटकर उन्हें मैण्डेट पद्धति के अंतर्गत रख दिया गया।

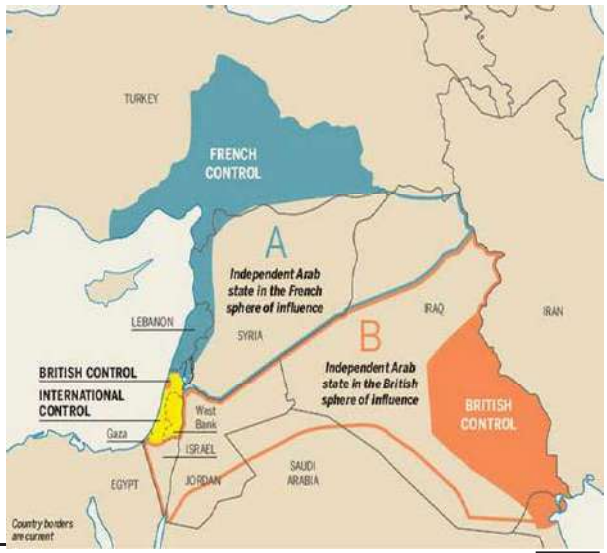

- परन्तु इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में सबसे बड़े विश्वासघात का शिकार हुआ अरब क्षेत्र, जो ऑटोमन साम्राज्य का उपनिवेश रहा था। पश्चिमी शक्तियों के द्वारा अरब क्षेत्र के सम्बन्ध में जो परस्पर विरोधी नीतियाँ अपनायी गयीं, उन्हीं नीतियों का नतीजा है- अरब क्षेत्र में अस्थिरता तथा अशान्ति।
- **अरब क्षेत्र में तीन परस्पर विरोधी सन्धियाँ हुईं-**

i. **हुसैन-मैकमहोन समझौता (1915 ई.)**- इसके तहत मक्का के ग्रांड शरीफ हुसैन एवं उसके पुत्र फैसल को ओटोमन साम्राज्य के विरुद्ध ब्रिटिश सेना की सहायता से एक विद्रोह खड़ा करना था और उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् सम्पूर्ण अरब क्षेत्र को मिलाकर हुसैन के अधीन एक अरब राष्ट्र का निर्माण होगा।

ii. **साईक्स-पिकॉट समझौता (1915 ई.)**- दूसरी तरफ, ब्रिटेन और फ्राँस के बीच यह गुप्त समझौता हुआ कि युद्ध के पश्चात् इस भूभाग को आपस में बाँट लेंगे।

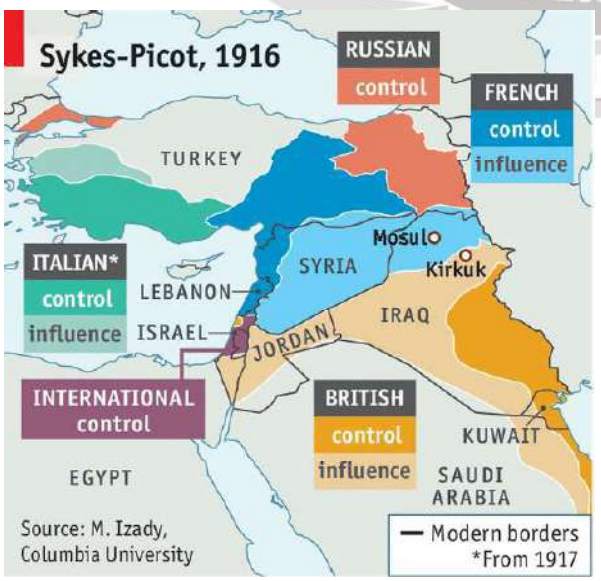

iii. **बालफोर घोषणा (1917 ई.)**- इसके तहत ब्रिटिश द्वारा यहूदी लोगों को फिलिस्तीनी क्षेत्र में एक राष्ट्र बनाने का आश्वासन दिया गया।

- **अरब राष्ट्र के साथ विश्वासघात**- युद्ध के पश्चात् अरब क्षेत्र को अनेक राष्ट्रों में विभाजित कर दिया गया तथा ब्रिटेन एवं फ्राँस का उन पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित हो गया। उदाहरण के लिए, फिलिस्तीनी क्षेत्र ब्रिटिश संरक्षण में, वहीं इराक फैसल के अधीन ब्रिटेन के प्रत्यक्ष नियंत्रण में, हेजाज का शासक हुसैन बना, परन्तु वह ब्रिटिश के इशारे पर कार्य करता रहा। ट्रांस जॉर्डन का शासक हुसैन का छोटा पुत्र अब्दुल्ला बना, परन्तु वह भी व्यवहार में स्वतंत्र शासक नहीं था। दूसरी तरफ, सीरिया एवं लेबनान को फ्राँस के मैन्डेट के अंतर्गत रख दिया गया। उपर्युक्त व्यवस्था ने अरब क्षेत्र में गहरे असंतोष को जन्म दिया क्योंकि यह अरब राष्ट्रवाद के साथ एक बड़ा धोखा था।

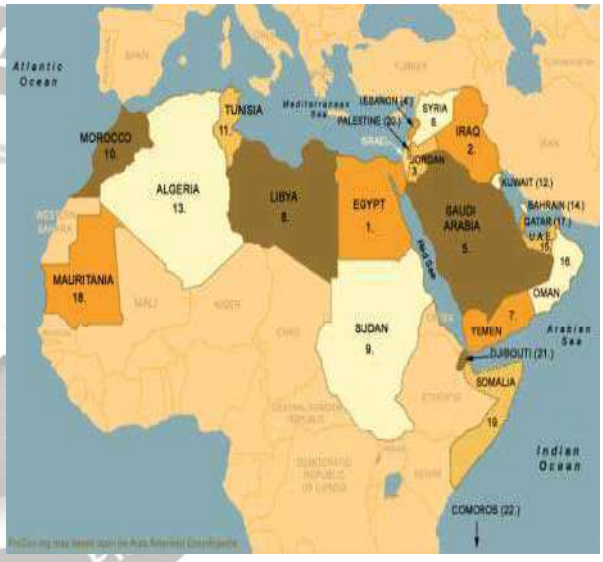

- **कुर्दों के साथ विश्वासघात**- जैसा कि हम जानते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध के मध्य मित्र राष्ट्रों ने अरब राष्ट्रवाद को एक पहचान दी थी तथा अरबों को यह आश्वासन दिया था कि उन्हें एक पृथक राष्ट्र दिया जाएगा। प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने कुर्दों के अधिकार को कैसे अस्वीकार कर दिया, जबकि अरब क्षेत्र में कुर्दों की भी अच्छी जनसंख्या थी। अत: कुर्दों ने भी कुर्दिस्तान की माँग उठाई। उस समय कुर्दों की जनसंख्या ऑटोमन साम्राज्य और ईरान के अधीन थी। फिर जब पेरिस शांति सम्मेलन में अरब क्षेत्र को ऑटोमन साम्राज्य से अलग कर दिया गया और अरब क्षेत्र को कई खंडों में बाँट दिया तो फिर कुछ कुर्द इराक में और कुछ कुर्द सीरिया में चले गए। वर्तमान में कुर्द चार देशों में फैले हुए हैं- तुर्की, ईरान, इराक और सीरिया। जब इराक को अमेरिका ने जीता, तो उसने सुन्नी मुसलमानों के समानांतर कुर्दों के अधिकार को स्वीकार किया और इराक से निकलते हुए उसने कुर्द क्षेत्र को स्वायत्तता प्रदान कर दी। इससे अन्य क्षेत्रों के कुर्दों का भी मनोबल बढ़ गया।

- वर्तमान में तुर्की की सरकार के लिए कुर्द एक बड़ी समस्या है। वर्तमान में इस्लामिक कट्टरपंथी आईएसआईएस (ISIS) ने न केवल शियाओं को, बल्कि कुर्दों को भी अपना निशाना बनाया है। इसलिए सीरिया में और साथ ही इराक में आईएसआईएस के विरूद्ध लोहा लेने में कुर्दों ने अहम भूमिका निभाई है।

- **फिलिस्तीनी-इजरायल विवाद**- यहूदी विश्व का एक प्रगतिशील एवं आर्थिक रूप में सफल कौम रही है, परंतु प्राचीन काल से ही यह मातृभूमि की तलाश में इधर-उधर भटकती रही थी। रोमन साम्राज्य के अंतर्गत यहूदियों को काफी उत्पीड़ित किया गया। फिर यहूदी लोग फिलिस्तीनी क्षेत्र को छोड़कर विभिन्न क्षेत्रों में भागने लगे, परंतु इनकी विडंबना यह थी कि ये जहाँ भी जाते, वहाँ उन्हें उत्पीड़न का सामना करना पड़ता। इसका कारण था इनका व्यावसायिक हुनर। जिन क्षेत्रों में इनका जाना होता, वे वहाँ के व्यापारियों को लगभग व्यापार से बाहर कर देते।

- 20वीं सदी के आरंभ तक यहूदियों का एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन कायम हो गया था तथा यह संगठन फिलिस्तीनी क्षेत्र में एक राष्ट्र बनाने का प्रयास करने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य इसे एक अवसर मिला, जब मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन तथा फ्रांस) ने आर्थिक सहायता के बदले यहूदियों को एक पृथक् यहूदी राष्ट्र बनाने का आश्वासन बालफोर घोषणा के तहत दिया। आगे फिलिस्तीनी क्षेत्र जब पेरिस शांति सम्मेलन के निर्णय के आधार पर ब्रिटेन के संरक्षण में रखा गया, तब ब्रिटेन की पहल पर बड़ी संख्या में यहूदी इस क्षेत्र में बस गए। शीघ्र ही इसने फिलिस्तीनी-यहूदी संघर्ष का रूप ले लिया। अन्य अरब राष्ट्र भी इस घटना से क्रुद्ध थे। इसका सीधा दायित्व ब्रिटेन के सिर आने लगा। अतः बदनामी से बचने के लिए ब्रिटेन ने यह मामला

संयुक्त राष्ट्र संघ में डाल दिया। परंतु संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी ब्रिटेन और अमेरिका के प्रभाव में भेदभावपूर्ण निर्णय लिया। उसने फिलिस्तीनी क्षेत्र को फिलिस्तीनियों एवं यहूदियों के बीच विभाजित कर दिया। लगभग 65% क्षेत्र फिलिस्तीनी को, जबकि 35% क्षेत्र यहूदियों को दिया गया। यहूदियों ने तो इसे तत्परता से स्वीकार कर लिया, परंतु अरब राष्ट्रों ने इसे अस्वीकार कर दिया। फिर 1948 में अरब राष्ट्रों ने मिलकर यहूदियों पर आक्रमण कर दिया, परन्तु अमेरिकी हथियारों की सहायता से इजरायल ने अरब राष्ट्रों को पराजित कर दिया। इस प्रकार, प्रथम विश्वयुद्ध में ही फिलिस्तीन और इजराइल का संघर्ष वह घाव बन गया जो आज तक रिसता आ रहा है।

- इसलिए हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध एक ऐसा युद्ध था जो यूरोप में 31 वर्षों तक चला, परंतु अरब क्षेत्र एवं पश्चिमी एशिया में पिछले 100 वर्षों से चलता आ रहा है। इसके विषय में कहा गया था कि "It was a war to end all wars but it proved a war to end all peace."

5. सहयोगी राष्ट्र के रूप में इटली तथा जापान का असंतोष-

- जैसा कि हम जानते हैं कि इटली, जर्मनी और ऑस्ट्रिया के गुट में रहा था, परन्तु बाद में उससे बाहर हो गया तथा 1915 की लंदन की गुप्त संधि के आधार पर वह मित्र राष्ट्रों के गुट में शामिल हो गया। उसे यह आश्वासन दिया गया था कि युद्ध के पश्चात् उसे एड्रियाटिक क्षेत्र में एक बड़ा भू-भाग दिया जाएगा। परन्तु पेरिस शान्ति सम्मेलन में इटली ने अपने आपको ठगा हुआ सा महसूस किया और फिर इटालियन राष्ट्रवाद असंतुष्ट हो गया। इसका स्वाभाविक नतीजा हुआ आगे मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फासीवाद का उद्भव।
- दूसरी तरफ, जापान को पेरिस शान्ति सम्मेलन में गुप्त संधि के आधार पर चीन में जर्मन क्षेत्र शान्तुंग मिल गया था, परन्तु दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका की दृष्टि जापान के प्रति कठोर हो गयी थी। अतः इस संधि के शीघ्र बाद 1921-22 के वाशिंगटन नौसैनिक सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान को दण्डित करते हुए उसकी नौसैनिक क्षमता को कम कर पड़ोसियों की तुलना में सीमित कर दिया। उस समय तो जापान इसे सहन करने के लिए विवश था, परन्तु इस संधि से वह बहुत असंतुष्ट एवं क्रुद्ध था। यह एक महत्वपूर्ण कारण था कि उसने आगे हिटलर एवं मुसोलिनी के गुट में शामिल होकर रोम-बर्लिन-टोक्यो धुरी का निर्माण किया।

■ पेरिस शान्ति सम्मेलन की विफलता के कारण-

- पेरिस शांति सम्मेलन एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, परंतु अफसोस यह है कि उसके प्रावधान पिछली यूरोपीय कांग्रेस की तुलना में अधिक अल्पकालिक सिद्ध हुए। इसके निम्नलिखित कारण थे-

1. पराजित देशों के साथ अधिक कठोर व्यवहार किया गया।
2. विल्सन के 14-सूत्रीय कार्यक्रम के साथ के साथ खुलकर अवहेलना की गई।
3. संधि का निर्धारण ब्रिटेन, फ्राँस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने मिलकर किया था, परंतु संधि के क्रियान्वयन में परस्पर सहयोग नहीं हुआ क्योंकि अमेरिका अपने महाद्वीप में लौट गया था तथा ब्रिटेन और फ्राँस के बीच मतभेद उभर गया।
4. पेरिस शान्ति सम्मेलन में विश्व के सबसे बड़े राष्ट्र सोवियत रूस को शामिल नहीं किया गया।

अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण

प्रथम विश्व युद्ध यूरोपीय साम्राज्य को समाप्त तो नहीं कर सका परंतु साम्राज्यवाद के ताबूत में पहली कील अवश्य ठोक दी।

- ध्यातव्य है कि प्रथम विश्वयुद्ध ने 'जो प्रजातंत्र और स्वतंत्रता के नाम पर लड़ा गया था' उपनिवेशों की आकांक्षा को जगा दिया।
- विल्सन के 14 सूत्रीय कार्यक्रम ने आग में घी का कार्य किया।
- प्रथम विश्व युद्ध ने यूरोपीय अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचाया और वैश्विक स्तर पर संयुक्त राज्य अमेरिका को महाशक्ति के रूप में स्थापित कर दिया।
- यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने एक बार फिर उपनिवेशों पर अपना कठोर नियंत्रण स्थापित करना चाहा परंतु यह बात लगभग तय हो गई थी कि अब उपनिवेशों से उनका प्रस्थान केवल समय की बात रह गई है।

■■■

रूस की बोल्शेविक क्रांति

- सर्वप्रथम मार्क्स के द्वारा यह घोषणा की गई थी कि पूँजीवाद का संकट समाजवाद के विकास के लिए रास्ता तैयार करेगा। उसके लिए पूँजीवाद के संकट का अर्थ था कि अत्यधिक औद्योगीकरण से उत्पन्न वर्ग संघर्ष की स्थिति। लेनिन के शब्दों में, साम्राज्यवाद ने तात्कालिक रूप में पूँजीवाद को संकटग्रस्त होने से बचा लिया था। उसके अनुसार, पूँजीवादी सरकारों ने अपने आपको वर्ग संघर्ष और श्रमिक आंदोलन से बचाने के लिए कुछ समय के लिए अपने श्रमिकों का शोषण सीमित कर दिया और अतिरिक्त संसाधन के लिए उपनिवेश की ओर मुड़ गए। इसलिए लेनिन ने उपनिवेश के लोगों को 'नए सर्वहारा' का नाम दिया।
- परंतु उसका मानना था कि भले ही पूँजीवाद का संकट थोड़े समय के लिए टल गया हो, परंतु समाप्त नहीं हुआ है। साम्राज्यवादी प्रसार के मध्य ही पूँजीवादी देशों में टकराहट होगी, यह टकराहट एक अखिल यूरोपीय युद्ध को जन्म देगी। इस युद्ध के मध्य पूँजीवाद कमजोर पड़ जाएगा। इसी का फायदा उठाकर सर्वहारा वर्ग को सरकार पर कब्जा कर लेना है। फिर यही रणनीति उसने रूस के संदर्भ में अपनाई।

- विश्व इतिहास में 1789 एवं 1917 के वर्ष महत्वपूर्ण भू-चिह्न बनकर उभरते हैं। 1789 के वर्ष में एक लंबे प्रयास के पश्चात् बुर्जुआ वर्ग ने सरकार का नियंत्रण स्थापित किया था, तो 1917 के वर्ष में मार्क्स के कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो को पहली बार क्रियान्वयन की दिशा में आगे बढ़ने का मौका मिला और एक सर्वहारा सरकार स्थापित हुई। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि रूस की बोल्शेविक क्रांति ने उस प्रश्न का जवाब देने का प्रयास किया, जो फ्रांस की क्रांति के मध्य अनुत्तरित रह गया था।

■ दो क्रांतियों का सहयोग अथवा एक ही क्रांति के दो चरण?

- रूस की क्रांति के मध्य दो क्रांतियाँ घटित हुईं- एक क्रांति मार्च में घटित हुई, तो दूसरी अक्टूबर में। इसे दो भिन्न क्रांतियाँ मानने के बजाय एक ही क्रांति के दो चरण माने जाने चाहिए- बुर्जुआ चरण एवं सर्वहारा चरण।

■ प्रथम चरण (फरवरी-मार्च क्रांति) अथवा बुर्जुआ चरण:

- **कारण अथवा पृष्ठभूमि**- आश्चर्य का विषय यह है कि रूस यूरोप के पूर्वी छोर पर स्थित था तथा पिछली तीन शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप में होने वाले परिवर्तनों से बहुत कम प्रभावित हुआ था। इसलिए अगर हम मार्च क्रांति के कारणों का परीक्षण करते हैं तो इसके निम्नलिखित कारण दिखाई पड़ते हैं-

1. **प्रजातंत्र के युग में कठोर राजनीतिक संरचना को बनाए रखने का प्रयास**- कुल मिलाकर 1917 में रूसी राष्ट्र की वही स्थिति थी, जो 1789 में फ्रांसीसी राजतंत्र की रही थी। राजतंत्र कितना निरंकुश रहा था, इस बात का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1905 की क्रांति के बाद ही रूस में पहली प्रतिनिध्यात्मक संस्था अथवा विधानमंडल के रूप में ड्यूमा का गठन हुआ था।
2. **परंपरागत सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन को रोकने का प्रयास**- सरकार सामाजिक परिवर्तन के मार्ग में भी बाधा बनी हुई थी। रूस में स्वतंत्र रूप में एक मध्यवर्ग का विकास नहीं हो सका था, फिर 1861 से पूर्व वहाँ दास व्यवस्था भी प्रचलित थी। पहली बार 1861 में अलेक्जेंडर द्वितीय की सरकार ने दास व्यवस्था का उन्मूलन किया। परंतु चूँकि उसने भूमि का पुनर्वितरण नहीं किया, इस कारण से दासों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकी।
3. **आर्थिक पुनर्वितरण के बिना रूस में आर्थिक संवृद्धि को प्रोत्साहन**- यह सही है कि 19वीं सदी में रूसी सरकार ने औद्योगीकरण की दिशा में गंभीर कदम उठाया था, परंतु इसका वास्तविक उद्देश्य रूस के शासक के नेतृत्व में रूस को एक सशक्त पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में स्थापित करना था, जो साम्राज्यवादी विश्व में अपना वर्चस्व स्थापित कर सके। इस पूरी सुधार प्रक्रिया में रूस की जनता के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा गया। वस्तुत: पूँजीवादी आधुनिकीकरण की निम्नलिखित सीमाएं उभर कर आईं-

a. स्टॉपलिन नामक विशेषज्ञ के अंतर्गत जो कृषि सुधार की प्रक्रिया आरंभ की गई थी उसका उद्देश्य रूसी उद्योगों के लिए बाजार का विस्तार करना था, न कि किसानों का उत्थान। अत: इसका फायदा केवल धनी किसानों को मिला।

b. रूसी औद्योगीकरण राज्य के अंतर्गत लाया गया था। अत: यह एक सशक्त मध्यवर्ग को जन्म नहीं नहीं दे सका, जो फ्राँस की तरह बुर्जुआ वर्ग को क्रांति के मध्य मजबूत बना पाता।

c. यद्यपि पश्चिमी देशों की तुलना में औद्योगीकरण अपेक्षाकृत सीमित था, परंतु औद्योगीकरण की विशेषता यह थी कि अधिकांश उद्योग एक ही क्षेत्र में स्थापित थे। इसलिए कुछ खास क्षेत्रों में श्रमिकों की आवाजाही हुई। इससे वर्गीय चेतना में तेजी से प्रसार हुआ।

4. **एक बौद्धिक वर्ग का उद्‌भव तथा उसके द्वारा व्यवस्था की तीव्र आलोचना**– जैसा कि हम जानते हैं कि विद्रोही मनोवृत्ति को क्रांति का जामा पहनाने तथा जन असंतोष को दिशा देने का काम विचारक करते हैं। इन विचारकों के द्वारा अन्यायपूर्ण व्यवस्था की आलोचना करके उस व्यवस्था की वैधता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है। रूस में भी ऐसे ही विचारक थे– लियो टॉल्सटॉय, मैक्सिम गोर्की, दोस्तोयेव्स्की, इवान तुर्गनेव आदि। टॉल्सटॉय ने 'War & Peace' के माध्यम से रूसी जनता में गौरव की भावना भरी। गोर्की, जो स्वयं बोल्शेविक दल का सदस्य भी रहा, ने 'मदर' (माँ) नामक एक क्रांतिकारी कृति की रचना की। इन सबके प्रभाव में एक सशक्त बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ।

5. **कुछ प्रमुख घटनाओं की भूमिका**–

- **1905 की क्रांति**– सरकार के विरुद्ध असंतोष तो पहले से ही चला आ रहा था, किंतु जब 1905 में सरकार जापान के हाथों हार गई, तो फिर जन असंतोष को बल मिला। फिर लोगों के एक समूह के द्वारा राजमहल में जाकर अपनी माँगों की एक तालिका प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। परंतु सरकारी अंगरक्षकों ने गोली चला दी, जिसके कारण कई लोगों की मौत हो गई और कई अन्य घायल हो गए। इसे 'खूनी रविवार' के नाम से जाना गया।
- फिर इसने देखते-देखते एक क्रांति का रूप ले लिया जिसमें किसानों ने बढ़-चढ़ कर भूमिका निभाई। आरंभ में तो सरकार झुक गई, परंतु आगे क्रांति की शक्ति कमजोर पड़ते ही उसने उसे दबा दिया। इसलिए यह क्रांति कोई बड़ा परिवर्तन नहीं ला सकी।
- **प्रथम विश्वयुद्ध की भूमिका**– 1917 की रूसी क्रांति की व्याख्या प्रथम विश्व युद्ध की भूमिका के बिना नहीं हो सकती। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि क्रांतिकारी विचारों को बलपूर्वक दबा दिया जाता और कुछ सुधार करके लोगों को संतुष्ट करने का प्रयास किया जाता। रूस की क्रांति भी उसी दिशा में जा सकती थी क्योंकि सरकार ने परिवर्तन की दिशा में कदम बढ़ा दिया था, परंतु प्रथम विश्वयुद्ध ने संपूर्ण संतुलन को बिगाड़ दिया। प्रथम विश्वयुद्ध ने निम्नलिखित रूप में स्थिति को संकटपूर्ण बना दिया–

a. इस काल में कार्यपालिका एवं विधानमंडल (ड्यूमा) के बीच अत्यधिक मतभेद उपस्थित हुआ।

b. बिना किसी आर्थिक योजना के ही रूस के द्वारा युद्ध में शामिल होने से बाजार में आवश्यक वस्तुओं की कमी हो गई। फिर, सरकार के द्वारा अत्यधिक नोट छापे जाने के कारण मूल्य वृद्धि की समस्या उत्पन्न हो गई।

c. शत्रु पक्ष को परास्त करने के लिए सरकार के द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की रणनीति को अपनाया गया, जिसे 'स्कॉर्च्ड अर्थ नीति' (Scorched-earth policy) के नाम से जाना गया। इस नीति के तहत आवश्यक सामग्रियों को नष्ट किए जाने के कारण भी लोगों में असंतोष था।

d. शासक जार निकोलस-II के द्वारा युद्ध की कमान अपने हाथों में लिए जाने के कारण वह स्वयं युद्ध मोर्चे पर चला गया तथा उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी जरीना और उसके धार्मिक गुरु रासपुतिन के षड्यंत्रों के कारण राज परिवार की प्रतिष्ठा को धक्का लगा।

■ **घटनाक्रमः**–

- मूल्य वृद्धि की समस्या से जूझते हुए लगभग 4 लाख श्रमिक पेट्रोग्राद की सड़कों पर उतर गए तथा सरकार के आदेश के बावजूद सैनिकों ने उन पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। अतः क्रांति घटित हो गई और 15 मार्च, 1917 तक जार निकोलस द्वितीय की सरकार का पतन हो गया। दूसरी तरफ, पेट्रोग्राद के श्रमिक एवं सैनिकों ने मिलकर पेट्रोग्राद सोवियत का गठन किया। इस प्रकार, दो भिन्न दृष्टिकोण वाली संस्थाएँ ड्यूमा तथा पेट्रोग्राद सोवियत, क्रांति का नेतृत्व करने लगीं।
- आरंभ में, बुर्जुआ सरकार तथा नरम समाजवादियों की सरकार गठित हुई। पहली सरकार लुवोव के अंतर्गत अप्रैल में और दूसरी सरकार केरेंस्की के अंतर्गत जुलाई में गठित हुई। किंतु इन सरकारों को निम्नलिखित चुनौतियों का सामना करना पड़ा–

1. एक तरफ ड्यूमा नामक संस्था थी, जिस पर बुर्जुआ वर्ग का प्रभाव था, दूसरी तरफ पेट्रोग्राद सोवियत (किसानों और सैनिकों से मिलकर बना संगठन) थी, जो उग्र सुधार लाना चाहते थे। इसलिए कोई भी सरकार इन दो भिन्न विरोधी दृष्टिकोणों के बीच पिस रही थी।
2. किसानों के द्वारा क्रांति के मध्य जमीदारों की भूमि पर कब्जा कर लिया गया था। अतः उस भूमि के भविष्य का निर्णय लिया जाना था।
3. सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि रूस को युद्ध जारी रखना चाहिए या प्रथम विश्वयुद्ध से बाहर निकल जाना चाहिए।

- इन मुद्दों पर उपर्युक्त दोनों सरकारों के द्वारा निर्णय नहीं लिया जा सका।

■ **क्रांति का द्वितीय चरण (अक्टूबर-नवम्बर क्रांति) अथवा सर्वहारा चरण:**

- अप्रैल, 1917 में रूस में लेनिन का आगमन हुआ और फिर उसने संपूर्ण क्रांति की दिशा ही बदल दी। बोल्शेविक क्रांति के क्षेत्र में **लेनिन द्वारा अपनाई गई विशिष्ट रणनीति** निम्नलिखित है-

1. लेनिन के द्वारा दिए गए नारे (Peace, Land and Bread) ने विभिन्न वर्गों को आकर्षित किया।
2. लेनिन के द्वारा रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवादी क्रांति की व्याख्या की गई। उसने यह घोषित किया कि विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था रूपी इस जंजीर में शक्तिशाली कड़ी पर चोट करने से जंजीर नहीं टूटेगी, वहीं कमजोर कड़ी पर चोट करने से जंजीर टूटकर बिखर जाएगी। इस प्रकार, उसका मानना था कि रूस जैसे अपेक्षाकृत पिछड़े क्षेत्र में क्रांति लाने से विश्व क्रांति का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है।
3. उसने रूसी सर्वहारा को क्रांति का निम्नलिखित सूत्र दिया। उसके अनुसार, रूसी सर्वहारा को रूस के किसानों के साथ मिलकर क्रांति का प्रथम चरण पूरा करना चाहिए। इस चरण के पूरा होने तक श्रमिकों और किसानों के बीच फूट पड़ जाएगी। किसान पृथक हो जाएंगे, तो निर्धन किसानों की सहायता से उसे क्रांति का दूसरा चरण पूरा करना चाहिए। इस चरण में उसे क्रांति को अन्यत्र भी निर्यात करना चाहिए, ताकि विश्व क्रांति का लक्ष्य पूरा हो सके।
4. वह नेपोलियन की तरह सही समय पर सही निर्णय लेता था। उदाहरण के लिए, वह जुलाई में बोल्शेविक पार्टी के द्वारा सत्ता ग्रहण करने के निर्णय पर तैयार नहीं था, वह अक्टूबर में जाकर ही उसके लिए तैयार हुआ।
5. वह अपने लक्ष्य के प्रति इतना समर्पित था कि वह कोई भी अवसरवादी साधन को अपनाने के लिए तैयार रहता था। एक अवसर पर तो उसने केरेंस्की की सरकार के साथ भी सहयोग की नीति अपना ली थी।
6. मार्च क्रांति के पश्चात् रूस में गठित दोनों सरकारें रूसी लोगों की आकांक्षाओं को पूरा करने में विफल रहीं।

■ **बोल्शेविक पार्टी के द्वारा सत्ता पर कब्जा तथा लेनिन के द्वारा क्रांति का संगठन:**

- अक्टूबर, 1917 के अंत में ट्रॉटस्की के नेतृत्व में बोल्शेविक कार्यकर्त्ताओं के एक समूह ने गुरिल्ला पद्धति के माध्यम से सरकार पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार, सर्वहारा सरकार जनक्रांति के माध्यम से नहीं, वरन् योजना, संगठन तथा प्रशिक्षित बोल्शेविक कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से सफल हुई। अगर एक तरह से देखा जाए, तो सर्वहारा क्रांति न तो मार्क्स ला पाया और न ही सही मायने में लेनिन।
- सत्ता में आने के पश्चात् लेनिन के सामने एक प्रमुख चुनौती थी क्रांति को संगठित करना। सर्वप्रथम उसे दो चुनौतियों का समाधान करना था-
- प्रथम, किसानों के द्वारा जमींदारों की भूमि पर जो कब्जा किया गया था, उसका भविष्य क्या हो? लेनिन ने उस भूमि के भविष्य का निर्णय करते हुए उसे किसानों के नियंत्रण में छोड़ दिया, जिस पर क्रांति के मध्य किसानों ने कब्जा कर रखा था। यद्यपि यह निर्णय साम्यवादी अवधारणा के विपरीत जा रहा था क्योंकि साम्यवादी मॉडल के अनुसार उस भूमि को सामूहिक नियंत्रण में लाया जाना चाहिए।
- उसके समक्ष दूसरी चुनौती थी प्रथम विश्व युद्ध में सोवियत रूस की भागीदारी। उसने प्रथम विश्वयुद्ध को पूँजीवादी युद्ध करार देते हुए उससे बाहर निकलने का निर्णय लिया और मार्च, 1918 में जर्मनी के साथ **ब्रेस्ट-लिटोव्स्क** की संधि कर ली। इस संधि में उसने लगभग एक चौथाई यूरोपीय भूभाग और एक तिहाई यूरोपीय जनसंख्या को गंवा दिया, परंतु वह पीछे नहीं हटा क्योंकि उसकी पहली प्राथमिकता थी कम्युनिस्ट आंदोलन को संगठित करना।

हालांकि इस कारण उसके समक्ष एक नई चुनौती उपस्थित हुई। मित्र राष्ट्रों ने सोवियत रूस पर आक्रमण कर दिया, परंतु सोवियत रूस ने इस चुनौती को स्वीकार किया तथा ट्रॉटस्की के अधीन एक लाल सेना ने सफलतापूर्वक इस आक्रमण का सामना किया।

- लेनिन ने समाजवादी व्यवस्था को सफल बनाने के लिए आतंक तथा रियायत (Terror and Concession) दोनों प्रकार की नीतियाँ अपनायीं-

आतंक या दमन की नीति-

1. बोल्शेविक पार्टी के अंतर्गत एक तानाशाही सरकार की स्थापना की गई।
2. दमन की नीति के तहत लेनिन ने **'चेका'** नामक एक गुप्त पुलिस संगठन की स्थापना की और अपने विरोधियों का सफाया कर दिया। परंतु उसने इस बात का ध्यान रखा कि जैकोबियन शासन की तरह आतंक की यह नीति आंतरिक नहीं हो, केवल बाह्य रहे।
3. **युद्धरत साम्यवाद (War Communism) (1918 -1921)**- किसी भी सरकार की सफलता के लिए

आवश्यक होती है एक सशक्त अर्थव्यवस्था। अत: लेनिन के समक्ष एक बड़ी चुनौती थी उत्पादन को ऊँचे स्तर पर पहुंचाना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लेनिन ने कई प्रकार के प्रयोग किए। इसके तहत लेनिन ने अर्थव्यवस्था को बलपूर्वक राज्य के नियंत्रण में लाया तथा उत्पादन के उच्च स्तर को प्राप्त करने के लिए उसने कई प्रकार के कठोर नियंत्रण स्थापित किए। लक्ष्य न प्राप्त करने की स्थिति में कठोर दंड की व्यवस्था की, परंतु उसका परिणाम और भी घातक हुआ। लेनिन ने 1921 में यह महसूस किया कि उत्पादन का स्तर कम होकर 1914 के उत्पादन का मात्र 13% रह गया था।

- **नई आर्थिक नीति (NEP)**- अब लेनिन ने बिल्कुल ही नए प्रकार का प्रयोग किया, जो उसके पुराने अनुभव से और समाजवादी सिद्धांत से अलग था और वह प्रयोग था समाजवादी और पूँजीवादी व्यवस्था की मिश्रित पद्धति का प्रयोग। (लेनिन की इस पद्धति ने नेहरूवादी आर्थिक मॉडल को भी प्रभावित किया था) इसके तहत निम्नलिखित प्रमुख कदम उठाए गए-

i. लगभग 90% अर्थव्यवस्था को राज्य के नियंत्रण में रख दिया गया।

ii. किसानों को निजी स्तर पर खेती करने और अपने अतिरिक्त उत्पादन को बाजार में बेचने की अनुमति मिल गई, बस उनसे कर देने की अपेक्षा की जाती थी।

iii. देशी एवं विदेशी पूँजी को भी उद्योग एवं व्यापार में निवेश करने तथा मुनाफा अर्जन करने की अनुमति मिली।

रियायत की नीति-

1. रियायत की नीति के तहत उसने सोवियत रूस के अंतर्गत विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों की नस्लीय एवं सांस्कृतिक पहचान को स्वीकृति दे दी। इस उद्देश्य से उसने सोवियत रूस को 15 गणतंत्रों का संघ बनाया तथा प्रत्येक गणतंत्र में एक प्रभावी अल्पसंख्यक समूह को स्वीकृति दी। एक तरह से अगर देखा जाए, तो यह साम्यवाद की मूल भावना के विपरीत जा रही थी क्योंकि उसमें केवल वर्गीय पहचान के लिए जगह थी।

■ स्टालिन का उद्‌भव (1927-53 ई.)

- 1924 में लेनिन का देहांत हो गया। यद्यपि उसका अधिकृत उत्तराधिकारी ट्रॉटस्की था, परंतु जोसेफ स्टालिन ने बलपूर्वक सत्ता पर कब्जा कर लिया और उसने विरोधियों का सफाया कर दिया। सोवियत रूस में साम्यवाद के इतिहास में स्टालिन की निम्नलिखित भूमिका रही-

स्टालिन के शासन का क्रूर पक्ष-

- स्टालिन ने एक पार्टी की तानाशाही को एक व्यक्ति की तानाशाही में परिवर्तित कर दिया था। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसने बहुत ही क्रूर नीति अपनाई। अपने विरोधियों को या तो मरवा डाला या फिर मनोचिकित्सा वाले अस्पताल में भर्ती करवा दिया। भूमि के सामूहिकीकरण के मध्य ही लगभग 10 लाख लोग मौत के घाट उतार दिए गए।

स्टालिन के शासन का सबल पक्ष (योगदान)-

- सोवियत रूस को एक सशक्त राष्ट्र बनाने में स्टालिन का एक बड़ा योगदान था। इस कारण सोवियत रूस द्वितीय विश्व युद्ध में सफलतापूर्वक जर्मन आक्रमण का मुकाबला कर सका और युद्ध के विध्वंस के बावजूद भी विश्व की दूसरी महाशक्ति के रूप में स्थापित हुआ। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसने निम्नलिखित कदम उठाए-

1. **मार्क्सवादी क्रांति की रणनीति में परिवर्तन**- उसका मानना था कि सोवियत रूस के प्रचारात्मक कार्यक्रम के कारण पूँजीवादी देश संगठित हो सकते हैं तथा वे साम्यवाद को विनष्ट करने का प्रयास कर सकते हैं। इसलिए उसका मानना था कि तात्कालिक रूप में हमें विश्व क्रांति के लक्ष्य को स्थगित कर एक देश में समाजवाद को मजबूत बनाना चाहिए। अत: उसने नारा दिया- विश्व क्रांति बनाम एक देश में समाजवाद।
2. **सोवियत रूस को एक आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना**- वह एक स्वप्नद्रष्टा था तथा उसे यह विश्वास हो चला था कि सोवियत रूस में जो भी आक्रमण होगा, वह पश्चिम से होगा और सोवियत रूस को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनना है तो उसे तीव्र औद्योगीकरण करने की जरूरत है। सोवियत रूस से पहले औद्योगीकरण का पूँजीवादी मॉडल प्रचलित रहा था। परन्तु सोवियत रूस ने औद्योगीकरण का अलग मार्ग अपनाया। उसके समाजवादी औद्योगीकरण की निम्नलिखित विशेषताएं रहीं-

i. **औद्योगीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कृषि अर्थव्यवस्था का भरपूर दोहन**- स्टालिन ने भूमि पर निजी स्वामित्व को समाप्त कर भूमि के सामूहिकीकरण (Collectivization) की नीति अपनाई अर्थात् भूमि को सहकारी अथवा सामूहिक स्वामित्व में परिवर्तित कर दिया तथा सामूहिक रूप में खेती एवं उत्पादन का वितरण आरंभ हुआ। यहाँ लक्ष्य था- कृषि क्षेत्र के अधिशेष का औद्योगीकरण में निवेश करना, किंतु किसानों ने इस लक्ष्य का विरोध किया। स्टालिन ने इसके लिए उग्र नीति अपनाई।

ii. **निजी स्वामित्व को समाप्त करना** - न केवल भूमि के क्षेत्र में, बल्कि औद्योगिक क्षेत्र में भी निजी स्वामित्व और निजी निवेश को समाप्त कर दिया गया। अब लेनिन की

मिश्रित अर्थव्यवस्था पूर्ण समाजवादी अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई।

iii. **आर्थिक आयोजन (Economic Planning) का आरंभ**– आर्थिक आयोजन पूँजीवादी आर्थिक मॉडल के विपरीत था। जहाँ पूँजीवादी आर्थिक मॉडल बाजार की शक्तियों के आधार पर संचालित होता था जिसमें माँग और पूर्ति निर्धारक कारक होते थे, परंतु समाजवादी अर्थव्यवस्था में राज्य के द्वारा निवेश, उत्पादन और वस्तुओं का वितरण निर्धारित किया जाने लगा।

iv. स्टालिन के द्वारा तीव्र औद्योगीकरण की नीति अपनाई गई, परंतु इस औद्योगीकरण में दो क्षेत्रक मॉडल (Two Sector Model) पर बल दिया गया। दूसरे शब्दों में, दो चरणों में औद्योगीकरण का लक्ष्य प्राप्त किया जाना था, प्रथम चरण में पूँजीगत उद्योगों (Capital Goods Industries) की स्थापना होती, तो दूसरे चरण में उपभोक्ता संबंधी उद्योगों (Consumer Goods Industries) की।

■ **प्रभाव एवं महत्त्व**

1. यह विश्व की पहली सर्वहारा क्रांति थी। इस क्रांति के माध्यम से मार्क्सवादी विचारधारा को पहली बार वास्तविकता का जामा पहनने का अवसर मिला।
2. रूस की क्रांति के पश्चात् यूरोप विचारधारा के स्तर पर इस कदर विभाजित हो गया जैसा कि धर्म सुधार आंदोलन के बाद वह कभी नहीं हुआ था।
3. बोल्शेविक क्रांति की सफलता के पश्चात् विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में साम्यवादी व समाजवादी विचारधारा का तेजी से प्रसार हुआ।
4. इस क्रांति के पश्चात् सोवियत रूस ने आर्थिक आयोजन तथा राज्य नियंत्रण के रूप में आर्थिक विकास का एक वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया और विश्व आर्थिक मंदी (1929–30) के समय सोवियत रूस ने अपनी इस पद्धति के महत्त्व को स्थापित कर दिया। फिर सोवियत रूस की आर्थिक सफलता के पश्चात् यह आर्थिक मॉडल विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी तेज़ी से अपनाया जाने लगा। पूँजीवादी देशों ने भी विश्व आर्थिक मंदी से सबक लेकर समाजवादी अर्थव्यवस्था की कुछ विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। अत: एक दृष्टि से रूस के साम्यवादी आंदोलन ने स्वयं पूँजीवादी पद्धति के स्वरूप को बदल दिया।
5. रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना ने विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया को बल प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, इसने उपनिवेशों को एक वैकल्पिक विचार एवं दृष्टिकोण प्रदान किया, जिसने उन देशों में स्वतंत्रता आंदोलन को प्रेरित किया।
6. आगे संपूर्ण विश्व विचारधारा के आधार पर विभाजित हो गया। अत: रूस में साम्यवादी पद्धति की स्थापना ने शीत युद्ध को प्रोत्साहन दिया।

प्रश्न: लेनिन की नव-आर्थिक नीति ने 1921 में स्वतंत्रता के शीघ्र पश्चात् भारत द्वारा अपनायी गयी नीतियों को प्रभावित किया था। मूल्यांकन कीजिए। (UPSC-2014)

उत्तर: लेनिन की नव-आर्थिक नीति इस रूप में विशिष्ट थी कि इसने न केवल सोवियत रूस तथा आगे पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों के लिए आर्थिक विकास का एक मॉडल तैयार किया, अपितु इसने भारत जैसे नव स्वतंत्र राष्ट्र पर भी अपना प्रभाव छोड़ा। इसने भारतीय आर्थिक नीति को एक नयी दिशा दे दी।

लेनिन के नव-आर्थिक मॉडल के दो महत्वपूर्ण पहलू थे। प्रथम, दो क्षेत्रक मॉडल (Two sector model), जिसे फेल्डमैन मॉडल (Feldman Model) भी कहा जाता है। इस मॉडल के तहत सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों को अर्थव्यवस्था में जगह दी गई। फिर दूसरा पहलू था पूँजीगत और भारी उद्योगों की स्थापना, जिसका उद्देश्य था भावी औद्योगीकरण का रास्ता तैयार करना अर्थात् पूँजीगत उद्योग की स्थापना के पश्चात् उपभोक्ता संबंधी उद्योगों की स्थापना को स्वाभाविक परिणाम के रूप में देखा गया। इसे दूसरी पीढ़ी का औद्योगीकरण कहा गया। भारत ने स्वतंत्रता के शीघ्र बाद द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सोवियत रूस के आर्थिक मॉडल को विशेष महत्व दिया। पी. सी. महालनोबिस ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तहत भारत के भावी औद्योगीकरण का मॉडल तैयार किया जो दो क्षेत्रक मॉडल तथा पूँजीगत उद्योगों पर आधारित था। भारत के औद्योगीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों को महत्व दिया गया तथा भारी उद्योग की स्थापना पर विशेष बल दिया गया। इसे भारत के भावी औद्योगीकरण के लिए आवश्यक तैयारी माना गया। आरंभ में यह मॉडल सोवियत रूस और भारत दोनों ही क्षेत्रों में सफल रहा था, किन्तु आगे सोवियत रूस के साथ-साथ भारत में भी इस आर्थिक मॉडल में एक प्रकार का व्यवधान उत्पन्न हुआ।

■■■

■ भूमिका

- पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक सामान्य विशेषता होती है अतिरिक्त उत्पादन तथा अल्प उपभोग। दूसरे शब्दों में, मुनाफा प्राप्त करने के अतिरिक्त उत्साह में पूँजीपति अपने ही श्रमिकों की तनख्वाह में कटौती करते हैं और उपभोक्ता की जेब से भी अतिरिक्त रकम खींचना चाहते हैं। इस कारण से स्वयं उनका बाजार ही सिकुड़ जाता है तथा अतिरिक्त उत्पादन की समस्या उत्पन्न होती है। अल्प उपभोग पैदा करने में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली तथा शेयर बाजार की भी भूमिका होती है। इस कारण आर्थिक मंदी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की संरचना में ही निहित है।
- 1929-30 ई. की आर्थिक मंदी अमेरिकी शेयर बाजार से आरंभ हुई थी तथा यूरोप से होते हुए यह संपूर्ण विश्व में फैल गई। वैसे तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लगभग प्रत्येक दशक में मंदी का चक्र आता रहा था, परंतु 1929-30 ई. की आर्थिक मंदी अपनी तीव्रता और व्यापकता में पहले की मंदी से पृथक थी। एकमात्र सोवियत रूस ही इसके प्रभाव से बचा रहा था। इसका कारण था कि सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था उस काल में विश्व अर्थव्यवस्था से कटी हुई थी। इसके अतिरिक्त, सोवियत रूस की समाजवादी अर्थव्यवस्था में बाजार की शक्तियों; यथा- माँग और पूर्ति के नियम की गुंजाइश नहीं थी, अपितु अर्थव्यवस्था राज्य नियंत्रण में आर्थिक आयोजन के माध्यम से संचालित हो रही थी।

■ 1929-30 ई. की विश्व आर्थिक मंदी के कारण-

1. पश्चिमी विश्व की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और उपनिवेश की अर्थव्यवस्था के बीच व्यापार के चक्र में व्यवधान आ गया क्योंकि पश्चिम में कृषि अर्थव्यवस्था के मशीनीकरण के कारण उपनिवेशों के कृषि उत्पादों की माँग में गिरावट आ गई। बदले में उपनिवेशों ने भी पश्चिम से आने वाले विनिर्मित उत्पादों में कटौती कर दी।
2. संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप में होने वाले व्यापार में असंतुलन आ गया था तथा व्यापार संतुलन संयुक्त राज्य अमेरिका के पक्ष में चला गया था। वस्तुत: अमेरिका का उपभोक्ता संबंधी उद्योग यूरोप की तुलना में काफी मज़बूत स्थिति में था, जिसके कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की उपभोक्ता संबंधी वस्तुएँ यूरोप के बाज़ार में छा गईं, वहीं यूरोपीय देश संयुक्त राज्य अमेरिका को अपेक्षित मात्रा में वस्तुएँ निर्यात नहीं कर पा रहे थे।
3. यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्यक्रम अमेरिकी निवेश पर निर्भर था। अत: जैसे ही अमेरिकी पूँजी खींची गयी, यूरोपीय अर्थव्यवस्था ठप हो गयी।
4. अमेरिकी शेयर बाजार में उथल-पुथल आ गया। वस्तुत: शेयर की बिक्री बढ़ाने के लिए लोगों को मार्जिन मनी पर (10% स्वयं और 90% बैंक ऋण) शेयर खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस कारण शेयर का भाव तेजी से उठा अर्थात् बुलबुला बन गया। परंतु बैंक ऋण न चुका पाने के कारण लोगों ने तेजी से शेयर की बिक्री शुरू कर दी। इसलिए बुलबुला फूट गया और 24 अक्टूबर, 1929 को शेयर बाजार में भयंकर गिरावट आ गई।

■ इस संकट का सामना करने के लिए उठाए गए कदम-

1. 1932 में लाउसेन सम्मेलन (Lausanne Conference) के आधार पर जर्मनी की लगभग 90% ऋण की राशि माफ कर दी गई, ताकि अगर जर्मन अर्थव्यवस्था ऊपर उठेगी, तो अन्य अर्थव्यवस्थाओं में भी माँग बढ़ेगी।
2. 'टैरिफ (चुंगी) वार एवं करेन्सी वार' से बचने के लिए 1933 में लंदन में यूरोपीय राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। इसमें लगभग 66 देशों ने भाग लिया, किंतु अमेरिका की ज़िद के कारण कोई अंतिम समझौता नहीं हो सका।
3. कुछ यूरोपीय राष्ट्रों ने निजी तौर पर समस्या का हल खोजने का प्रयास किया। इन्होंने सरकारी व्यय एवं निजी खर्च में कटौती के माध्यम से अपने बजट को नियंत्रित करने का प्रयास किया। परंतु इससे समस्या और भी बढ़ गई।
4. नाजी जर्मनी ने बहुत हद तक इसका समाधान खोजने का प्रयास किया। हिटलर द्वारा सरकारी व्यय में वृद्धि करके रोजगार संवर्द्धन की दिशा में कदम उठाया गया। इसके तहत उसने सैनिकों की भर्ती, सार्वजनिक निर्माण कार्य, हथियारों का उत्पादन शुरू किया। परंतु इस क्रम में अर्थव्यवस्था युद्ध की ओर मुड़ गई।
5. इसका एक समाधान केन्सियन अर्थशास्त्र ने देने का प्रयास किया, जब उसने कर प्रणाली और सरकारी व्यय को आर्थिक मंदी के एक समाधान के रूप में प्रस्तुत किया। केन्स ने इस मत को अस्वीकार कर दिया कि उत्पादन (Production) और आय (Income) के बीच संतुलन बना रहता है। उसका विचार था कि कुल आय बाज़ार में दुबारा लौटकर नहीं आ पाती। अगर अर्थव्यवस्था में नकारात्मक प्रवृत्ति (Negative trend) दिखती है, तो निवेशक एवं उपभोक्ता दोनों भयभीत हो जाते हैं तथा पैसे होने के बावजूद भी वे निवेश एवं खरीदारी में रुचि नहीं

दिखाते। इससे माँग में और भी गिरावट हो जाती है तथा बेरोज़गारी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में 'Animal Spirits' को प्रेरित करने के लिये स्वयं सरकार को आगे आना होगा और सरकारी व्यय के माध्यम से माँग को प्रेरित करना होगा।

6. इसका एक व्यावहारिक समाधान अमेरिकी प्रेसिडेंट रूजवेल्ट की **'न्यू डील नीति'** ने दिया, जिसके तहत सरकारी व्यय के माध्यम से मंदी से निपटने का प्रयास किया गया। वस्तुत: अगर केनेसियन अर्थशास्त्र पूँजीवाद के नए संस्करण के सैद्धांतिक पक्ष को उद्घाटित करता, तो 'न्यू डील नीति' (New Deal Policy) इसके व्यवहारिक पक्ष को। केन्स का मानना था कि लोगों को जब रोज़गार के बदले मजदूरी मिलेगी और वे खरीदारी आरंभ करेंगे तो मंदी का चक्र स्वयं टूट जाएगा। अत: रूजवेल्ट ने कृषि क्षेत्र में सुधार, बैंकिंग सुधार, सामाजिक सुरक्षा नीति आदि पर बल दिया तथा सार्वजनिक निर्माण कार्य में एक बड़ी रकम निवेशित की। इसके अतिरिक्त उसने टेनेसी घाटी योजना लाकर अतिरिक्त लोगों को रोजगार देने का प्रयास किया तथा सरकारी बजट को काफी बढ़ा दिया। इन सभी सुधारों का उद्देश्य था बाजार में माँग सृजित करना। इस प्रकार मंदी पर बहुत हद तक काबू पाया गया।

प्रश्न: आर्थिक महामंदी से निबटने के लिए किन नीतिगत साधनों का उपयोग किया गया था? (UPSC- 2013)

उत्तर:- मंदी की स्थिति पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तर्कशास्त्र में ही निहित है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लगभग प्रत्येक दशक में अवसान का चक्र आता रहा था, किंतु 1929-30 की विश्व आर्थिक मंदी अपने प्रसार, अपनी तीव्रता तथा व्यापकता में कहीं आगे निकल गयी थी। स्वाभाविक रूप में इसके समाधान के उपाय भी उतने ही जटिल सिद्ध हुए।

इस प्रकार की मंदी के साथ संघर्ष करने का पूँजीवादी देशों के समक्ष पहला अनुभव था। इन देशों के द्वारा सामूहिक एवं व्यक्तिगत तौर पर कई कदम उठाए गए। सामूहिक समाधान के तौर पर 1932 ई. में लाउसेन सम्मेलन का आयोजन किया गया तथा इसके तहत जर्मनी के युद्ध मुआवजे की राशि को समाप्त कर दिया गया। फिर 1933 ई. में लंदन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया, किंतु यह सम्मेलन कोई निश्चित समाधान तक नहीं पहुँच पाया। अंत में विभिन्न पूँजीवादी देश निजी स्तर पर समाधान का प्रयास करने लगे। जर्मनी एवं फ्रांस के द्वारा सार्वजनिक व्यय में कटौती करने का प्रयास किया गया, किंतु इससे समस्या सुलझने की बजाय और भी उलझ गई। वहीं ब्रिटेन ने बजट नियंत्रण की नीति अपनायी। वह भी कारगर नहीं रही। फिर पूँजीवादी देशों ने अपने गृह उद्योगों को बचाने के लिए एक-दूसरे के विरूद्ध चुंगी की दीवार स्थापित करने का प्रयास किया। इस कारण से एक प्रकार का चुंगी युद्ध छिड़ गया। उसी प्रकार विभिन्न देशों के द्वारा स्वर्णमान त्यागकर निर्यात संवर्द्धन के लिए मुद्रा के अवमूल्यन की नीति, जिसे एक अर्थशास्त्री जॉनसन ने 'Beggar thy neighbour policy' का नाम दिया है, अपनायी गयी, किंतु उपर्युक्त सभी तरीके अप्रभावी ही सिद्ध हुए थे। आगे जर्मनी की नाजी सरकार ने रोजगार संवर्द्धन के लिए सार्वजनिक निर्माण पर बल दिया। यह तरीका बहुत कारगर रहा, किंतु इसने जर्मन अर्थव्यवस्था को युद्ध के पक्ष में मोड़ दिया। दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के द्वारा न्यू डील की नीति के माध्यम से अमेरिकी अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर माँग-वृद्धि के लिए कदम उठाया गया। यह कदम बहुत प्रभावी सिद्ध हुआ। किंतु इसने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन ला दिया। यह पूँजीवाद राजकीय हस्तक्षेप पर आधारित था, मुक्त अर्थव्यवस्था के सिद्धांत पर नहीं।

इस तरह विभिन्न देशों ने आर्थिक मंदी के विरूद्ध अलग-अलग प्रतिक्रिया दिखायी थी।

विश्व आर्थिक मंदी का प्रभाव

पूँजीवाद का संकट

पूँजीवाद के स्वरूप में परिवर्तन	संकट का सामना करने के क्रम में सरकारों की शक्ति एवं हस्तक्षेप बढ़ गया।	पूँजीवाद के संकट का फायदा समाजवाद को, विशेषकर इसलिए कि सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था मंदी के चक्र से बची रही थी। इसलिए संपूर्ण विश्व में समाजवाद की प्रगति।	समाजवाद की बढ़ती हुई लोकप्रियता से पूँजीपति एवं जमींदार चिंतित और बदले में उनके द्वारा उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा फासीवाद को प्रोत्साहन।

- केनेसियन अर्थशास्त्र के द्वारा राज्य हस्तक्षेप पर आधारित पूँजीवाद का विकास।
- अमेरिकी प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट के द्वारा आर्थिक नीति के संचालन में सरकार की भूमिका को बढ़ाना।

■ **विश्व आर्थिक मंदी का प्रभाव:-**

1. विश्व आर्थिक मंदी का सामना करने के क्रम में स्वयं पूँजीवाद का स्वरूप ही बदल गया। पूँजीवाद ने समाजवादी अर्थव्यवस्था की कुछ विशेषताओं को अपना लिया। उदाहरण के लिए, आर्थिक आयोजन। इस परिवर्तन की वैचारिक प्रेरणा एक नए अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड केन्स से मिली। जहाँ एडम स्मिथ मुक्त अर्थव्यवस्था की बात करते थे, वहीं केन्स अर्थव्यवस्था में माँग को बनाए रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप तथा सामाजिक सुरक्षा की बात

करने लगे। इस प्रकार पूँजीवाद के स्वरूप में परिवर्तन आ गया। समाजवादी व्यवस्था के विरूद्ध अपनी विजय का सिंहनाद करने वाली पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्वयं समाजवाद की ऋणी है, समाजवाद ने तो इसके रूप को ही परिवर्तित कर दिया।

2. विश्व आर्थिक मंदी ने यूरोप की प्रजातांत्रिक सरकारों को हिलाकर रख दिया। इस आर्थिक मंदी का सामना करने के क्रम में यूरोपीय सरकारों की शक्ति एवं हस्तक्षेप बढ़ गया।
3. एक तरफ आर्थिक मंदी ने पूँजीवादी मॉडल की कमजोरी को उद्घाटित कर दिया था, वहीं दूसरी तरफ उसने सोवियत रूस के समाजवादी मॉडल की सफलता को भी स्पष्ट कर दिया। इसलिए वैश्विक स्तर पर समाजवादी विचारों की ओर बुद्धिजीवियों और नेताओं का आकर्षण बढ़ गया।
4. समाजवाद की प्रगति ने पूँजीपति एवं जमींदार को भयभीत कर दिया, फिर समाजवाद की प्रगति को रोकने के लिये एक आक्रामक विचारधारा के रूप में फासीवाद का प्रसार हुआ। उसने इटली एवं जर्मनी में एक राजनीतिक मॉडल का रूप ले लिया। अंततः इसका परिणाम द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया।

प्रश्नः- विश्व आर्थिक मंदी ने यूरोप की अर्थव्यवस्था एवं राजनीति दोनों को परिवर्तित कर दिया। विश्लेषण कीजिए।

***(प्रश्न विश्लेषणः-** यह प्रश्न अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। इसमें विचार एवं उदाहरण से अर्थव्यवस्था एवं राजनीति में होने वाला परिवर्तन समझाना है।)*

उत्तरः विश्व आर्थिक मंदी (1929-30) पूँजीवाद के संकट को दर्शाती है। इसने न केवल पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन लाया, बल्कि यूरोप की राजनीति में भी उथल-पुथल ला दी।

विश्व आर्थिक मंदी ने क्लासिकल अर्थशास्त्र पर आधारित मुक्त अर्थव्यवस्था की नीति को गहरा धक्का पहुँचाया। इसके परिणामस्वरूप केनेसियन अर्थशास्त्र का विकास हुआ, जिसने माँग-प्रबंधन (Demand management) में राज्य की भूमिका पर बल देकर एक नयी आर्थिक नीति को जन्म दिया। केनेसियन अर्थशास्त्र के साथ राजकोषीय नीति (fiscal policy) की शुरूआत हुई तथा पूँजीवाद ने समाजवाद के कुछ तत्वों को अपना लिया। फिर भी संकट के प्रति यह एक रचनात्मक प्रतिक्रिया सिद्ध हुई।

दूसरी तरफ, पूँजीवादी संकट के विरुद्ध विध्वंशात्मक प्रतिक्रिया फासीवाद के रूप में प्रकट हुई और इसने यूरोप की राजनीति को एक पृथक दिशा दे दी। वस्तुतः पूँजीवाद के संकट के कारण यूरोप में समाजवाद की प्रगति होने लगी। इससे भयभीत होकर पूँजीपतियों ने आक्रामक राष्ट्रवाद आधारित फासीवाद को समर्थन दिया, ताकि लोगों का ध्यान आन्तरिक संघर्ष से बाह्य संघर्ष की ओर मुड़ जाए। परिणाम था हिटलर एवं मुसोलिनी जैसे फासीवादी नेता का उद्भव एवं द्वितीय विश्व युद्ध।

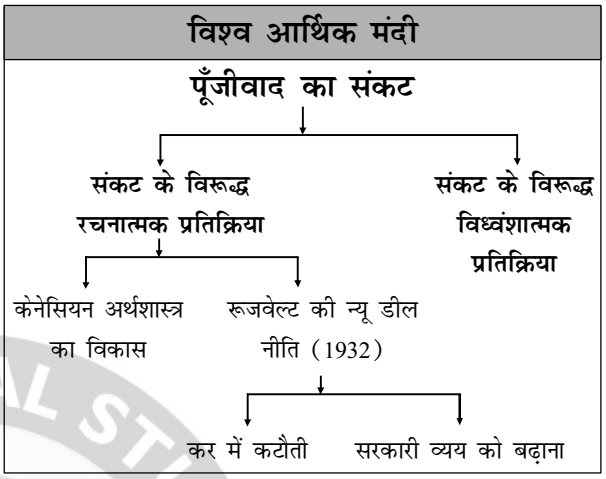

■ **पूँजीवाद के दूसरे बड़े संकट के विरुद्ध प्रतिक्रिया**

• **रचनात्मक प्रतिक्रियाः**

1. **केनेसियन अर्थशास्त्र का विकास**- पूँजीवाद के इस संकट ने क्लासिकल अर्थशास्त्र की मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगा दिया था। इसके विकास में एडम स्मिथ तथा डेविड रिकॉर्डो से लेकर अर्थशास्त्री जे.बी. सेय (J.B. Say) तक की भूमिका रही थी। आर्थिक मंदी के काल में अर्थशास्त्र में 'सेज लॉ' बहुत प्रभावी था। वह यह मानकर चलता था कि उत्पादन अपनी माँग का स्वयं सृजन कर लेता है तथा कुल आय, कुल व्यय के बराबर होती है। इस कारण उत्पादन के साथ ही रोजगार संवर्द्धन होता है और स्वयं माँग का सृजन होता चलता है। इस फॉर्मूले के अनुसार अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की परिकल्पना की गई थी।

• परंतु 1929-30 की आर्थिक मंदी के समय यह देखा गया कि माँग एवं उत्पादन में गिरावट आ गई थी और बेरोजगारी 25% तक पहुँच गई थी। किंतु क्लासिकल अर्थशास्त्री इसे महज एक अस्वाभाविक विकास मानते थे। इनके विचार में इसका कारण रहा था प्रबंधन के द्वारा श्रमिकों की मजदूरी की दर कम नहीं कर पाना क्योंकि, इनके विचार में, इस परिस्थिति में जब माँग में गिरावट होती है, तो वस्तुओं के मूल्य में गिरावट होना स्वाभाविक होता है, फिर उसी के अनुरूप श्रमिकों की मजदूरी कम की जाती है। किंतु श्रमिक चेतना में होने वाले विकास के कारण प्रबंधन मजदूरी की दर कम नहीं कर सका। इस कारण वस्तुओं के मूल्य में गिरावट नहीं आई तथा बाजार में रुकावट आने

लगी। उनके विचार में, यह एक तात्कालिक समस्या थी जो भविष्य में स्वयं ठीक हो जाएगी।

- यही समय है कि जॉन मेनार्ड केंस उभरकर आया और उसने यह घोषित किया कि भविष्य की बात मत कीजिए क्योंकि भविष्य में सभी मरे हुए हैं (In future all dead)। फिर केन्स के द्वारा एक नया आर्थिक सिद्धांत लाया गया, जब उसने 1936 में The theory of employment, interest and money लिखी। केन्सियन अर्थशास्त्र का बल निम्नलिखित कारकों पर रहा था –

i. यह धारणा सही नहीं है कि कुल व्यय, कुल आय के बराबर होता है क्योंकि लोग अपनी आय का कुछ भाग बचा कर रख लेते हैं। अत: वह रकम माँग का सृजन नहीं कर सकती।

ii. अगर निवेश का माहौल नहीं होता, तो निजी निवेशक भी बड़ी रकम होने के बावजूद निवेश के लिए सामने नहीं आते। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में एनिमल स्पिरिट (Animal spirit) को बनाए रखने के लिए सरकार को निवेश के लिए सामने आना होगा।

iii. उसका मानना था कि अर्थव्यवस्था निजी क्षेत्र में ही रहे, परंतु सरकार को माँग प्रबंधन के लिए आगे आना चाहिए। सरकार के पास दो उपकरण होते हैं- करारोपण एवं सरकारी व्यय। अगर अर्थव्यवस्था में माँग में गिरावट होती है, तो सरकार को कर की राशि कम कर देनी चाहिए तथा सरकारी खर्च को बढ़ा देना चाहिए। माँग बढ़ेगी, तो मूल्य बढ़ेगा और मूल्य बढ़ेगा, तो उत्पादन बढ़ेगा, उत्पादन बढ़ेगा तो रोजगार बढ़ेगा, रोजगार बढ़ेगा तो फिर माँग बढ़ेगी। इस प्रकार से यह चक्र तब तक चलता रहेगा जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति न आ जाए। किंतु इस स्थिति में माँग इतनी अधिक बढ़ जाएगी कि अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी प्रभाव पड़ने लगेगा। फिर सरकार को कर की दर को बढ़ा देना चाहिए और सरकारी व्यय में कटौती करनी चाहिए। (इसी काल में सरकार उस घाटे को पूरा कर सकती है, जो उसने सरकारी व्यय के माध्यम से किया है।)

2. **अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट की न्यू डील की नीति**- मंदी की चुनौती को संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वीकार किया और प्रेसिडेंट के पद पर चयन होने के पश्चात् फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने 1932 में न्यू डील अथवा नये व्यवहार की घोषणा की। उन्होंने यह घोषित किया कि विश्व एवं संयुक्त राज्य अमेरिका को आर्थिक मंदी के चक्र से बचाने के लिए हम न्यू डील की घोषणा करते हैं।

- रूजवेल्ट ने 100 दिनों का सुधार लागू किया। यद्यपि वह मेनार्ड केंस के प्रत्यक्ष निर्देशन में कार्य नहीं कर रहा था फिर भी उसने जो सुधार किए, वे केंस के निर्देशन के अनुकूल था। उसने जो भी सुधार किए, उनका उद्देश्य अर्थव्यवस्था में माँग सृजन करना और मंदी का चक्र तोड़ना था, यथा- सार्वजनिक निर्माण कार्य को प्रोत्साहन, लोगों को सब्सिडी देना, आवास योजना का क्रियान्वयन, बैंक शाख व्यवस्था को मजबूत बनाना, टेनेसी घाटी योजना लाकर अतिरिक्त लोगों को रोजगार देना आदि।
- उपर्युक्त दोनों प्रकार की प्रतिक्रिया को हम आर्थिक मंदी के विरुद्ध रचनात्मक प्रतिक्रिया के रूप में देख सकते हैं। हालांकि, यह एक आर्थिक घटना थी, परंतु इसने अर्थव्यवस्था के साथ-साथ राजनीति एवं संविधान को भी दिशा दे दी।

KHAN SIR

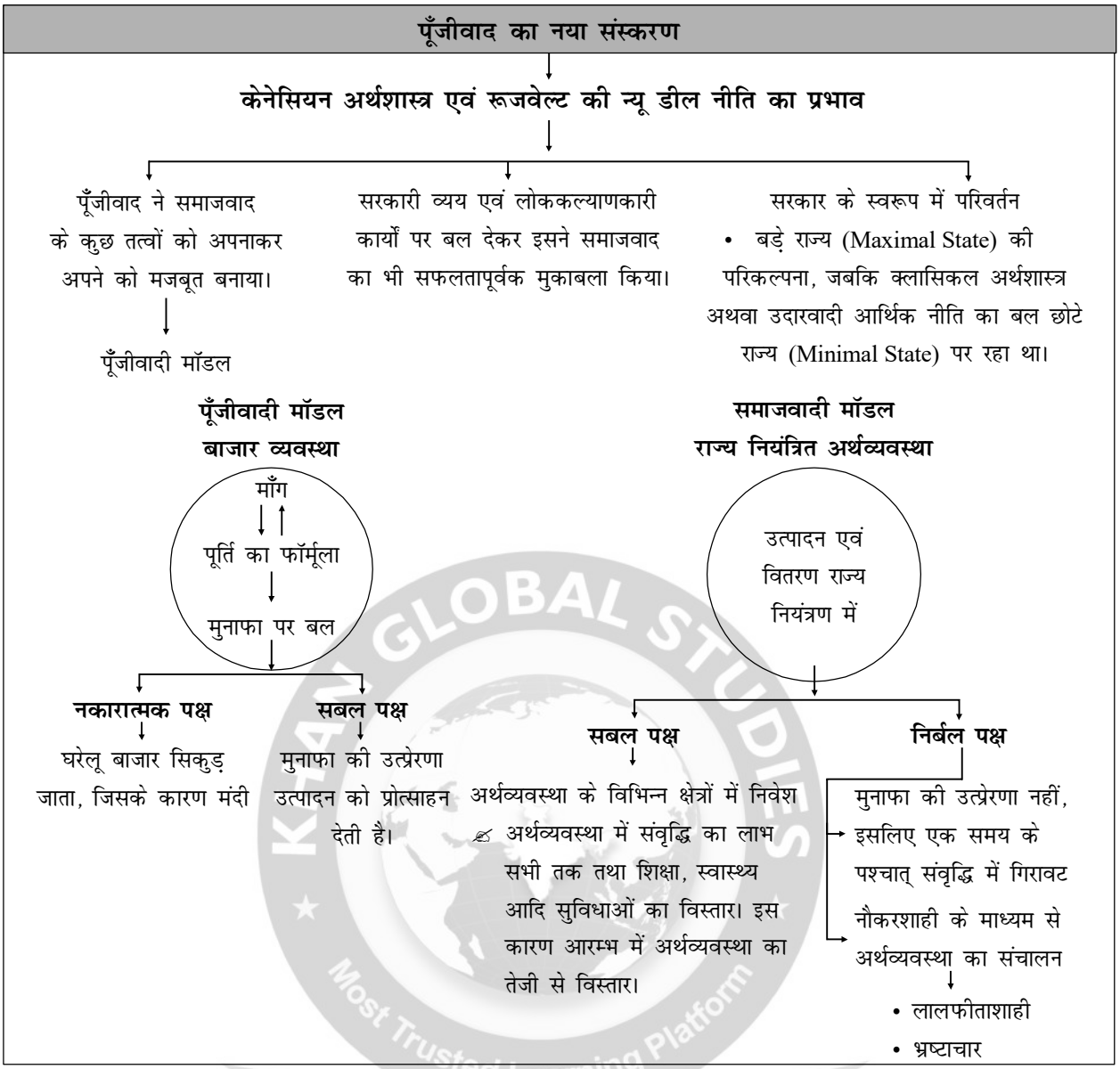

■ **केनेसियन अर्थशास्त्र एवं न्यू डील का प्रभाव –**

1. **पूँजीवादी अर्थव्यवस्था:-** पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के व्यवहार में परिवर्तन आ गया। जहाँ पहले पूँजीवाद का मुख्य बल उत्पादन पर रहा था, अब उसका बल खपत पर हो गया। ऐसा माना जाता है कि मेनार्ड केंस और रूजवेल्ट दोनों ने समाजवाद की कुछ विशेषताओं को चुराकर पूँजीवाद को मजबूत बनाया। अब पूँजीवाद ने समाजवाद से आर्थिक आयोजन का मॉडल ले लिया, ताकि वह भविष्य में संकट से बचा रहे।
2. **राजनीतिक क्षेत्र:-** पूँजीवाद के लिए एक बड़ी चुनौती रही थी सोवियत रूस के द्वारा प्रेरित समाजवादी मॉडल, जिसमें श्रमिक आंदोलन का खतरा छिपा हुआ था। परंतु यह नया पूँजीवाद सफलतापूर्वक समाजवाद का मुकाबला कर सकता था क्योंकि इसने एक कल्याणकारी राज्य का मुखौटा धारण कर लिया था।
3. **संविधान के स्वरूप में परिवर्तन:-** क्लासिकल अर्थशास्त्र एक सीमित राज्य की बात करता रहा था, लेकिन इस नए पूँजीवाद के तहत राज्य का कार्य एवं दायरा काफी बढ़ गया था और उसने एक वृहद् राज्य (Maximal State) का रूप ले लिया।

पूँजीवादी मॉडल

पूँजीवादी मॉडल कोई एकाश्म मॉडल नहीं था, बल्कि देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार इसके स्वरूप में थोड़ा-बहुत अंतर बना रहा। सामान्यत: इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ रहीं-

- अर्थव्यवस्था को निजी स्वामित्व में रखा गया, सरकारी नियंत्रण में नहीं।
- निजी निवेश, निजी उद्यम तथा निजी लाभ को प्रोत्साहन।
- आर्थिक गतिविधियाँ बाज़ार की शक्तियों पर छोड़ी गईं (माँग और पूर्ति के नियम पर), क्योंकि सामान्यत: यह मान्यता रही कि बाज़ार का निर्णय किसी अथॉरिटी के निर्णय से अधिक तर्कसंगत होता है।

- पूँजीवाद का मुख्य बल संवृद्धि पर होता था तथा यह मानकर चला जाता था कि इस संवृद्धि का लाभ अंततः सभी तक पहुँचेगा।
- **सबल पक्ष**– निजी लाभ तथा निजी उद्यम को प्रोत्साहन मिलने से उत्पादन बढ़ता है और इससे संवृद्धि भी बढ़ती है।
- **निर्बल पक्ष**– मुनाफा और निजी उद्यम पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण आर्थिक विभाजन बढ़ता जाता है। कुछ लोगों की प्रगति होती है, परंतु एक बड़ी जनसंख्या वंचित रह जाती है। इसलिये सामाजिक न्याय की गुंजाइश नहीं होती। इस आर्थिक विषमता के कारण स्वयं पूँजीपतियों का बाज़ार सिमटता चला जाता है। इस कारण अतिरिक्त उत्पादन की समस्या आ जाती है और फिर आर्थिक मंदी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वाभाविक लक्षण बन जाती है।

समाजवादी मॉडल

समाजवादी मॉडल का आधार मार्क्सवाद के द्वारा निर्मित किया गया था, परंतु कार्ल मार्क्स ने स्वयं अर्थव्यवस्था का कोई मॉडल नहीं दिया था। आगे लेनिन और स्टालिन ने सोवियत रूस में निरंतर प्रयोगों के बाद जो मॉडल स्थापित किया, उसे समाजवादी मॉडल के नाम से जाना गया। समाजवादी अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ रहीं–

- राज्य ने माँग और पूर्ति के नियमों पर आधारित बाज़ार की शक्तियों में सीधा हस्तक्षेप किया तथा अपने ढंग से अर्थव्यवस्था को दिशा देने लगा।
- संपूर्ण अर्थव्यवस्था राज्य के नियंत्रण में ला दी गई, यथा– भूमि का सामूहिकीकरण कर दिया गया तथा उद्योगों को राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में ला दिया गया।
- बाज़ार की शक्तियों का स्थान आर्थिक आयोजन ने ले लिया। दूसरे शब्दों में, जहाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन बाज़ार की माँग निर्धारित करती थी, वहीं समाजवादी अर्थव्यवस्था में वस्तुओं की माँग राज्य निर्धारित करने लगा।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के लाभ

- राज्य के निरीक्षण के कारण व्यापक स्तर पर संसाधनों का दोहन होने लगा। कृषि के क्षेत्र में विषमता को समाप्त कर भूमि का सामूहिकीकरण कर दिया गया। इससे उत्पादन में वृद्धि हुई तथा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई। इससे वस्तुओं की माँग बढ़ी।
- पूँजीगत उद्योग एवं इंफ्रास्ट्रक्चर आधारित संरचना के विकास पर विशेष बल दिया गया।
- राज्य के द्वारा मुफ्त में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं परिवहन की व्यवस्था की गई। इससे मानव संसाधन का व्यापक विकास हुआ, निर्धनता लगभग समाप्त हो गई।

इस प्रकार, इस मॉडल से सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में लगभग 40% की दर से सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में वृद्धि हुई।

निर्बल पक्ष

- उत्पादन एवं श्रम की मुख्य उत्प्रेरणा मुनाफा होती है, चूँकि मुनाफे को दबा दिया गया, इसलिये अर्थव्यवस्था में दीर्घकाल के लिये संवृद्धि की उत्प्रेरणा नहीं रह गई।
- बाज़ार की शक्तियाँ वस्तुओं की गुणवत्ता को बढ़ाती हैं तथा वस्तुओं के मूल्य को कम करती हैं क्योंकि ये प्रतिस्पर्द्धा से प्रेरित होती हैं। परंतु समाजवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत गुणवत्ता और प्रतिस्पर्द्धा को बनाए रखना कठिन हो जाता है।
- चूँकि, उत्पादन और वितरण राज्य का दायित्व होता है। इसलिये ये एक व्यापक नौकरशाही के द्वारा संचालित किये जाते थे। इस कारण आगे इनमें लालफीताशाही और भ्रष्टाचार की प्रवृत्तियाँ घर कर गईं।

अंतर्अनुशासनात्मक दृष्टिकोण

जैसा कि हम पीछे भी देखते रहे हैं कि विश्व इतिहास के अध्ययन के क्रम में हम परिवर्तन के तत्त्वों को रेखांकित करते हैं। परिवर्तन के ये तत्त्व समकालीन राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज, संविधान, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित करते रहे हैं।

अगर हम विश्व आर्थिक मंदी के दूरगामी प्रभाव पर नज़र डालते हैं तो हमें निम्नलिखित परिवर्तनों का ज्ञान मिलता है–

केन्सियन अर्थशास्त्र तथा पूंजीवाद का नया संस्करण

पूंजीवाद ने अपने संपूर्ण इतिहास में इतना बड़ा संकट कभी नहीं झेला था, जैसा कि उसने 1930 की विश्व आर्थिक मंदी के काल में झेला। ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो पूंजीवाद का खात्मा हो गया। एडम स्मिथ के काल से लेकर जे.बी. सेय (J.B. Say) के काल तक विकसित क्लासिकल अर्थशास्त्र की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लग गया था।

क्लासिकल अर्थशास्त्र का बल इस बात पर रहा था कि एक अदृश्य हाथ (Invisible Hand) अर्थव्यवस्था का संचालन करता है। अर्थव्यवस्था एक स्वाभाविक संतुलन (Equilibrium) पर आधारित होती है– यह पूर्ति एवं मांग (Supply and Demand) के बीच का संतुलन होता है। इसके विचार में पूर्ति अपने मांग का सृजन स्वयं कर लेती है

क्योंकि कुल उत्पादन, कुल आय (Income) के बराबर होता है। उदाहरण के लिये, अगर एक लाख रुपये की वस्तु का उत्पादन हुआ और 50 हजार रुपये पूंजीपति के मुनाफे और 50 हजार रुपये श्रमिकों की मजदूरी के रूप में चला गया तो वे रुपये फिर दुबारा लौट कर बाज़ार में आएंगे और मांग का सृजन करते रहेंगे। इससे उत्पादन होता रहेगा और श्रमिकों को रोज़गार मिलता रहेगा। इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विचार में मुक्त अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी के लिये कोई जगह नहीं थी क्योंकि उनका मानना था कि अगर मांग कम होगी तो वस्तुओं का मूल्य कम होगा और श्रमिकों के वेतन में भी कटौती होगी। फिर वस्तुओं के सस्ता हो जाने से संबंधित देश को लाभ मिलेगा और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उसकी वस्तुएँ अधिक बिकेंगी। उधर वस्तुओं के सस्ते हो जाने से श्रमिकों का वेतन कम होने के बाद भी उनकी स्थिति अच्छी रहेगी।

परंतु आर्थिक मंदी (1929-30) के काल में देखा गया कि मांग में भारी गिरावट आ गई थी तथा बेरोज़गारी की दर बढ़कर 25 प्रतिशत तक पहुँच गई थी। इसके जवाब में क्लासिकल अर्थशास्त्री यह कह रहे थे कि यह एक अल्पकालीन उथल-पुथल है और फिर इस उथल-पुथल का कारण भी श्रमिक एवं ट्रेड यूनियन हैं क्योंकि मांग में कमी होने के बावजूद भी इन्होंने मज़दूरी में कटौती नहीं होने दी। अगर अभी भी बाज़ार को स्वतंत्र रूप में छोड़ दिया जाए तो फिर दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था में संतुलन आ जाएगा।

जे.एम. केन्स ने इस मत को अस्वीकार कर दिया। उसी समय उसकी यह प्रसिद्ध घोषणा आई कि दीर्घकाल में सभी मरे हुए हैं (In long run all are dead)। केन्स ने इस मत को अस्वीकार कर दिया कि उत्पादन (Production) और आय (Income) के बीच संतुलन बना रहता है। उसका विचार था कि कुल आय बाज़ार में दुबारा लौटकर नहीं आ पाती। अगर अर्थव्यवस्था में नकारात्मक प्रवृति (Negative trend) दिखती है तो निवेशक एवं उपभोक्ता दोनों भयभीत हो जाते हैं तथा पैसे होने के बावजूद भी वे निवेश एवं खरीदारी में रुचि नहीं दिखाते। इससे मांग में और भी गिरावट हो जाती है तथा बेरोज़गारी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में 'Animal Spirits' को प्रेरित करने के लिये स्वयं सरकार को आगे आना होगा और सरकारी व्यय के माध्यम से मांग को प्रेरित करना होगा।

इस प्रकार जे.एम. केन्स ने पहली बार राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) की नींव रखी। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि पूंजीपति ही पूंजीवाद के शत्रु बन जाते हैं। इसलिये कोई अदृश्य हाथ (Invisible Hand) बाजार को नहीं चला सकता बल्कि अर्थव्यवस्था के संचालन के लिये सरकार को आगे आना होगा तथा मांग प्रबंधन (Demand Management) करना होगा। उसके विचार में सरकार के पास दो उपकरण हैं- सरकारी व्यय (Government Expenditure) तथा कर (Taxation)। अगर मांग में गिरावट दिखती है तो सरकार अपने व्यय को बढ़ा दे और कर में कटौती कर दे। इससे बाजार में अतिरिक्त रकम आएगी और मांग में वृद्धि होगी। अगर मांग बढ़ेगी तो मूल्य बढ़ेगा, मूल्य बढ़ेगा तो उत्पादन बढ़ेगा, उत्पादन बढ़ेगा तो रोज़गार का संवर्द्धन होगा। फिर जब संपूर्ण रोज़गार की स्थिति आ जाएगी तो मांग इतनी बढ़ जाएगी कि मुद्रास्फीति (Inflation) का प्रभाव दिखने लगेगा तो फिर सरकार, सरकारी व्यय में कटौती कर दे और कर की राशि बढ़ा दे, इससे मांग संतुलित हो जाएगी।

1936 में लिखित अपनी पुस्तक में उसने अपना यह विचार रखा। उसे पूंजीवाद का रक्षक बताया जाता है। आर्थिक मंदी दूर करने में केंसियन अर्थशास्त्र ने बड़ी भूमिका निभाई। सबसे बढ़कर इस मॉडल के आधार पर 1970 तक पूंजीवाद का स्वर्णयुग (Golden Age) कायम रहा।

फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट की 'न्यू डील नीति'

अगर केन्सियन अर्थशास्त्र पूंजीवाद के नए संस्करण के सैद्धांतिक पक्ष को उद्घाटित करता तो अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के द्वारा घोषित 'न्यू डील नीति' (New Deal Policy) इसके व्यवहारिक पक्ष को। 1932 के प्रेसीडेंट के चुनाव में रूजवेल्ट ने लोगों को यह आश्वासन दिया था कि हम आपको इस आर्थिक मंदी के चक्र से उबारेंगे। फिर एक बड़े बहुमत से वह चुनाव जीता। तभी 1933 में 'न्यूयॉर्क टाइम्स' में केन्स ने अपने एक लेख में रूजवेल्ट से यह अपील की कि वह उसके आर्थिक मॉडल पर काम करे। उसका मानना था कि लोगों को रोज़गार मिले अगर कोई दूसरा काम नहीं है तो फिर सभी को यह कहा जाय कि वह गड्डा खोदें और उन्हें भर दें। उन्हें जब मजदूरी मिलेगी और वे खरीदारी आरंभ करेंगे तो मंदी का चक्र स्वयं टूट जाएगा।

1933 में रूजवेल्ट ने 100 दिनों के सुधारों की घोषणा की। उसका बल 'थ्री आर' पर था, 'रिलिफ', 'रिकवरी' एंड 'रिफॉर्म्स'। इसके तहत उसने कृषि क्षेत्र में सुधार, बैंकिंग सुधार, सामाजिक सुरक्षा नीति आदि पर बल दिया तथा सार्वजनिक निर्माण (Public Works) कार्य में एक बड़ी रकम निवेशित की। सरकारी बजट को काफी बढ़ा दिया गया और उसके लिये घाटे की वित्त (Deficit Financing) की व्यवस्था की गई। इन सभी सुधारों का उद्देश्य था, बाजार में मांग सृजित (Demand Creation) करना। इस प्रकार मंदी पर बहुत हद तक काबू पाया गया। हालाँकि, कुछ आलोचकों का मानना है कि मंदी की समस्या द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात ही दूर हो सकी।

संविधान और सरकार की दिशा

ऊपर हमने देखा कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के संकट का सामना करने के क्रम में नए आर्थिक मॉडल का विकास हुआ तथा इस क्रम में केंसियन अर्थशास्त्र तथा रूजवेल्ट की न्यू डील नीति अस्तित्व में आई। यद्यपि यह एक आर्थिक सच्चाई थी, परंतु इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी देखा गया। इन्हीं में से एक क्षेत्र है संविधान और सरकार।

क्लासिकल अर्थशास्त्र, आर्थिक गतिविधियों को बाज़ार पर छोड़ता था और राज्य की भूमिका को कानून व्यवस्था की स्थापना तक ही सीमित रखता था। इस क्रम में एक लघु राज्य (Minimal State) की अवधारणा आई थी। परंतु केन्सियन अर्थशास्त्र एवं रूजवेल्ट की नीति ने राज्य की भूमिका को काफी बढ़ा दिया। अब राज्य का कार्य अर्थव्यवस्था में मांग प्रबंधन करना भी था। इस क्रम में लोक कल्याणकारी कार्य का संचालन किया गया। जाहिर है अब राज्य के कर में वृद्धि कर दी गई। इस तरह एक वृहद् राज्य (Maximal State) की अवधारणा उभरकर आई। जैसा कि पीछे हमने देखा था कि मध्यवर्ग इस प्रकार के राज्य को नहीं चाहता था, परंतु पूंजीवाद के संकट और साम्यवाद के भय से उसे यह स्वीकार करना पड़ा।

इस पूरे परिवर्तन ने सरकार और संविधान को भी एक नई दिशा दे दी। जाहिर है कि आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती हुई भूमिका ने केंद्रीय सरकार की स्थिति को अधिक मज़बूत बना दिया, वहीं दूसरी तरफ राज्य सरकार की स्थिति को अपेक्षाकृत कमज़ोर किया। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम जानते हैं कि सरकार के तीन अंग, यथा- कार्यपालिका, विधानमंडल और न्यायपालिका। इन तीनों अंगों में कार्यपालिका की स्थिति अधिक मज़बूत हुई। वस्तुतः संयुक्त राज्य अमेरिका में रूजवेल्ट की न्यू डील नीति ने संघ-राज्य संबंधों में संघ की स्थिति को अधिक मज़बूत बना दिया। अब संघीय सरकार आर्थिक बातों का संचालन और सामाजिक सुरक्षा नीति पर भी बल देने लगी। इस क्रम में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की टकराहट अमेरिकी न्यायपालिका से हुई तथा न्यायपालिका को भी शक्ति संतुलन में होने वाले इस नए बदलाव की स्थिति को समझना पड़ा।

पूंजीवाद बनाम साम्यवाद

जैसा कि हमने देखा, रूस की क्रांति के पश्चात् पहली साम्यवादी सरकार स्थापित हुई थी। आगे इसने एक नया आर्थिक मॉडल विकसित किया जो बाजार की शक्तियों पर स्थापित न होकर आर्थिक आयोजन (Economy Planning) पर आधारित था। यह मॉडल काफी सफल रहा था और इस कारण सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में तीव्र संवृद्धि (Growth) हुई थी। ठीक उसी समय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मंदी की चपेट में आ गई। इस कारण पूंजीवादी मॉडल की विश्वसनीयता को काफी गहरा झटका लगा था और वैश्विक स्तर पर समाजवादी विचारधारा की प्रगति होने लगी। उस संकट की घड़ी में केंसियन अर्थशास्त्र और न्यू डील एक व्यावहारिक समाधान के रूप में आया और इसने पूंजीवाद और समाजवाद के बीच एक मध्यम प्रकार का मॉडल विकसित करने का प्रयास किया।

इनके द्वारा पूंजीवाद को एक मानवीय चेहरा देकर साम्यवाद का मुकाबला करने का प्रयास किया गया। सोवियत रूस की क्रांति ने मज़दूरों को आकर्षित करने का प्रयास किया था, वहीं केंसियन मॉडल ने सरकारी व्यय तथा मज़दूरों के कल्याण की योजना लाकर साम्यवादी प्रोपेगेंडा का सफलतापूर्वक सामना करना चाहा। इसलिये शीतयुद्ध के काल में केंसियन अर्थशास्त्र से पूंजीवाद को प्रेरणा मिलती रही। इस प्रकार आगे भले ही समाजवादी मॉडल स्वयं बिखर गया, परंतु उसने पूंजीवाद को समाजवाद के कुछ तरीकों को अपनाने के लिये विवश कर दिया।

■■■

■ **फासीवाद क्या है?**

- पूँजीवाद के इस संकट ने अर्थात् विश्व आर्थिक मंदी ने एक व्यापक आर्थिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल को जन्म दिया। इसका सामना करने के क्रम में एक उग्र प्रकार की राष्ट्रवादी विचारधारा को बल मिला। इसे 'फासीवाद' के नाम से जाना जाता है।
- फासीवाद को परिभाषित करना अथवा उसके स्वरूप का निर्धारण करना विद्वानों के बीच एक बड़ा विवादास्पद मुद्दा रहा है। इसका कारण है फासीवाद के मॉडल को किसी स्पष्ट सिद्धांत के बजाय नेताओं के व्यवहार पर टिका होना अर्थात् यह बहुत हद तक अवसरवाद पर आधारित था क्योंकि फासीवादी नेताओं ने सत्ता प्राप्त करने अथवा सत्ता पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए सभी तरह के तरीकों का प्रयोग किया तथा वे अपनी सुविधा के अनुकूल अपनी विचारधारा को भी बदलते रहे थे। उदाहरण के लिए, आरंभ में मुसोलिनी ने समाजवादी होने का नाटक किया था, वहीं 1922 ई. में उसने यह घोषित कर दिया कि "मैं समाजवाद के विरुद्ध जंग छेड़ता हूँ।"
- फिर भी अगर हम इसमें विचारधारा का तत्व खोजने का प्रयास करते हैं, तो हमें यह ज्ञात होता है कि यह एक सुस्पष्ट दर्शन नहीं था, बल्कि इसमें कई प्रकार के विचारों एवं दृष्टिकोणों का मिश्रण था। उदाहरण के लिए, सामाजिक डार्विनवाद, हीगेल का उग्रराष्ट्रवाद, बुद्धि विरोधवाद आदि।

■ **यूरोपीय राजनीति में फासीवादी दल के उद्भव एवं प्रसार के कारण:**

1. **छोटे दुकानदार, शिल्पी एवं कारीगर तथा दैनिक मजदूरी करने वाले कुछ मजदूर-** ये तत्व आर्थिक मंदी से परेशान थे, परंतु अपने आप को साम्यवादी आंदोलन से नहीं जोड़ना चाहते थे।
2. **प्रथम विश्वयुद्ध में पराजित हुए कुछ महत्वपूर्ण अधिकारी एवं सेना**- ये अपनी पराजय और अपमान का प्रतिशोध आक्रामक विदेश नीति के माध्यम से चाहते थे, जो फासीवादी सरकार ही उन्हें दे सकती थी।
3. **पेरिस शांति सम्मेलन से विक्षुब्ध तत्व**- इस शांति सम्मेलन में इटली की जनता ने अपने को ठगा हुआ तथा जर्मनी की जनता ने अपने को अपमानित महसूस किया था। अत: इन दोनों ही राष्ट्रों में फासीदल को आसानी से समर्थन प्राप्त हो गया।
4. **विश्व आर्थिक मंदी का प्रभाव**- मंदी के कारण पूँजीपति वर्ग और जमींदार वर्ग भयभीत हो गए थे क्योंकि साम्यवाद की प्रगति हो रही थी। अत: उन्होंने फासीवाद को समर्थन दे दिया।

■ **फासीवाद का विशेषताएँ**-

- कहा जाता है कि देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार फासीवाद पृथक्-पृथक् रूप में प्रकट होता है, परंतु उनकी कुछ मूलभूत बातों में समानता होती है-
  - संपूर्ण आंदोलन का एक नेता के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द घूमना।
  - वीर पूजा की भावना।
  - उग्र राष्ट्रवाद पर बल।
  - भीड़ मनोविज्ञान से लाभ उठाना।
  - परंपरा एवं अतीत की महानता पर बल।
  - आक्रामक विदेश नीति।
  - वर्ग-संघर्ष की जगह वर्ग-समन्वय को कठोरतापूर्वक लागू करने का प्रयास।
  - प्रजातंत्र एवं समाजवाद का विरोध

■ **इटली में फासीवाद एवं मुसोलिनी**-

- 1919ई. में मुसोलिनी एवं उसके समर्थकों के द्वारा मिलान नामक स्थान पर 'फासी-डी-कॉम्बाटिमेन्टो' नामक एक फासीदल का गठन किया गया, जिसका प्रतीक चिह्न 'लकड़ी का गट्ठर' था।
- **मुसोलिनी एवं फासीदल की सफलता के कारण:-**

1. इटालियन राष्ट्रवादियों में सेंट जर्मन की संधि से गहरा असंतोष व्याप्त था क्योंकि उनके विचार में लंदन की संधि में इटली को एड्रियाटिक क्षेत्र में भू-भाग देने का जो वादा किया गया था, उसका वास्तविक अनुपालन नहीं हुआ। अत: इटालियन राष्ट्रवादियों को यह आश्वासन दिया गया कि पेरिस शांति सम्मेलन में किए गए विश्वासघात का जवाब दिया जाएगा।
2. प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् उत्पादन में गिरावट के कारण बेरोजगारी को प्रोत्साहन मिला, जिससे निम्न समूह के लोग विक्षुब्ध थे।
3. रूस की बोल्शेविक क्रांति के बाद और यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में, जिसमें इटली भी शामिल था, साम्यवादी दल की प्रगति होने लगी। इससे पूँजीपति एवं कुलीन डर गए और वे मुसोलिनी का हाथ मजबूत करने लगे।
4. मुसोलिनी के द्वारा जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए अवसरवादी नीति को अपनाया गया। पहले वह एक समाजवादी दल से जुड़ा हुआ था, परंतु 1922 ई. में उसने

यह घोषणा की कि "हम समाजवाद के विरुद्ध जंग छेड़ते हैं।" इसके अतिरिक्त, उसने इटली के लगभग सभी वर्गों को कुछ न कुछ आश्वासन दिया था- उग्र राष्ट्रवादियों को सेंट जर्मेन की संधि के प्रावधानों को तोड़ने का आश्वासन, श्रमिकों को रोजगार का आश्वासन, पूँजीपतियों को हड़ताल से सुरक्षा का आश्वासन।

5. दूसरी तरफ, इटली में उदारवादी और साम्यवादी दलों के द्वारा मुसोलिनी की प्रगति के बावजूद भी उसे रोकने के लिए कोई गठबंधन का प्रयास नहीं किया गया।
6. आधुनिक तकनीकी; यथा- टेलीग्राफ, टेलीफोन, फोटोग्राफी, रेडियो आदि के माध्यम से अपने विचारों का प्रसार।
7. 1921 ई. के चुनाव में मुसोलिनी को सफलता नहीं मिलने के बाद, उसने बल प्रयोग का सहारा लिया। उसने अपने 50,000 कार्यकर्त्ताओं के साथ रोम की यात्रा कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। अंत में इटली का शासक विक्टर इमैनुएल तृतीय झुक गया और उसे सरकार बनाने का आमंत्रण दिया गया। इस प्रकार, मुसोलिनी प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त हुआ।

- **सत्ता में आने के बाद शक्ति का केंद्रीकरण:-**

1. मुसोलिनी ने अपने आपको सैन्य विभाग, शिक्षा विभाग और न्याय विभाग के प्रधान के रूप में स्थापित किया।
2. 1928 ई. तक उसने चुनावी प्रक्रिया को ध्वस्त कर दिया। अब केवल फासीदल के द्वारा प्रस्तावित लोग ही चुनाव लड़ सकते थे।
3. कहा जाता है कि पाठ्यपुस्तक और बंदूक एक समस्त फासीवादी दल का गठन करती है। इसलिए मुसोलिनी के द्वारा पाठ्यपुस्तक में संशोधन लाकर 317 पुस्तकों की जगह एक पुस्तक को लागू किया गया।
4. 'ओवरा' नामक गुप्त पुलिस संगठन की सहायता से उसने अपने विरोधियों का सफाया कर दिया।
5. 1929-30 ई. की आर्थिक मंदी का सामना करने के लिए उसने दो प्रकार के उपाय किए-

i. निगमित राज्य व्यवस्था का विस्तार करते हुए संपूर्ण अर्थव्यवस्था को उसके अंतर्गत ले आया गया। संपूर्ण अर्थव्यवस्था को 7 भागों में बाँटा गया और प्रत्येक क्षेत्र में नियोक्ता एवं नियुक्त के पृथक्-पृथक् संगठन बनाए गए और उन्हें एक निगम के अंतर्गत रख दिया गया। 1932 ई. तक इस प्रकार के निगमों की संख्या बढ़कर 22 हो गई, फिर भी आर्थिक मंदी का सामना नहीं किया जा सका।

ii. युवकों को रोजगार देने के लिए उसने सैनिक भर्ती आरंभ की और 3 लाख लोगों को सेना में नियुक्त किया। फिर सैनिकों की प्रासंगिकता को बनाए रखने के लिए उसने इथियोपिया पर 1935 ई. में आक्रमण कर दिया। अत: उसकी आर्थिक नीति युद्ध की ओर चली गई।

■ **मुसोलिनी की विदेश नीति** -

- **उद्देश्य:-**

1. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इटली को सम्मानित स्थान दिलाना एवं महान शक्तियों के समानान्तर उसे स्थापित करना।
2. भूमध्यसागरीय क्षेत्र एवं अफ्रीका में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करना।

- **इस संधि के उल्लंघन के क्रम में निम्नलिखित कदम उठाए गए:-**

1. पेरिस के शांति सम्मेलन में फ्यूम बंदरगाह के प्रश्न पर इटली एवं यूगोस्लाविया के बीच विवाद था। 1920 ई. में मित्र राष्ट्रों ने फ्यूम को स्वतंत्र बंदरगाह बना दिया, परन्तु 1924 ई. में मुसोलिनी ने यूगोस्लाविया के साथ समझौता कर फ्यूम बंदरगाह पर कब्जा कर लिया।
2. इसी तरह, अल्बानिया को पेरिस शांति सम्मेलन में स्वतंत्रता मिल गई थी, परन्तु इटली द्वारा आर्थिक मदद् देकर अल्बानिया को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले आया गया। 1927 ई. में तिराना की संधि द्वारा अल्बानिया, इटली का संरक्षित राज्य बन गया।
3. मुसोलिनी ने यूनान के कोर्फू पर आक्रमण किया, परन्तु इंग्लैण्ड के दबाव के कारण उसे कोर्फू खाली करना पड़ा। हालाँकि 5 करोड़ लीरा उसे क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त हो गया।

- आरम्भ में फ्रांस के साथ इटली के संबंध तनावपूर्ण थे क्योंकि अफ्रीका में दोनों के साम्राज्यवादी हित टकरा रहे थे, किंतु जब 1933 ई. में जर्मनी में हिटलर का उद्भव हुआ, तो फ्रांस और इटली एक-दूसरे के करीब आ गए। 1933 ई. में 'लोवाल-मुसोलिनी पैक्ट' हुआ। आरम्भ में मुसोलिनी की दृष्टि हिटलर विरोधी थी। उसने जर्मनी के विरूद्ध जर्मनी के पड़ोसी राज्यों को सुरक्षा की गारंटी भी दी थी। किंतु जब अक्टूबर, 1935 ई. में मुसोलिनी ने इथियोपिया पर आक्रमण किया, तो लीग ऑफ नेशन्स ने उसे दंडित किया। वहीं दूसरी तरफ हिटलर ने मुसोलिनी के द्वारा जीते गए क्षेत्रों को मान्यता प्रदान कर दी तथा अस्त्र-शस्त्र से मुसोलिनी को सहायता प्रदान की। अत: 1936 ई. में 'रोम-बर्लिन' धुरी का निर्माण हुआ।

■ **नाजीवाद के उद्भव को प्रेरित करने वाले कारक**

1. जर्मनी में सैन्यवाद की एक लम्बी परम्परा रही थी। सैन्यवाद की यह मनोवृत्ति जर्मनी के एकीकरण तथा प्रथम विश्व युद्ध के मध्य भी अभिव्यक्त हुई थी। अगर एक तरह से देखा जाए, तो नाजीवाद का एक महत्वपूर्ण तत्व जर्मन सैन्यवाद भी था।

2. वर्साय की अपमानजनक संधि तथा आहत जर्मन राष्ट्रवाद ने नाजीवाद के उद्भव एवं विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया।
3. 1929–1930 ई. की विश्व आर्थिक मंदी ने नाजीवाद की सफलता का मार्ग प्रशस्त किया। आर्थिक मंदी के समय जर्मनी में समाजवादी और साम्यवादी दल की प्रगति होने लगी। इस कारण से जर्मन पूँजीपति वर्ग- जुंकर वर्ग (जमींदार) घबरा गया तथा वह नाजीवाद की राजनीति से जुड़ गया।

■ **हिटलर द्वारा अपनाई गई रणनीति और युक्तियाँ-**

1. वाइमर गणतंत्र की विफलता के कारण स्वाभाविक रूप में लोग नाजीवादी कार्यक्रम की ओर आकर्षित हुए क्योंकि उन्हें प्रतीत हुआ कि नाज़ी पार्टी ही तात्कालिक समस्याओं का बेहतर समाधान ला सकती है तथा जर्मनी को एक सशक्त सरकार दे सकती है।
2. 1921 ई. तक हिटलर जर्मन राष्ट्रवाद तथा श्रमिक समाजवादी पार्टी (नाजी पार्टी) के नेता के रूप में उभरा। वह एक कुशल प्रवक्ता था तथा उसके करिश्मावादी व्यक्तित्व ने जर्मन जनता को प्रभावित किया।
3. म्यूनिख में वाइमर सरकार का तख्ता पलटने की योजना में विफल होने के बाद उसने अपनी रणनीति बदल दी तथा संसदीय संस्थाओं का उपयोग कर उसने अपनी स्थिति मज़बूत करने का निर्णय लिया।
4. उसने सत्ता हासिल करने के लिए एक सुनियोजित तरीका अपनाया। उसने न केवल वर्साय की संधि से उत्पन्न जर्मन असंतोष को भुनाना आरम्भ किया, वरन् उसने जर्मनी के लगभग सभी वर्गों को कुछ न कुछ आश्वासन दिया। जर्मन जनता को संगठित करने के लिए उसने एक दुष्प्रचार का सहारा भी लिया तथा घोषित किया कि वह जर्मनी को यहूदियों, साम्यवादियों तथा जेसुइटों से मुक्त करेगा।
5. 1929–30 ई. की विश्व आर्थिक मंदी के दुष्प्रभाव के कारण 1932 ई. के चुनाव में हिटलर को बड़ी सफलता मिली तथा नाजी पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। फिर राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग ने हिटलर को जनवरी, 1933 ई. में चांसलर पद के लिए आमंत्रित किया। इस प्रकार जनवरी, 1933 में पहली बार नाजी पार्टी सरकार में शामिल हुई, किन्तु अभी भी इसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं था।

■ **हिटलर के द्वारा शक्ति के केन्द्रीयकरण के लिए उठाए गए कदम-**

1. सत्ता में आने के बाद हिटलर ने सर्वप्रथम वाइमर गणतंत्र के अनुच्छेद-48 का, जिसमें आपातकालीन प्रावधान था, उपयोग कर संविधान को ही स्थगित कर दिया।
2. 1934 ई. में हिंडेनबर्ग की मृत्यु के पश्चात् हिटलर ने एक जनमत संग्रह के माध्यम से चांसलर और राष्ट्रपति दोनों पदों को मिला दिया और उस पद पर स्वयं विराजमान हो गया।
3. उसने गुप्त पुलिस संगठन 'गेस्टापो' का निर्माण कर विरोधियों को अपने रास्ते से हटा दिया।
4. उसने रोजगार संवर्द्धन के लिए सार्वजनिक निर्माण के तहत निर्माण कार्य को प्रोत्साहन दिया। फिर बड़ी संख्या में सैनिकों की भर्त्ती की तथा हथियार निर्माण करने वाली फैक्ट्री स्थापित की।
5. उसने सैन्य व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था सभी पर कठोर नियंत्रण स्थापित किया। सैन्य व्यवस्था के अन्तर्गत विरोधियों का सफाया कर अपने समर्थकों को महत्वपूर्ण पद प्रदान किया। अब सैनिकों को अपनी नियुक्ति में हिटलर के नाम से शपथ लेनी होती थी।
6. नाजी पार्टी ने शैक्षणिक पाठ्यक्रम में भी परिवर्तन लाया। अब साहित्यकारों और कलाकारों से यह अपेक्षा की गई कि वे राज्य और नाजी पार्टी का गौरव गान करें। नाजी विचारधारा को लोकप्रिय बनाने के लिए एक मंत्रालय का भी गठन किया गया। इसे 'मिनिस्ट्री ऑफ पॉपुलर एनलाइटमेन्ट एण्ड प्रोपगेण्डा' का नाम दिया गया।
7. नाजी पार्टी ने महिलाओं को या तो महत्वपूर्ण पदों से वंचित कर दिया या उन्हें पुरूषों की तुलना में कम वेतन दिया जाने लगा। महिलाओं के लिए केवल तीन दायित्व निर्धारित किये गए- किन्डर (बच्चे), किर्च (चर्च), कुच (रसोई)।
8. 1935 ई. में हिटलर ने न्यूरेम्बर्ग कानून लाया। इसके अनुसार यहूदियों को जर्मनी की नागरिकता से वंचित कर दिया गया। आगे 1938 ई. में उन्हें जर्मनी छोड़ने का भी आदेश दिया गया तथा तत्पश्चात् यहूदियों के विरूद्ध दंगे भी भड़क उठे।

■ **हिटलर की विदेश नीति**

• **वास्तविक उद्देश्य-**

1. हिटलर की विदेश नीति का प्रथम उद्देश्य वर्साय की संधि के अपमानजनक प्रावधानों को खत्म कर जर्मनी को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली देश बनाना था।
2. पूरब की ओर विस्तार करना- पूर्वी यूरोप के नवगठित राष्ट्रों से खोए हुए जर्मन क्षेत्र को प्राप्त करना।

• **प्रचारात्मक उद्देश्य-**

1. पूरब में यूराल पर्वत तक विस्तार कर लगभग 10 मिलियन जर्मन जनसंख्या को बसाना।
2. विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना।

- **हिटलर की विदेश नीति का क्रमिक विकास** –
- **प्रथम चरण (1933-1936ई.)**- इस चरण में हिटलर की विदेश नीति का उद्देश्य वर्साय की संधि का क्रमबद्ध उल्लंघन करना था। साथ ही वह यूरोपीय शक्तियों को विश्वास दिलाना चाहता था कि वह यूरोपीय व्यवस्था का रक्षक है-

1. अप्रैल, 1933ई. में उसने जर्मन सुरक्षा परिषद् का गठन कर हथियारों का निर्माण और सैनिक तैयारी आरंभ कर दी, जो वर्साय की संधि का उल्लंघन था। फिर अक्टूबर, 1933 में राष्ट्र संघ के नि:शस्त्रीकरण आयोग से वह बाहर हो गया।
2. किन्तु यूरोपीय शक्तियों को अपने विश्वास में लेने के लिए उसने 1934ई. में अनाक्रामक संधि कर ली।
3. उसी प्रकार, उसने 1935ई. में ब्रिटेन के साथ एक नौसैनिक समझौता किया जिसमें जर्मन नौसेना को सीमित रखने का आश्वासन दिया गया।
4. फिर उसने मित्र राष्ट्रों के विभाजित रूख का फायदा उठाते हुए मार्च, 1936 में राइनलैंड के असैन्यीकृत क्षेत्र में अपनी सेना भेज दी।

- **दूसरा चरण (1936-1938ई.)-** इस चरण में हिटलर क्रमिक रूप में पूरब की ओर विस्तार कर रहा था। उसकी रणनीति सैनिक दबाव तथा समझौते के बीच की स्थिति को बनाए रखने की थी। दूसरे शब्दों में, एक तरफ वह सैनिक दबाव के माध्यम से अपनी माँग को पूरा करना चाहता था, तो दूसरी तरफ वह एक खुले युद्ध का खतरा लेने के लिए भी तैयार नहीं था।

1. 1938ई. में ऑस्ट्रिया का विलय जर्मनी के साथ कर दिया।
2. 1938ई. में हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया से जर्मन बाहुल्य जनसंख्या वाले क्षेत्र सुडेंटेनलैंड को जर्मनी में मिलाने की घोषणा की। तभी ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए सितम्बर, 1938 की म्यूनिख की संधि के आधार पर सुडेंटेनलैंड का क्षेत्र जर्मनी को दे दिया गया। यह तुष्टिकरण की नीति की पराकाष्ठा थी।

- **ब्रिटेन के द्वारा तुष्टिकरण की नीति अपनाने का कारण-**

1. ब्रिटेन एक अपराधबोध से ग्रसित था कि वर्साय की संधि में जर्मनी के साथ अन्याय हुआ था। अत: यह आहत जर्मन राष्ट्रवाद है जो यूरोप में क्षेत्रीय माँग कर रहा है। अगर इसे पूरा कर दिया जाए, तो जर्मन राष्ट्रवाद संतुष्ट हो जाएगा।
2. प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय शक्तियों का युद्ध से मोह भंग हो चुका था तथा उन्हें यह एहसास हो गया था कि युद्ध में अन्तत: दोनों पक्ष हारते हैं। इसलिए वे अन्तिम अवस्था तक युद्ध को टालने का प्रयत्न कर रहे थे।
3. ब्रिटेन नाजीवाद का उपयोग रूसी साम्यवाद के विरूद्ध भी करना चाहता था। इसलिए भी उसकी जर्मनी के प्रति दृष्टि थोड़ी नरम थी।

- **अंतिम एवं उग्र चरण (1938ई. के पश्चात्)**- हिटलर ने उग्र एवं आक्रामक नीति को अपनाते हुए मार्च, 1939ई. में संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को जीतकर जर्मनी में मिला लिया। इसने दो बातें स्थापित कर दीं -

1. यह आहत जर्मन राष्ट्रवाद नहीं, वरन् जर्मन साम्राज्यवाद था तथा हिटलर का निशाना महज जर्मन बहुल क्षेत्र नहीं, वरन् यूरोप का कोई भी भू-भाग था।
2. तुष्टिकरण की नीति समस्या का समाधान नहीं थी। अत: अब ब्रिटेन और फ्रांस ने पूर्वी यूरोप के अन्य देश, जिन पर जर्मनी के आक्रमण का खतरा था अर्थात् पौलैण्ड और रोमानिया को सुरक्षा की गारंटी दे दी। परन्तु तुष्टिकरण की नीति के कारण हिटलर यह जानता था कि मित्र राष्ट्र उससे पोलैण्ड के मुद्दे पर युद्ध का खतरा नहीं ले सकते। फिर अगस्त, 1939ई. में स्टालिन के साथ अनाक्रामक संधि कर उसने अपनी स्थिति मजबूत कर ली। फिर 1 सितम्बर, 1939ई. को हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। मित्र राष्ट्रों ने 3 सितम्बर, 1939ई. को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसी के साथ द्वितीय विश्व युद्ध की शुरूआत हो गई।

- **द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्पत्ति:**

- एरिक हॉब्सबॉम के अनुसार, यह एक 31 वर्षीय युद्ध था, जो प्रथम विश्व युद्ध से प्रारम्भ होकर 15 अगस्त, 1945 को समाप्त हुआ था। इसका अर्थ है द्वितीय विश्वयुद्ध का कारण प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों में खोजा जाना चाहिये। वस्तुत: प्रथम विश्वयुद्ध ने जितनी समस्याओं को सुलझाया

नहीं, उससे कहीं अधिक समस्याओं को जन्म दे दिया और अंतत: यह एक अन्य तथा उससे बड़े महाविस्फोट का कारण बना। इसे निम्नलिखित रूप में समझा जाना चाहिये-

1. **पेरिस शांति सम्मेलन एवं जर्मनी और इटली का असंतोष**- इस सम्मेलन में कई ऐसी संधियों पर हस्ताक्षर हुआ, जिनसे कुछ राष्ट्रों में गहरा असंतोष पैदा हुआ। वर्साय की संधि में जर्मनी अपमानित हुआ तथा सेंट जर्मेन की संधि में इटली ने अपने को ठगा हुआ सा महसूस किया। आगे चलकर इसने इटली और जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद के उद्‌भव का रास्ता तैयार किया।
2. **फासीवाद की प्रगति**- इटली एवं जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद एवं आत्मकेंद्रित पूँजीवाद की चेतना ने फासीवाद की विचारधारा को प्रोत्साहन दिया। फासीवाद का जर्मन रूप 'नाजीवाद' कहलाया। इटली के फासीवाद और जर्मनी के नाजीवाद ने घरेलू मोर्चे पर अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये आक्रामक विदेश नीति पर बल दिया।
3. **रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का गठन-** केवल इटली और जर्मनी ही नहीं, जापान भी मित्र राष्ट्रों की नीति से असंतुष्ट रहा था। अत: वैश्विक व्यवस्था को तोड़ने में वह जर्मनी और इटली के निकट आ गया। इसके परिणामस्वरूप रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी का गठन हुआ।
4. **राष्ट्र संघ की विफलता**- एक वैश्विक संगठन के रूप में राष्ट्र संघ की निष्पक्षता पर आरंभ से ही प्रश्नचिह्न लगा हुआ था। सोवियत रूस को इससे बाहर रखा गया था। आरंभ में पराजित राष्ट्रों को भी सदस्यता नहीं दी गई थी। इसके अतिरिक्त इसे एक कमजोर संगठन के रूप में स्थापित किया गया था। इसलिये न तो यह वैधता प्राप्त कर सका और न ही यह इटली, जर्मनी और जापान जैसे राष्ट्रों की आक्रामकता पर नियंत्रण लगाकर रख सका।
5. **मित्र राष्ट्रों में सहयोग का अभाव तथा तुष्टिकरण की नीति**- एक दु:खद पक्ष यह था कि जर्मनी को दंडित करने में ब्रिटेन और फ्राँस के बीच एकता बनी रही थी, परंतु वर्साय की संधि की कठोर शर्तों के क्रियान्वयन के मध्य उनकी एकता टूट गई। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका भी यूरोप में अपना दायित्व निभाना छोड़कर अपने महाद्वीप में वापस लौट गया।

- सबसे बढ़कर, जर्मनी और इटली के संबंध में ब्रिटेन और फ्राँस का दृष्टिकोण अलग-अलग था। जहाँ फ्राँस की दृष्टि में इटली अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिये बड़ा खतरा था, तो वहीं ब्रिटेन के विचार में जर्मनी। इसलिये जहाँ आरंभ में फ्राँस ने मुसोलिनी के प्रति नरम नीति अपनाई, वहीं ब्रिटेन ने हिटलर के प्रति। दूसरी तरफ हिटलर ने इन दोनों शक्तियों के बीच मतभेदों का फायदा उठाया।

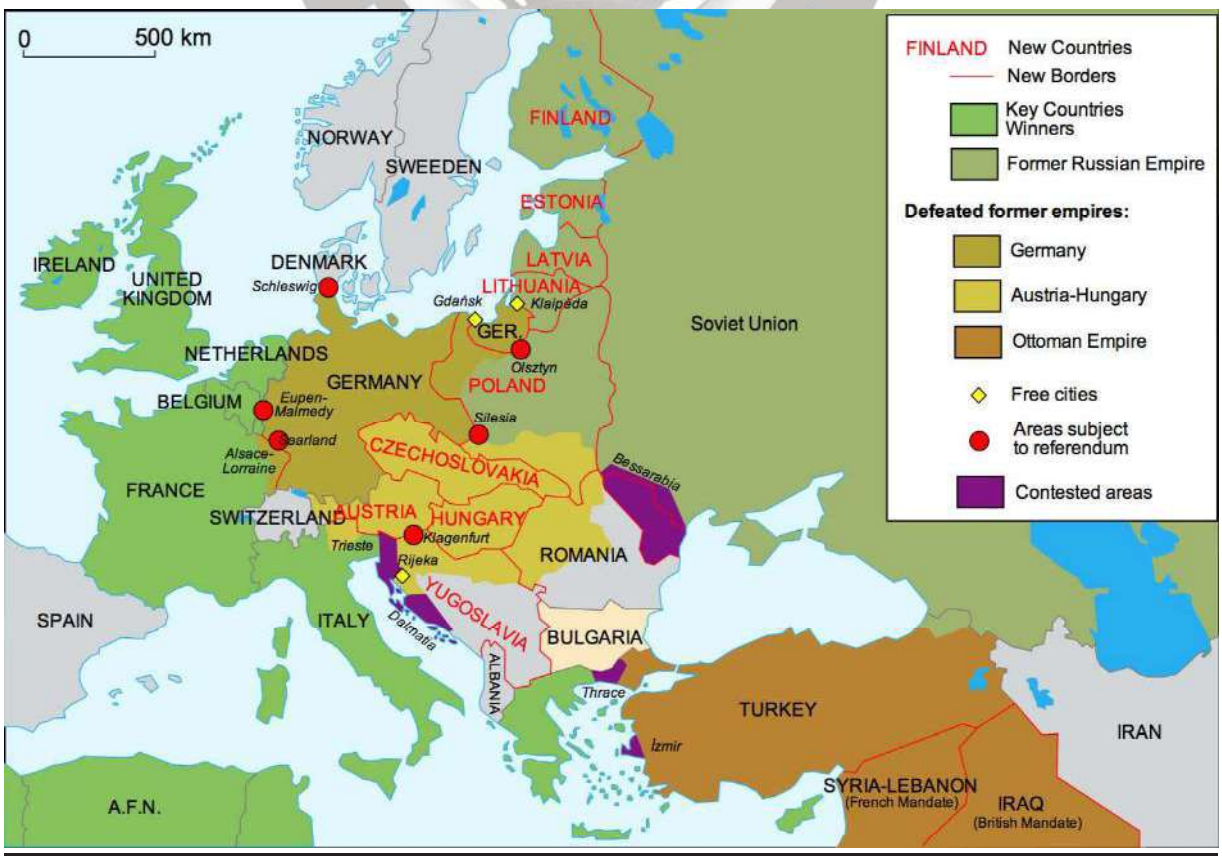

6. **विश्व आर्थिक मंदी (1929-30ई.) की भूमिका**- तमाम उथल-पुथल के बावजूद भी मित्र राष्ट्रों ने यूरोपीय व्यवस्था को बनाए रखा था तथा जर्मनी में भी हिटलर की प्रगति रुकी हुई थी। परंतु आर्थिक मंदी ने इस संतुलन को बिगाड़कर रख दिया। इसने एक व्यापक आर्थिक असंतोष को जन्म दिया। इस कारण एक तरफ जहाँ प्रजातांत्रिक शक्तियाँ कमजोर पड़ गईं, वहीं दूसरी तरफ फासीवादी ताकतों को बढ़ावा मिला। आर्थिक मंदी का फायदा उठाकर हिटलर जर्मनी में स्थापित हो गया तथा अपनी आक्रामक विदेशी नीति से उसने यूरोपीय व्यवस्था को भंग करना आरंभ कर दिया।

■ **द्वितीय विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों का दायित्वः**

- ब्रिटेन और फ्रांस ने संधि की कठिन शर्तों को तय करने में एक-दूसरे का सहयोग किया था, परन्तु उन्होंने संधि के क्रियान्वयन के मध्य सहयोग का प्रदर्शन नहीं किया। इसने नाजी सरकार को संधि के प्रावधानों के विरूद्ध कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका भी अपने महाद्वीप में वापस लौट गया।
- मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के प्रति संतुलित नीति नहीं अपनायी। एक तरफ जहाँ म्यूनिख की संधि तक उन्होंने हिटलर के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनायी थी, वहीं दूसरी तरफ पोलैंड के मुद्दे पर सीधे तौर पर युद्ध छेड़ दिया। स्वयं हिटलर को भी इस बात का अंदाजा नहीं था।

प्रश्नः- द्वितीय विश्व युद्ध के लिए जितनी हिटलर की आक्रामक नीति उत्तरदायी थी, उतनी ही मित्र राष्ट्रों की तुष्टीकरण की नीति। परीक्षण कीजिए।

(प्रश्न-विश्लेषणः- यह प्रश्न अपने बाह्य स्वरूप में 'Hypothetical' है, परन्तु आन्तरिक संरचना में 'Argumentative' इस प्रश्न के प्रथम भाग में हिटलर की आक्रामक नीति, तो दूसरे भाग में मित्र राष्ट्रों की गलतियों की छान-बीन करनी है।)

उत्तरः द्वितीय विश्व युद्ध के घटित होने में हिटलर की बड़ी भूमिका मानी जाती है। इसे हिटलर का युद्ध कहा जाता है, परन्तु दूसरी तरफ मित्र राष्ट्रों की कुछ नीति संबंधी भूल ने इसे अवश्यम्भावी बना दिया।

एक तरफ हिटलर ने एक के बाद दूसरी आक्रामक नीति अपनाई-

- 1936ई. में राइन क्षेत्र में सेना भेजकर वर्साय की संधि का खुला उल्लंघन।
- 1938ई. में ऑस्ट्रिया का विलय।
- सितम्बर, 1938 की म्यूनिख की संधि में चेकोस्लोवाकिया से जर्मन क्षेत्र प्राप्त करने के पश्चात् भी संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा करना।
- फिर अन्त में पोलैण्ड पर आक्रमण कर युद्ध की स्थिति उत्पन्न करना।

किन्तु दूसरी तरफ मित्र राष्ट्रों की नीति में संतुलन का अभाव रहा था। ब्रिटेन एवं फ्रांस ने आरम्भ में हिटलर के प्रति नरम नीति अपनायी। म्यूनिख की संधि तक वे हिटलर को संतुष्ट करने का प्रयास करते रहे, वहीं पोलैण्ड के मुद्दे पर सीधी जंग। संभवतः हिटलर ने इस हद तक नहीं सोचा था।

इसलिए मित्र राष्ट्र भी द्वितीय विश्व युद्ध घटित होने के दायित्व से मुक्त नहीं किए जा सकते।

प्रश्नः- प्रथम विश्व युद्ध चार वर्षों का नहीं, बल्कि 31 वर्षों का युद्ध था जो जुलाई, 1914 में आरंभ होकर अगस्त, 1945 में खत्म हुआ। परीक्षण कीजिए।

(प्रश्न-विश्लेषणः- यह प्रश्न अभिव्यक्ति में एक 'Hypothetical' प्रश्न दिखता है, परन्तु यह अभ्यर्थी से आलोचनात्मक सोच (critical thinking) की अपेक्षा रखता है। अतः व्यवहार में इसक स्वरूप 'Argumentative' हो जाता है।)

उत्तरः इतिहासकारों का एक वर्ग विश्व युद्ध को पृथक युद्ध न मानकर एक समग्र युद्ध मानता है तथा उसे निरन्तरता में देखता है। प्रथम विश्व युद्ध ने जितने मुद्दों को नहीं सुलझाया, उससे कहीं अधिक मुद्दों को जन्म दे दिया, जिस कारण द्वितीय विश्व युद्ध घटित हुआ। अतः यह महज 20 वर्षों का युद्ध विराम माना जाता है।

इसे निम्नलिखित रूप में सिद्ध किया जा सकता है-

- जर्मनी एवं फ्रांस की वैमनस्यता प्रथम विश्व युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण रही थी, परन्तु इस युद्ध के पश्चात् जर्मनी को दिए जाने वाले कठोर दण्ड के कारण शत्रुता और भी बढ़ गई।
- विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम में मध्य एवं पूर्वी यूरोप के अल्पसंख्यक समूहों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर तनाव समाप्त करने का दावा किया गया था, परन्तु नये राष्ट्र के निर्माण ने अल्पसंख्यक वर्ग की समस्या का समाधान करने के बजाय उसे और भी बढ़ा दिया।
- उग्र-राष्ट्रवाद को दबाने एवं स्थायी शांति स्थापित करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्र संघ की स्थापना की गई, परन्तु राष्ट्र संघ स्वयं ही उग्र-राष्ट्रवाद का शिकार हो गया।

इस प्रकार, प्रथम विश्व युद्ध 31 वर्षों का युद्ध सिद्ध हुआ।

प्रश्नः- किस सीमा तक जर्मनी को दो विश्वयुद्धों का कारण बनने का जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? समालोचनात्मक चर्चा कीजिए। (UPSC-2015)

प्रश्न का अर्थ-अन्वेषणः- *यह प्रश्न दो विश्वयुद्धों को मिलाकर बनाया गया है। 2013 में प्रथम विश्व युद्ध का 100*

वर्ष पूरा हुआ है। इसलिए विश्वयुद्धों पर विद्वानों का ध्यान एक बार फिर आकर्षित हुआ है। हाल में इन पर कुछ नयी पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। वस्तुतः अनेक विद्वान विश्व युद्ध को दो अलग-अलग युद्ध में न देखकर 31 वर्षों का एक बड़ा युद्ध मानते हैं। फिर इस प्रश्न की माँग को स्पष्ट करने के लिए दो शब्दों पर ध्यान रखना आवश्यक है 'किस सीमा तक' तथा 'समालोचनात्मक चर्चा कीजिए'। इसका अर्थ है कि जर्मनी के दायित्व को निर्धारित करते हुए अन्य यूरोपीय शक्तियों को भी दायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता।

मॉडल उत्तरः- वर्साय की संधि के अनुच्छेद 31 के अनुसार युद्ध का संपूर्ण दायित्व जर्मनी के ऊपर लाद दिया गया। यह बहुत ही स्वाभाविक था क्योंकि जर्मनी पराजित पक्ष में शामिल था तथा विजेता पक्ष अपने ढंग से उस पर संधि के प्रावधानों को आरोपित कर रहा था। परंतु इस संबंध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले तथ्यों की गहराई से छानबीन करने की जरूरत है।

जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् विलियम कैसर के नेतृत्व में जर्मनी ने बिस्मार्क की नीति को उलटते हुए अनियंत्रित विस्तार पर बल दिया। उसने ब्रिटिश साम्राज्य को सीधी चुनौती दी। विलियम कैसर के द्वारा अखिल जर्मनवाद के नारे ने यूरोप में एक नये तनाव को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त, बाल्कन क्षेत्र में जर्मनी का कोई प्रत्यक्ष हित न होने के बावजूद भी जर्मनी, ऑस्ट्रिया के पक्ष में इस मामले में उलझ गया। फिर जुलाई, 1914ई. में सर्बिया के विरूद्ध ऑस्ट्रिया को समर्थन देकर उसने युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न कर दी।

परंतु दूसरी तरफ अन्य यूरोपीय देश भी निर्दोष नहीं माने जा सकते। रूस का सर्बिया के पक्ष में खड़ा होना, फ्रांस का रूस के पक्ष में खड़ा हो जाना तथा युद्ध के आरंभ होने तक ब्रिटेन के अस्पष्ट रूख जैसे कारकों ने युद्ध की संभावना को और भी बढ़ा दिया।

जहाँ तक दूसरे विश्वयुद्ध का सवाल है, तो इसे तो हिटलर का युद्ध ही माना जाता है। बताया जाता है कि वह वर्साय की संधि के एक के बाद दूसरे प्रावधानों का उल्लघंन करते हुए यूरोपीय व्यवस्था को तोड़ रहा था। यूरोप में उसकी क्षेत्रीय माँग अतृप्त थी। राष्ट्रसंघ की अवेहलना करते हुए उसने शस्त्रीकरण को आरंभ किया। फिर ऑस्ट्रिया पर नियंत्रण स्थापित किया। इसके पश्चात् म्यूनिख समझौते के माध्यम से चेकोस्लोवाकिया से सुडेनटेनलैंड मिलने के बावजूद भी उसने संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया। अंत में पोलैंड पर आक्रमण पर उसने यूरोपीय शक्तियों को सीधी चुनौती दे डाली। इस प्रकार उसने मित्र राष्ट्रों के समक्ष युद्ध के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं छोड़ा।

परंतु दूसरी तरफ दो महत्वपूर्ण बातों पर गौर करना आवश्यक है। प्रथम, वर्साय की कठोर संधि ने यूरोप में कभी भी शांति का माहौल कायम नहीं रहने दिया था। इसी कठोर संधि ने हिटलर की तानाशाही सरकार को वैधता दिला दी। दूसरे, हिटलर के प्रति मित्र राष्ट्रों की नीति में तर्कसंगतता नहीं थी। एक तरफ तो म्यूनिख संधि में उन्होंने हिटलर के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए उसकी माँग को स्वीकृति दे दी। इससे हिटलर को विश्वास हो गया कि मित्र राष्ट्र उसके विरूद्ध युद्ध नहीं कर सकते। दूसरी तरफ आगे पौलेंड के मुद्दे पर सीधे तौर पर उन्होंने युद्ध छेड़ दिया। अतः हिटलर भी आश्चर्यचकित रहा। वह इस स्थिति के लिए तैयार नहीं था।

इस प्रकार विश्वयुद्धों के लिए जर्मनी बहुत हद तक उत्तरदायी है, परंतु इनमें हम अन्य यूरोपीय शक्तियों की भूमिका को भी नजरअंदाज नहीं कर सकते।

प्रश्न : फासीवाद के उद्भव का कारण बताइए। (UPSC-2013)

उत्तरः फासीवाद एक दक्षिणपंथी उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा थी, जो क्रमबद्ध एवं सुसंगत नहीं थी। इसमें भिन्न एवं परस्पर विरोधी विचारों का मिश्रण था अर्थात् इसमें बुद्धि-विरोधवाद, हिगेल का आदर्शवाद, उग्र राष्ट्रवाद, अवसरवाद कई तत्वों का मिश्रण था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् की परिस्थितियों ने यूरोप में फासीवाद के उद्भव के लिए उर्वर भूमि तैयार की थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् पेरिस शांति सम्मेलन में इटली को सेंट जर्मेन की संधि से असंतोष हुआ, वहीं जर्मनी ने वर्साय की संधि में राष्ट्रीय अपमान महसूस किया। स्वाभाविक रूप में फासीवाद की सर्वाधिक उग्र अभिव्यक्ति इटली एवं जर्मनी में ही देखी गई। फिर फासीवाद के उद्भव में उग्र राष्ट्रवाद की भावना के साथ वर्गीय हित भी जुड़ गया था। जैसा कि हम जानते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य रूसी क्रांति घटित हुई तथा इसके साथ ही विश्व की पहली साम्यवादी सरकार स्थापित हो गई। यह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक चुनौती थी। अतः प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् समाजवादी विचारधारा का प्रसार आरंभ हो गया था। सबसे बढ़कर 1929-30ई. की आर्थिक मंदी के पश्चात् समाजवादी विचारधारा का तेजी से प्रसार शुरू हुआ। इसके कारण यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में फैले हुए बुर्जुआ भयभीत हो गए तथा उन्होंने दक्षिणपंथी तथा उग्र राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित राजनीतिक दल का समर्थन आरंभ कर दिया। इटली में मुसोलिनी को पूँजीपति एवं जमींदारों का समर्थन प्राप्त हुआ था। उसी प्रकार जर्मनी में जर्मन जुंकर वर्ग (जमींदार वर्ग) एवं पूँजीपति वर्ग ने हिटलर का हाथ मजबूत करना आरंभ कर दिया। वैसे तो स्पष्टतः तीन ही देशों में; यथा- इटली, जर्मनी एवं स्पेन में फासीदल की सरकार स्थापित हुई

थी, किंतु यूरोप के 28 देशों में से 16 देशों में फासीदल की प्रगति होने लगी थी।

अब जहाँ तक फासीवाद के वैचारिक आधार का सवाल है, तो हम कह सकते हैं कि इसे अंत:प्रेरणा 19वीं सदी के चिंतक नित्से एवं फ्रायड के विचारों से ही मिलने लगी थी। जहाँ नित्से ने तर्कवाद पर प्रहार किया, वहीं फ्रॉयड ने अवचेतन मन के महत्व पर बल दिया। स्वाभाविक रूप में 'आस्था' का महत्व बढ़ गया। फासीवाद ने भी तर्कवाद को अस्वीकार कर 'आस्था' को अपना आधार बनाया। इस प्रकार फासीवाद जटिल परिस्थितियों की उपज था।

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

Europe on the Eve of World War II, 1939

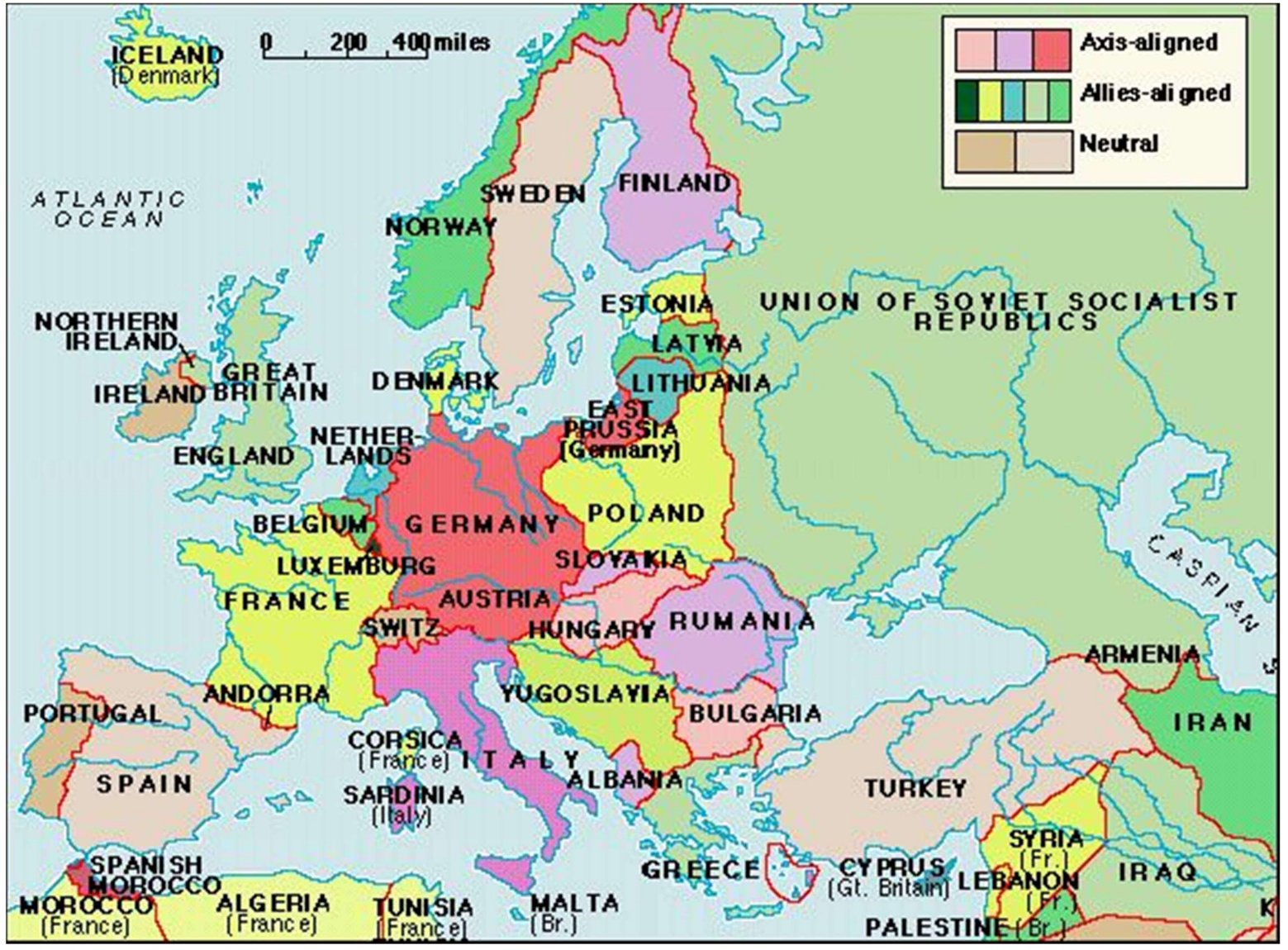

N
North Sea
Baltic Sea
Annexed from Lithuania
GERMANY 1933 BOUNDARY
LITHUANIA
Neman
Kovno
Vilna
Dnieper
Smolensk
Koenigsberg
DANZIG
EAST PRUSSIA
Minsk
Hamburg
Elbe
Bremen
Amsterdam
GERMANY
Hannover
Berlin
Vistula
Bialystok
Pripet
Poznan
Warsaw
Ruhr
Weser
Oder
Leipzig
Cologne
Kassel
Dresden
Lodz
POLAND
SOVIET UNION
Bug
Lublin
Kiev
Rhine
Frankfurt
Main
Annexed from Czechoslovakia
Breslau
Prague
PROTECTORATE OF BOHEMIA AND MORAVIA
Krakow
Lvov
Nuremberg
Strasbourg
Stuttgart
SLOVAKIA
Banska Bystrica
Bug
Dniester
March
Inn
Danube
Bratislava
Tisza
Munich
Vienna
HUNGARY
Prut
AUSTRIA
Anschluss
ROMANIA
SWITZERLAND
Budapest
Odessa
ITALY
Drava
Po
Sava
Adriatic Sea
YUGOSLAVIA
GERMAN TERRITORIAL GAINS
BEFORE THE WAR
AUGUST 1939
0
150
MILES

खंड-V

उपखंड-I : द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप

इस टॉपिक का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर गौर करना आवश्यक होगा–

- द्वितीय विश्वयुद्ध को विश्व इतिहास में विभाजक रेखा क्यों माना जाता है?
- यूरोपीय प्रभुता के अंत ने विश्व इतिहास पर क्या प्रभाव डाला?
- द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य पश्चिमी देशों तथा सोवियत रूस के बीच मतभेद के क्या बिंदु थे?
- शीतयुद्ध पहले के युद्ध से किस रूप में भिन्न था?
- पूंजीवादी मॉडल को बचाने के लिये पश्चिमी देशों ने क्या कदम उठाए?

उपखंड-II : विश्वयुद्धोत्तर विश्व की दशा एवं दिशा

इस उपखंड के माध्यम से आप जानेंगे–

- विश्व की सबसे बड़ी क्रांति 'उपनिवेश मुक्ति' किस प्रकार घटित हुई?
- अलग-अलग क्षेत्रों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया किस प्रकार पृथक् रही?
- तृतीय विश्व की संकल्पना क्या है तथा किस प्रकार शीतयुद्ध का तृतीय विश्व में विस्तार हुआ?
- तृतीय विश्व के देशों के समक्ष क्या चुनौतियाँ थीं? उन्होंने किस प्रकार इन्हें सुलझाने का प्रयास किया?

-मणिकांत सिंह

KHAN GLOBAL STUDIES
Most Trusted Learning Platform
KHAN SIR

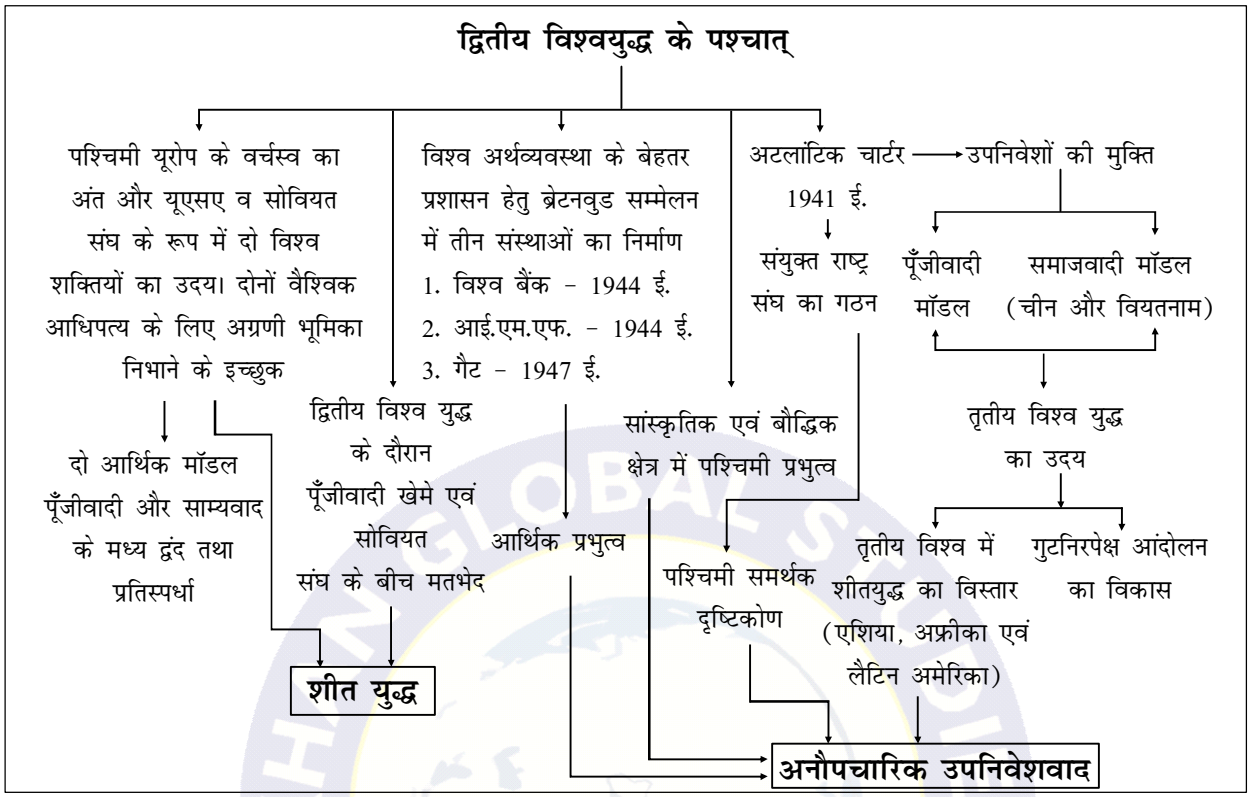

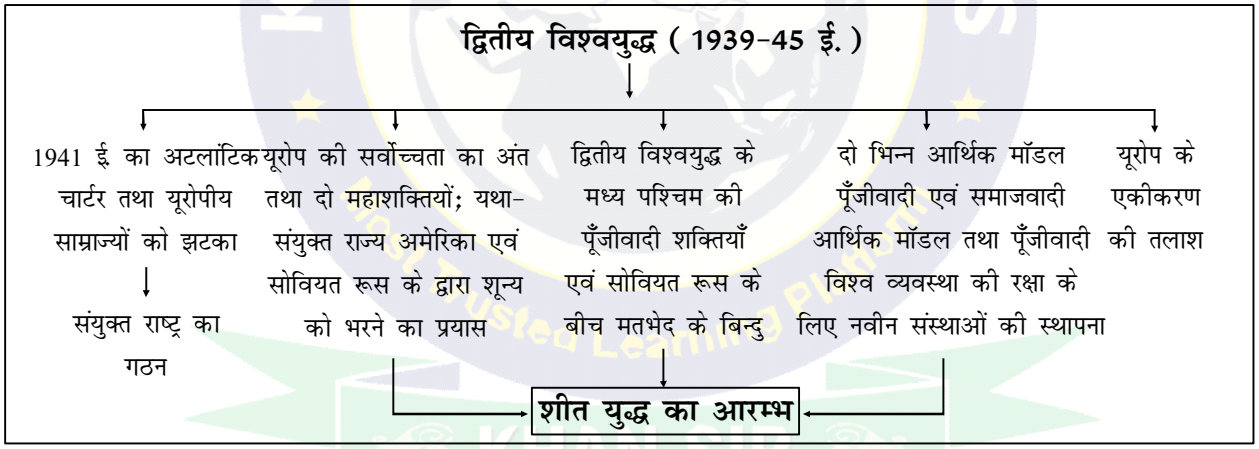

■ **पृष्ठभूमि:**

- द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर यूरोप केंद्रित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जो पिछले पाँच सौ वर्षों से अस्तित्व में थी, लुप्त हो गई तथा महाद्वीपीय आकार लिए हुए दो महाशक्तियाँ अस्तित्व में आयीं- संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत रूस। इन्होंने क्रमशः पूँजीवादी तथा समाजवादी गुट का नेतृत्व किया तथा बाकी शक्तियाँ एक अथवा दूसरे गुट के वर्चस्व को मानने के लिए तैयार थीं, वहीं कुछ नव स्वतंत्र राष्ट्रों ने इन दोनों गुटों से पृथक होकर गुट निरपेक्ष आन्दोलन को संगठित करने का प्रयास किया। फिर इन दोनों महाशक्तियों ने अपनी जरूरत तथा दृष्टिकोण के अनुकूल नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना पर बल देना आरम्भ किया। उपर्युक्त दोनों महाशक्तियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य ही आरम्भ हुई।
- यह सही है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य दोनों शक्तियों के बीच एक असामान्य गठबंधन कायम हो गया। इसकी वजह थी- धुरी शक्ति के रूप में एक समान शत्रु का होना। जून, 1941 में सोवियत रूस पर जर्मन आक्रमण के पश्चात् ब्रिटेन युद्ध में प्रविष्ट हो गया। उसी प्रकार, दिसम्बर, 1941 में पर्लहार्बर पर द्रुत जापानी आक्रमण ने संयुक्त राज्य अमेरिका को भी द्वितीय विश्वयुद्ध में खींच लिया। फिर ऐसा लगने लगा था कि विश्व की दो महाशक्तियों के सहयोग के आधार पर एक नयी विश्व व्यवस्था स्थापित हो सकेगी। राष्ट्र संघ की स्थापना के

माध्यम से इस सहयोग को एक संस्थागत आधार देने का भी प्रयास किया गया। किन्तु युद्ध के मध्य ही कुछ ऐसे विवादास्पद मुद्दे उभरकर आए, जिसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त दोनों शक्तियों के बीच दूरियाँ बढ़ती गईं और फिर इसने एक विशिष्ट प्रकार के युद्ध का रूप ले लिया, जो आगामी चार दशकों तक चलता रहा। इसकी पहचान शीत युद्ध के रूप में हुई। यह युद्ध अपने स्वरूप में पिछले युद्धों से अलग था। इसे **शीतयुद्ध** के साथ-साथ गर्म शांति (Hot Peace) की भी संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः यह एक मनोवैज्ञानिक अथवा कूटनीतिक युद्ध था, जिसका उद्देश्य था- एक गुट के द्वारा दूसरे गुट के प्रभाव को सीमित करना।

■ **उन कारकों की व्याख्या कीजिए जिनके परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य पूँजीवादी देश और सोवियत रूस के बीच मतभेद हो गए-**

- शीत युद्ध के विषय में एक दिलचस्प तथ्य यह है कि वैचारिक मतभेद के बाद भी द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य पश्चिम के पूँजीपति देश, सोवियत रूस के साथ मिलकर फासीवादी शक्तियों का सामना कर रहे थे, परंतु द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिसके कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के काल के मित्र, युद्ध की समाप्ति पर मित्र नहीं गये। ये घटनाएँ निम्नलिखित थीं-

1. **1943 में इटली के समर्पण का मुद्दा:-** 1943 में इटली में मुसोलिनी के पतन के पश्चात् इटली ने समर्पण कर दिया। इटली के समर्पण पर सोवियत रूस को यह उम्मीद थी कि उसे भी मित्र राष्ट्र वार्ता में शामिल करेंगे, किन्तु ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने आपस में मिलकर इटली के साथ शर्तें तय कर लीं। इस विषय में सोवियत रूस को कोई सूचना नहीं दी गई। अतः सोवियत रूस आहत हुआ।
2. **युद्ध में दूसरे मोर्चे खोले जाने का मुद्दा:-** जर्मन आक्रमण के कारण सोवियत रूस को काफी क्षति हो रही थी। इसलिए स्टालिन के द्वारा यह सुझाव दिया गया कि ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस की सीमा पर एक दूसरा मोर्चा खोल दें, जिससे कि जर्मनी की शक्ति बँट जाए। परंतु मित्र राष्ट्रों ने दूसरा मोर्चा खोलने में काफी विलम्ब कर दिया।
3. **सोवियत रूस के द्वारा पूर्वी यूरोप के देशों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया जाना:-** जर्मनी को पीछे हटाते हुए सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप के देश; यथा- पोलैंड, हंगरी, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया, अल्बानिया, रूमानिया तथा जर्मनी के पूर्वी भाग पर कब्जा कर लिया। आगे इन क्षेत्रों में सोवियत रूस ने ऊपर से साम्यवादी सरकारें स्थापित कर दीं। इस कारण पश्चिम के पूँजीवादी देश चिंतित हो गए।
4. **जापानी शहर हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु हमला:-** संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस को अपने विश्वास में लिए बिना जापान पर अगस्त, 1945 में परमाणु हथियार का प्रयोग कर दिया। स्टालिन को इस बात पर आपत्ति थी कि सहयोगी होने के बाद भी इतना बड़ा कदम उठाने से पहले सोवियत रूस को विश्वास में नहीं लिया गया। सोवियत रूस ने इसे रूसी साम्यवाद के विरुद्ध अमेरिकी चेतावनी के रूप में देखा।

- **अभ्यास प्रश्न:-** *'कहा जाता है कि द्वितीय विश्व युद्ध में मिलकर लड़ने वाले मित्र राष्ट्र, युद्ध के पश्चात् मित्र नहीं रह गए।' इस कथन के परिप्रेक्ष्य में शीत युद्ध को प्रेरित करने वाले कारकों का परीक्षण कीजिए।*

■ **समाजवादी मॉडल की चुनौती को देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूँजीवाद के प्रोत्साहन के लिए कौन-सी रणनीति अपनायी?**

- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् वैश्विक स्तर पर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था- एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में ब्रिटेन का पतन और नवीन आर्थिक महाशक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका की ताजपोशी। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध ने उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहन दिया था, इसलिए एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि विश्व युद्धोत्तर काल में अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन कैसे होगा?
- यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण था कि संपूर्ण 19वीं सदी में विश्व अर्थव्यवस्था का संचालन दो कारकों के कारण हुआ था। प्रथम, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नियमों का निर्धारण साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा किया गया था। द्वितीय, स्वर्ण मानक के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन होता था। परंतु अब दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। प्रथम, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रजातांत्रीकरण हो रहा था, इसलिए अब अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रत्यक्ष नियंत्रण टूट रहा था। दूसरे, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् स्वर्ण मानक पर आधारित मुद्रा व्यवस्था लगभग ध्वस्त हो गई थी।
- उपर्युक्त कारकों को देखते हुए नवीन आर्थिक एवं वित्तीय संगठनों का निर्माण आवश्यक था। अतः 1944 ई. में ब्रेटनवुड नामक स्थान पर बैठक हुई। इस बैठक में ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड केन्स एवं अमेरिकी अर्थशास्त्री हैरी डेक्स्टर ह्वाईट ने हिस्सा लिया। इस बैठक में दो प्रमुख बहुराष्ट्रीय निगम अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) तथा विश्व बैंक का गठन किया गया। इसलिए इन्हें 'ब्रेटनवुड की जुड़वा संतानें' कहते हैं।

1. **अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष:** इसकी स्थापना 1944 ई. में हुई तथा इसका उद्देश्य था डॉलर के साथ अन्य देशों की मुद्राओं का समायोजन, ताकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन हो सके। इस प्रकार, स्वर्ण मानक के पतन से जो समस्या उत्पन्न हुई थी, वह दूर हो जाती। साथ ही, वह व्यापार संतुलन और भुगतान संतुलन से ग्रस्त देश को आर्थिक सहायता भी प्रदान करता। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अध्यक्ष के पद पर किसी यूरोपीय व्यक्ति की नियुक्ति निश्चित हुई।
2. **विश्व बैंक:** 1944 ई. में स्थापित यह ब्रेटनवुड की दूसरी संतान थी। इसका उद्देश्य था तृतीय विश्व में आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य पूरा करना। इसके लिए यह किसी तीसरी पार्टी के रूप में गारंटी देकर किसी भी राष्ट्र से किसी अन्य राष्ट्र को ऋण उपलब्ध करवाता। (यह काम पहले साम्राज्यवादी शक्तियाँ करती थीं।) इसका मुख्यालय भी संयुक्त राज्य अमेरिका में ही था तथा इसके अध्यक्ष की नियुक्ति यूएसए के द्वारा ही निर्धारित की जाती थी।
3. **गैट (GATT, General Agreement on Tariff and Trade):** इस संस्था का गठन 1947 ई. में हुआ। विश्व आर्थिक मंदी से सबक लेकर अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा व्यापार के संचालन के लिए इस संस्था को आवश्यक माना गया। मंदी से उत्पन्न व्यापार युद्ध (Trade War) और मुद्रा युद्ध (Currency War) को रोकने के लिए यह संस्था गठित हुई। अगर गहराई से देखा जाए, तो इस संस्था के माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का विकल्प खोजने का प्रयास किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के जोर पर GATT में MFN- Most Favoured Nation का प्रावधान लाया गया और इसके आधार पर किसी एक देश को दी गई रियायत स्वाभाविक रूप से दूसरे देश को प्राप्त हो जाती।

- **सकारात्मक योगदान:**- इन संस्थाओं की स्थापना में ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे. एम. केन्स तथा अमेरिकी अर्थशास्त्री हैरी डेक्स्टर ह्वाईट की महत्वपूर्ण की भूमिका थी। केन्स का नजरिया काफी व्यावहारिक था। इसलिए उसने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन और किसी राष्ट्र विशेष के आर्थिक हित के बीच संतुलन स्थापित किया अर्थात् प्रत्येक सरकार को खाद्य सुरक्षा को बनाए रखने, अंतर्राष्ट्रीय निर्यात से अपनी अर्थव्यवस्था की सुरक्षा करने तथा अपनी जनता के लिए लोक कल्याणकारी कार्य चलाने का अधिकार दिया। उसका मानना था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए सरकार की भूमिका आवश्यक होगी और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नियमों के संचालन के लिए वैश्विक अर्थव्यवस्था तथा किसी राष्ट्र विशेष की अर्थव्यवस्था के बीच संतुलन आवश्यक होगा। इस प्रकार, उसने सीमित भूमंडलीकरण (Limited Globalisation) पर बल दिया। (वर्तमान भूमंडलीकरण ने केन्स के इस संतुलन की नीति को अस्वीकार कर दिया है।)
- इन संस्थाओं के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन सुचारु रुप से संभव हुआ। 1950–70 तक के दो दशक पूँजीवाद के लिए स्वर्ण युग साबित हुए तथा विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रगति होती रही। किंतु 1970 के दशक के तेल संकट ने स्थिति में नाटकीय परिवर्तन ला दिया।

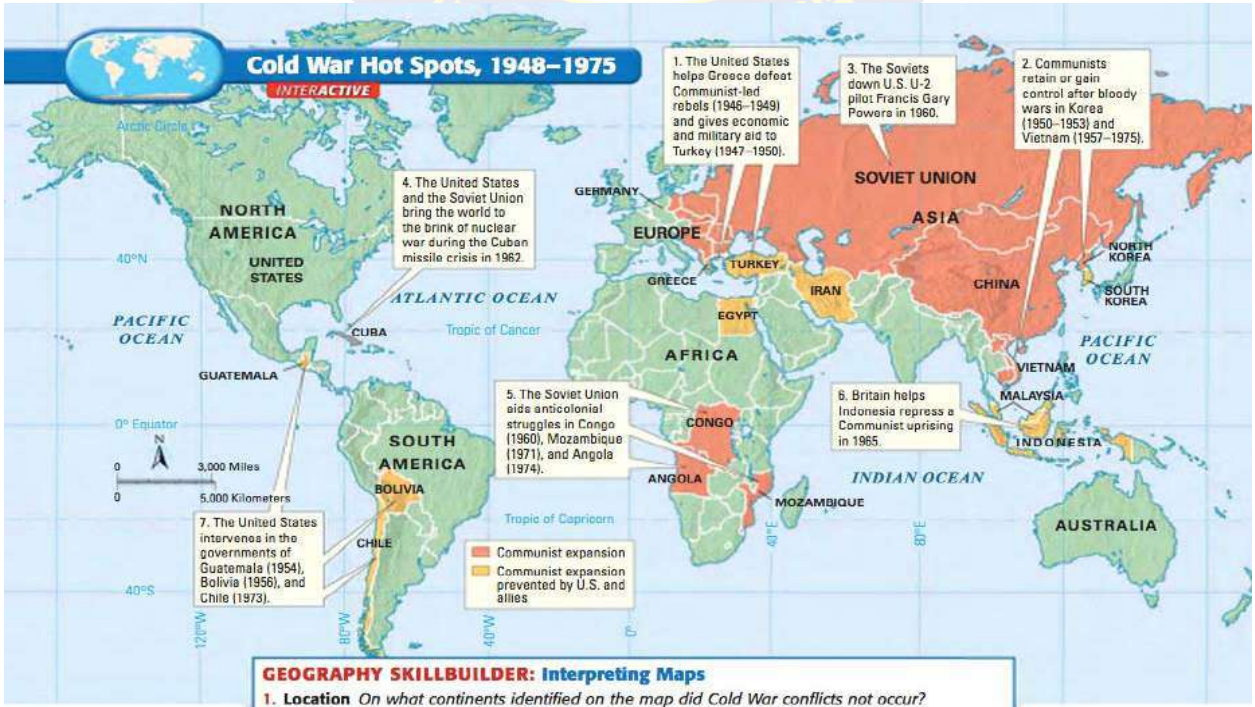

- **सीमाएँ:**- ये संस्थाएँ नव-उपनिवेशवाद के सबल माध्यम सिद्ध हुईं। समाजवादी मॉडल के खतरे को देखते हुए ये संस्थाएँ विश्व में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विस्तार का माध्यम बनीं। फिर इनके माध्यम से राजनीतिक नियंत्रण होने के बाद भी तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था पर पश्चिम के पूँजीवादी देशों का नियंत्रण बना रहा।

■ **यूरोप में शीत युद्ध का विस्तार:**

1. **ट्रूमैन सिद्धांत की घोषणा (मार्च, 1947)**- युद्ध के बाद ब्रिटेन यूनान से हट गया, इसलिये यूनान और तुर्की की सुरक्षा एक बड़ा मुद्दा बन गई। इनकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी अब संयुक्त राज्य अमेरिका के सिर पर आ गई। अत: साम्यवाद के प्रसार के खतरे को देखते हुए ट्रूमैन के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में अपना छठा नौसैनिक बेड़ा स्थापित किया। उसी समय उसने अपनी यह प्रसिद्ध उद्घोषणा लायी कि सशक्त अल्पसंख्यकों के विरुद्ध शांति के लिए संघर्ष करने वाले लोगों के पक्ष में हम शीत युद्ध की घोषणा करते हैं।
2. **जून, 1947 में यूरोप के लिए मार्शल योजना**- इस योजना के तहत यूरोप को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए 13 बिलियन डॉलर की आर्थिक सहायता दिए जाने का प्रावधान था। इसी योजना के कारण यूरोप का पश्चिम के पूँजीवादी देशों और पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों के बीच औपचारिक रूप में आर्थिक विभाजन हुआ।
3. **ब्रुसेल्स संगठन (मार्च, 1948)**- जब पश्चिमी यूरोपीय देशों के दबाव के बावजूद भी सोवियत रूस के द्वारा चेकोस्लोवाकिया में ऊपर से साम्यवादी सरकार को आरोपित कर दिया गया, तो प्रतिक्रिया में ब्रिटेन के नेतृत्व में पश्चिमी यूरोप के 6 देशों ने मिलकर ब्रुसेल्स संगठन का निर्माण किया।
4. **बर्लिन की घेराबंदी और नाटो (NATO) का गठन**- ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका को यह विश्वास दिलाने का प्रयास कर रहा था कि सोवियत रूस का रुख आक्रामक है, इसलिये संयुक्त राज्य अमेरिका को आगे आना चाहिये। परंतु संयुक्त राज्य अमेरिका को इस बात पर विश्वास नहीं था, किंतु जब सोवियत रूस ने बर्लिन में नाकेबंदी करके पश्चिमी देशों का रास्ता रोकना चाहा, तो फिर संयुक्त राज्य अमेरिका को विश्वास हो गया कि सोवियत रूस का रुख आक्रामक है और उसने फिर 1949 में आरंभ में 12 देशों के साथ मिलकर नाटो का गठन किया। 1952 ई. तक उसकी संख्या बढ़कर 52 हो गई।
5. **वार्सा पैक्ट (1955 ई.)**- 1955 ई. में पश्चिमी जर्मनी को परमाणु हथियारों से सुसज्जित किए जाने की प्रतिक्रिया में सोवियत रूस की पहल पर पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों ने मिलकर वार्सा पैक्ट का गठन किया।

■ **1941 ई. के अटलांटिक चार्टर के उद्देश्य एवं वास्तविकता:**

- द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य युद्ध में शामिल होने के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल के साथ अटलांटिक महासागर में एक जहाज पर बैठकर एक प्रपत्र पर हस्ताक्षर किया। इसे 'अटलांटिक चार्टर' के नाम से जाना गया। इसमें निम्नलिखित प्रावधान थे-

1. इसका घोषित उद्देश्य था- उपनिवेश के लोगों की स्वतंत्रता सुनिश्चित करना। इसमें यह प्रावधान था कि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों अर्थात् औपनिवेशिक विश्व के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलेगा। निश्चय ही यह घोषणा विल्सन की 14-सूत्रीय माँग से काफी आगे थी जिसने केवल यूरोप के अल्पसंख्यक समूहों के लिए आत्मनिर्णय की बात कही थी।
2. ऐसा महसूस किया गया कि सैनिक टकराहट का एक महत्वपूर्ण कारण होता है आर्थिक हितों में टकराहट और इसके कारण दो विश्व युद्ध हुए थे। इसलिए अटलांटिक चार्टर ने यह आश्वासन दिया कि सभी राष्ट्रों की अंतर्राष्ट्रीय बाजार और कच्चे माल तक पहुंच हो।
3. इसने विश्व में स्थायी शांति बनाए रखने के लिए एक संस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की। यह संस्था 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के नाम से जानी गई।

- **वास्तविकता:**

1. अटलांटिक चार्टर का वास्तविक उद्देश्य था- नव स्वतंत्र एशियाई-अफ्रीकी देशों में अमेरिकी बाजार का विस्तार करना। अगर गौर से देखा जाए, तो यह ज्ञात होता है कि अटलांटिक चार्टर के माध्यम से और उपनिवेश मुक्ति पर बल देकर संयुक्त राज्य अमेरिका अपने बाजार को प्राप्त करने तथा कच्चे माल तक पहुँच बनाने का प्रयास कर रहा था।
2. अटलांटिक चार्टर वैश्विक स्तर पर स्वतंत्रता और प्रजातंत्र को फैलाने का आश्वासन दे रहा था, परंतु वास्तविकता में तब इसका उल्लंघन हुआ जब शीतयुद्ध का विस्तार हुआ। शीतयुद्ध में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने अटलांटिक चार्टर के एजेंडे को दरकिनार कर दिया।

प्रश्नः- 'शीतयुद्ध ने अटलांटिक चार्टर को निष्प्रभावी बना दिया।' इस कथन पर प्रकाश डालिए।

(प्रश्न विश्लेषणः- यह प्रश्न भी अपने स्वरूप में 'Hypothetical' है। यथा- 'शीतयुद्ध' 'अटलांटिक चार्टर', 'निष्प्रभावी'। इस वक्तव्य को सिद्ध करना है।)

उत्तरः- 1941 के अटलांटिक चार्टर के माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका ने नई विश्व व्यवस्था (World order) की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। अटलांटिक चार्टर में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों को आत्मनिर्णय (स्वतंत्रता) के अधिकार का आश्वासन निहित था। अटलांटिक चार्टर निश्चय ही विल्सन के 14 सूत्रीय कार्यक्रम का अगला कदम था क्योंकि चौदह सूत्रीय कार्यक्रम केवल यूरोप के संदर्भ में था, तो अटलांटिक चार्टर का वैश्विक संदर्भ था। अटलांटिक चार्टर को उपनिवेश मुक्ति का एजेंडा माना गया। यह उम्मीद की गई कि अटलांटिक चार्टर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का प्रजातांत्रीकरण करेगा तथा यू.एस.ए. इस नवीन विश्व व्यवस्था का सूत्रधार बनेगा।

परन्तु शीतयुद्ध ने विश्व राजनीति की दिशा ही बदल दी तथा इसके परिणामस्वरूप यू.एस.ए. की नीति एक अन्तर्विरोध का शिकार हो गई। यह अन्तर्विरोध था स्वतंत्रता के समर्थन एवं समाजवादी दल के नेतृत्व के विरोध का अन्तर्विरोध। दूसरे शब्दों में, अगर स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व उदारवादी-पूँजीवादी दल के हाथों में होता, तो संयुक्त राज्य अमेरिका का समर्थन प्राप्त हो जाता, परन्तु अगर नेतृत्व समाजवादी दल के द्वारा किया जाता, जैसाकि चीन एवं वियतनाम में देखने को मिलता है, तो यू.एस.ए. विरोध पर उतारू हो जाता।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर हम ऐसा कह सकते हैं कि शीतयुद्ध ने अटलांटिक चार्टर को निष्प्रभावी बना दिया।

■ यूरोप का एकीकरण

- एक तरफ जहाँ यूरोप, पश्चिमी एवं पूर्वी यूरोप के रूप में विभाजित हुआ, वहीं दूसरी तरफ पश्चिमी यूरोप के देशों के बीच एकीकरण और संगठन को भी बल मिला। (1990 के दशक के पश्चात् ही एकीकरण का विस्तार पूर्वी यूरोप तक हो सका।)
- **यूरोप के एकीकरण को प्रेरित करने वाले कारकः**

1. यूरोपीय नेताओं और बुद्धिजीवियों को यह अहसास हो चुका था कि यूरोप की प्रत्येक पीढ़ी को एक भयंकर युद्ध का सामना करना पड़ रहा था। यह युद्ध तभी समाप्त किया जा सकता था जब यूरोप का एकीकरण होता। एकीकरण के पक्ष में सामान्य जनता के बीच जागृति लाने की जरूरत थी।
2. फ्रांस को यह अहसास था कि एकीकरण के पश्चात् जर्मनी के साथ उसके संघर्ष का मुद्दा समाप्त हो जाएगा।
3. फ्रांस व कुछ अन्य देशों को यह विश्वास था कि एकीकरण की स्थिति में यूरोप पर दोनों महाशक्तियों का प्रभाव सीमित करना संभव होगा।
4. जर्मनी (पश्चिमी जर्मनी) के लिए भी यह आवश्यक था। इस कारण यूरोपीय राष्ट्रों के समुदाय में शामिल होना उसके लिए आसान था।
5. यूरोप के एकीकरण की स्थिति में विश्वयुद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण आसान था।

- **एकीकरण का मॉडल**

i. संयुक्त राज्य अमेरिका की तरह विभिन्न राष्ट्रों का संगठित संघ।
ii. संयुक्त राष्ट्र संघ की तरह विभिन्न राष्ट्रों का एक ढीला-ढाला संघ।

■ यूरोपीय आर्थिक समुदाय (1958 ई.)

- प्रथम मॉडल के पक्ष में सहमति नहीं बन सकी, इसलिए विभिन्न राष्ट्रों का एक ढीला-ढाला संघ बना जिसमें मुख्यतः एक-दूसरे के लिए बाजार खोलने पर बल दिया गया। 1957 में रोम की संधि के आधार पर 1958 में यूरोपीय आर्थिक समुदाय का गठन हुआ। इसमें आरंभ में 6 देश शामिल थे; यथा- फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैंड तथा बेल्जियम। इसके निम्नलिखित प्रमुख अंग थे-

i. यूरोपीय संसद
ii. यूरोपीय मंत्रिपरिषद्
iii. यूरोपीय न्यायालय
iv. सचिवालय
v. यूरेटम (Euratom) - सदस्य देशों का सामूहिक परमाणु कार्यक्रम

■ यूरोपीय समुदाय

- 1967 में आर्थिक एकीकरण की दिशा में और भी अधिक प्रयत्न किया गया तथा इस क्रम में यूरोपीय आर्थिक समुदाय की जगह यूरोपीय समुदाय का गठन किया गया। इसके अंतर्गत यूरोपीय आर्थिक समुदाय, यूरोपीय कोयला और लौह आयोग एवं यूरेटम तीनों को मिलाकर संगठन बनाने का प्रयास किया गया।

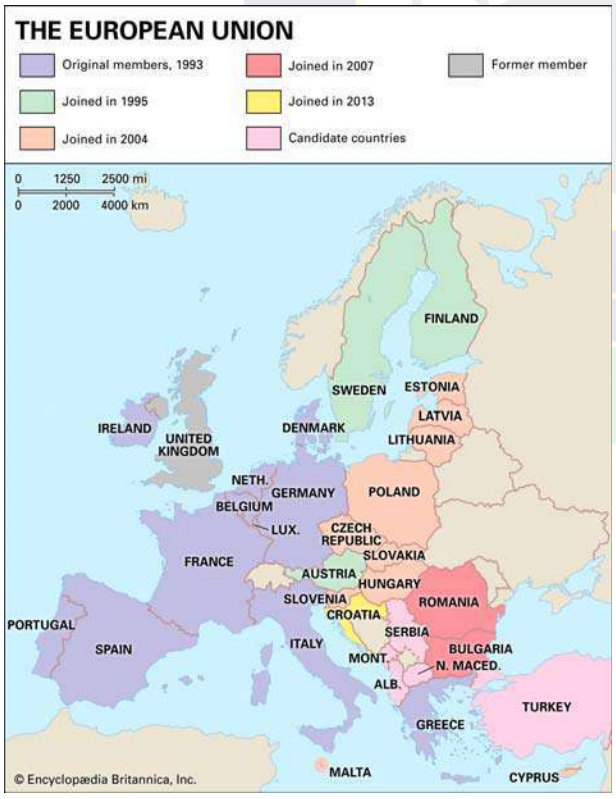

- **ब्रिटेन की प्रतिक्रिया**– आरंभ में ब्रिटेन इस संस्था में शामिल होने के लिए इच्छुक नहीं था, बल्कि सात अन्य देशों के साथ मिलकर उसके द्वारा इफ्टा (European Free Trade Association, EFTA) का गठन किया गया। ब्रिटेन के यूरोपीय समुदाय में शामिल न होने के दो कारण थे–
  i. उसे यूरोपीय बाजार की तुलना में कॉमनवेल्थ के बाजार में अधिक विश्वास था।
  ii. उसका मानना था कि इस संगठन में शामिल होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उसका संबंध कमजोर हो जाएगा।
- परंतु फ्रांस और जर्मनी की अर्थव्यवस्था का तीव्रता से विस्तार तथा दूसरी तरफ ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में गिरावट के पश्चात् उसे अपनी गलती का एहसास हुआ। फिर उसके द्वारा संस्था में शामिल होने का निरंतर प्रयास किया गया, परंतु अब फ्रांस के द्वारा उसके निर्णय पर वीटो लगाया गया। अंत में, 1973 में वह इस संस्था में शामिल होने में सफल रहा।

■■■

उपनिवेश मुक्ति अथवा विउपनिवेशीकरण

■ **भूमिका:**

- "जो प्रभाव नेपोलियन के युद्धों का लैटिन अमेरिका स्थित स्पेन के उपनिवेशों पर पड़ा था, वही प्रभाव द्वितीय विश्व युद्ध का एशियाई-अफ्रीकी उपनिवेशों पर पड़ा।" संभवत: विउपनिवेशीकरण की घटना द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् की महत्वपूर्ण घटना थी, क्योंकि इस घटना ने विश्व की परिधि का विस्तार कर दिया था। विश्व समुदाय काफी व्यापक हो चुका था, परंतु इसके साथ कुछ नए प्रश्न खड़े हुए थे। ये प्रश्न थे- मातृदेश और पुराने उपनिवेशों के बीच, जो अब स्वतंत्र हो चले थे, संबंधों का आधार क्या होगा? क्या सचमुच उपनिवेशवाद समाप्त हो चुका था? दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि ये एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्र आर्थिक रूप से काफी पिछड़े हुए थे, इसलिए इनका विकास किस प्रकार होगा और फिर ये विकास के किस मॉडल को अपनाएंगे, क्योंकि उस समय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख मॉडल विकसित हो चुके थे- पूँजीवादी मॉडल और समाजवादी मॉडल।
- परंतु इन मुद्दों से पूर्व सबसे प्रमुख मुद्दा यह रहा था कि इन राष्ट्रों को स्वतंत्रता किस प्रकार हासिल होगी? यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण था क्योंकि अलग-अलग उपनिवेश विकास के अलग-अलग स्तर पर थे तथा इन उपनिवेशों में मातृदेश के हित भी भिन्न-भिन्न थे। इसके अतिरिक्त उपनिवेशों के प्रति विभिन्न औपनिवेशिक शक्तियों के बीच नीति एवं दृष्टिकोण में भी अंतर था। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का रुख अपेक्षाकृत नरम रहा था, तो फ्रांस का रुख अत्यधिक कठोर। एक तरफ जहाँ ट्यूनीशिया और मोरक्को जैसे फ्रांस के उपनिवेश अपेक्षाकृत आसानी से मुक्त हो गए, वहीं अफ्रीका में अल्जीरिया एवं एशिया में वियतनाम के साथ ऐसा नहीं हुआ, यहाँ खूनी संघर्ष शुरू हो गया।
- **'विउपनिवेशीकरण' शब्द का औचित्य**- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया उतनी ही तेजी से आरंभ हुई, जितनी तेजी से 75 वर्ष पूर्व औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई थी। फिर भी, विउपनिवेशीकरण का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि औपनिवेशिक शक्तियों ने स्वेच्छा से उपनिवेशों को मुक्त कर दिया, बल्कि उन्होंने उपनिवेश मुक्ति के निर्णय को तब स्वीकार किया जब उनके ऊपर परिस्थितियों का दबाव पड़ा। इसलिए अलग-अलग उपनिवेश के संदर्भ में औपनिवेशिक शक्तियों की नीति अलग-अलग रही।
- ऐसे उपनिवेश जहाँ एक बड़ी श्वेत जनसंख्या बस गई थी तथा जहाँ अर्थव्यवस्था पर मातृदेश का बेहतर नियंत्रण था, औपनिवेशिक शक्तियों ने वहाँ यथासंभव नियंत्रण बनाए रखने का प्रयास किया। इसलिए उन देशों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया बड़ी कठिन और चुनौतीपूर्ण हो गई उदाहरण के लिए, अल्जीरिया, तंगायनिका, केन्या, रोडेशिया आदि।

■ **उपनिवेश मुक्ति को प्रोत्साहन देने वाले कारक:**

तीन भिन्न स्तरों पर

औपनिवेशिक शक्ति के स्तर पर	अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाला विकास	उपनिवेश के स्तर पर होने वाला विकास
✍ द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन, फ्रांस और हॉलैन्ड जैसी साम्राज्यवादी शक्तियों का पतन।	✍ अटलांटिक चार्टर की भूमिका (1941)	✍ उपनिवेशों में राष्ट्रवाद की प्रगति एवं स्वतंत्रता की आकांक्षा को प्रोत्साहन
✍ साम्राज्यवादी शक्तियाँ युद्ध के पश्चात् स्वयं अपने आर्थिक पुनर्निर्माण में उलझ गईं और उपनिवेशों से उनका ध्यान हट गया।	✍ संयुक्त राष्ट्र संघ का दबाव	✍ अटलांटिक चार्टर एवं द्वितीय विश्व युद्ध के घोषित उद्देश्य से भी प्रेरणा।
✍ अब साम्राज्यवादी शक्तियों की मुख्य रुचि यूरोपीय बाजार में हो गयी तथा वे उपनिवेशों से विमुख होने लगीं।	✍ सोवियत रूस एवं संयुक्त राज्य अमेरिका का दबाव	✍ उपनिवेशों में स्वतंत्रता के लिए उग्र आंदोलन आरम्भ, यथा, भारत में भारत छोड़ो आंदोलन तथा केन्या में माऊ-माऊ आंदोलन।

- उपनिवेश मुक्ति को प्रोत्साहन देने वाले कारकों को तीन विभिन्न स्तरों में बाँटकर देखा जा सकता है-
  1. औपनिवेशिक शक्ति के स्तर पर होने वाले परिवर्तन
  2. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाला विकास
  3. उपनिवेश के स्तर पर होने वाला विकास

- **औपनिवेशिक शक्ति के स्तर पर होने वाले परिवर्तन:**

1. द्वितीय विश्वयुद्ध ने औपनिवेशिक शक्तियों को सैनिक एवं आर्थिक दृष्टि से कमजोर कर दिया था। उदाहरण के लिए, फ्रांस तथा हॉलैंड को जर्मनी के द्वारा जीत लिया गया था। उसी प्रकार, ब्रिटेन की आर्थिक दशा खराब हो गई। अत: ऐसा कहा जा सकता है कि ब्रिटेन ने द्वितीय विश्वयुद्ध को तो जीत लिया, किन्तु अपने साम्राज्य को हार गया।
2. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् स्वयं साम्राज्यवादी शक्तियाँ ही आर्थिक पुनर्निर्माण का दबाव झेल रही थीं। अत: यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने खर्चीले उपनिवेशों को बनाए रखने के बजाय स्वयं की समस्याओं पर केन्द्रित होने लगीं।
3. अब यूरोपीय शक्तियों का ध्यान यूरोपीय आर्थिक समुदाय के माध्यम से स्वयं अपने विकास पर चला गया था। बताया जाता है कि अब यूरोपीय शक्तियों के बीच यह धारणा घर करने लगी थी कि उपनिवेशों में निवेश के कारण स्वयं मातृदेश की अर्थव्यवस्था पिछड़ गई। दृष्टांत के तौर पर जर्मनी को देखा जा रहा था, जिसने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अपने उपनिवेश गवाँ दिए थे, फिर उसकी अर्थव्यवस्था की काफी तरक्की हुई।

- **अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाला विकास:**

1. 1941 ई. में अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल के साथ मिलकर **अटलांटिक चार्टर** लाया गया। इसमें यह प्रावधान था कि विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों अर्थात् औपनिवेशिक विश्व के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलेगा।
2. औपनिवेशिक शक्ति को नवीन अन्तर्राष्ट्रीय विचार से भी धक्का पहुँचा। उदाहरण के लिए, **संयुक्त राष्ट्र संघ** ने साम्राज्यिक शक्ति पर निरन्तर दबाव बनाए रखा तथा मानव स्वतंत्रता एवं मानव अधिकार जैसी अवधारणा पर विशेष बल दिया। फिर जैसे-जैसे एशिया तथा अफ्रीका के नव-स्वतंत्र देश इस संस्था में शामिल होते गए तथा इसकी संख्या में वृद्धि होती गई, वैसे ही वैसे इसकी राजनीतिक तथा वैचारिक भूमिका अधिक प्रबल होती गई।
3. **सोवियत रूस** 1920 से ही उपनिवेशवाद की आलोचना कर रहा था तथा उसे पूँजीवाद की संतान करार दिया। उसने उपनिवेशवाद को राजनीतिक तथा आर्थिक शोषण का ही एक रूप माना। फिर इसने वर्ग-संघर्ष तथा समाजवादी क्रांति के रूप में एक वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया। लेनिन ने उपनिवेश के लोगों को नये सर्वहारा का नाम दिया।
4. **संयुक्त राज्य अमेरिका** के द्वारा भी उपनिवेश मुक्ति के लिए दबाव बनाया गया। आधिकारिक रूप में अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने अपने यूरोपीय मित्रों को इस बात पर राजी करने का प्रयत्न किया कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को यूरोप के साथ-साथ एशिया एवं अफ्रीका में भी लागू किया जाना चाहिए। इसके पीछे उसका वास्तविक उद्देश्य शीत युद्ध में अपने सहयोगी राष्ट्रों की संख्या को बढ़ाना तथा सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में अपने बाजार का विस्तार करना था।

- **उपनिवेश के स्तर पर होने वाला विकास:**

1. कहा जाता है कि नेपोलियन के युद्धों का जो प्रभाव स्पेन के लैटिन अमेरिका स्थित उपनिवेशों पर पड़ा था, वही प्रभाव द्वितीय विश्वयुद्ध का एशिया एवं अफ्रीकी उपनिवेशों के ऊपर पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध मानव स्वतंत्रता एवं प्रजातंत्र की रक्षा के नाम पर लड़ा गया था। इस युद्ध के समय तेजी से राष्ट्रीय चेतना का प्रसार निचले स्तर पर होने लगा।
2. कुछ ब्रिटिश इतिहासकार यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रिटेन अपने उपनिवेशों के वयस्क होने की प्रतीक्षा कर रहा था और जिस समय उसके उपनिवेश वयस्क हो गए, उसने स्वेच्छा से आजादी दे दी। परंतु यह साम्राज्यवादी व्याख्या है, वास्तविकता इससे पृथक् है। उपनिवेश छोड़ना पश्चिमी शक्तियों का विकल्प नहीं, बल्कि विवशता थी। भारत में 1942 में ही भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हो गया था, चीन में कम्युनिस्ट आंदोलन उग्र था, अल्जीरिया और वियतनाम में खूनी संघर्ष छिड़ गया था, केन्या में माऊ-माऊ आंदोलन आरंभ हो गया था।

- इसलिए कुल मिलाकर हम ऐसा कह सकते हैं कि यद्यपि उपनिवेश मुक्ति के लिए कई प्रकार के कारक उत्तरदायी रहे थे, किंतु इनमें निर्णायक भूमिका स्वयं औपनिवेशिक प्रतिरोध अथवा उपनिवेश के स्तर पर होने वाली राष्ट्रीय जागृति ने निभाई।

■ **उपनिवेश मुक्ति आंदोलन के दो विभिन्न मॉडल:**

1. **पश्चिम का उदारवादी-पूँजीवादी मॉडल**- अधिकांश उपनिवेशों ने स्वयं पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के संपर्क में उनके राजनीतिक-आर्थिक मॉडल की ओर आकर्षण दिखाया। अधिकांश देशों में पश्चिमी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसलिए स्वतंत्रता के बाद भी पश्चिमी मॉडल पर ही प्रजातांत्रिक सरकारें गठित करने का प्रयास किया गया था। यद्यपि कुछ ही देशों में प्रजातांत्रिक सरकारें चलीं, जबकि अधिकांश देशों में सैनिक तानाशाह स्थापित हो गए अथवा एक दलीय शासन व्यवस्था कायम हो गई। हालांकि

स्वतंत्रता आंदोलन के मध्य इन देशों में समाजवादी अथवा मार्क्सवादी दल भी सक्रिय रहे थे, परंतु ये राष्ट्रीय आंदोलन पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में विफल रहे।

2. **समाजवादी अथवा मार्क्सवादी मॉडल**- इस मॉडल को आधार बनाकर चीन एवं वियतनाम जैसे राष्ट्रों ने स्वतंत्रता हासिल की, परंतु इन स्वतंत्रता आंदोलनों को पश्चिम के पूँजीवादी देशों के विरोध का सामना करना पड़ा और अंततोगत्वा ये आंदोलन शीत युद्ध का हिस्सा बन गये।

■ **उपनिवेश मुक्ति की घटनाएँ:**

उपनिवेश मुक्ति की घटनाएँ
एशिया महाद्वीप

पश्चिम एशिया	दक्षिण एशिया	दक्षिण-पूर्व एशिया	पूर्वी एशिया

■ **पश्चिम एशिया-**

- जैसा कि हम जानते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् पेरिस शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में पश्चिम एशिया और अरब क्षेत्र के राज्यों को मैण्डेट प्रणाली के तहत ब्रिटेन और फ्रांस के संरक्षण में रखा गया था। कुछ क्षेत्रों पर तो इन्होंने अर्द्ध-संरक्षण और कुछ क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष संरक्षण स्थापित कर लिया था, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ही ये राज्य औपचारिक रूप में स्वतंत्र हो चुके थे। 1932 में इराक, ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्त हो गया था। 1932 में ही हेजाज का क्षेत्र, सऊदी अरब के रूप में स्थापित हो गया था। 1941 तक फ्रांस को भी लेबनान और सीरिया से निकलना पड़ा था और 1947 के अन्त तक ब्रिटिश, फिलिस्तीनी क्षेत्र छोड़कर चले गए, परन्तु उन्होंने फिलिस्तीनी और यहूदी संघर्ष का बीज बो दिया था।
- परन्तु साम्राज्यवादी शक्तियों की गिद्ध दृष्टि उन क्षेत्रों पर पड़ी रही, विशेषकर तब जब उनके पास पेट्रोलियम का भंडार मिल गया। फिर पश्चिमी कम्पनियाँ इन क्षेत्रों में मँडराने लगीं और उनके पेट्रोलियम का दोहन करने लगीं। इसे तेल साम्राज्यवाद का नाम दिया जाता है। आगे चलकर इसने नए प्रकार के संघर्ष को जन्म दिया।

■ **दक्षिण एशिया-**

- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारत स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला पहला देश था। 1947 ई. में भारत को आजादी मिली। पाकिस्तान, भारत से ही निकलकर आया। 1948 ई. में श्रीलंका एवं बर्मा स्वतंत्र हो गया। दक्षिण एशिया की स्वतंत्रता का मॉडल भारत ने तैयार किया। यहाँ पर संवैधानिक पद्धति द्वारा शान्तिपूर्ण तरीके से सत्ता का हस्तान्तरण हुआ। बर्मा में कुछ तनाव जापानी आक्रमण को लेकर रहा था और आगे वहाँ सैनिक तानाशाही स्थापित हो गयी।

■ **दक्षिण-पूर्व एशिया-**

- दक्षिण-पूर्व एशिया में उपनिवेश मुक्ति का अनुभव जटिल और कष्टकर सिद्ध हुआ। इन क्षेत्रों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया निम्नलिखित पहलुओं से जुड़ गयी-

i. द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य जापानी आक्रमण के कारण यू.एस.ए., फ्राँस, हॉलैंड और ब्रिटेन जैसी साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने उपनिवेश से निकलना पड़ा था और जापानियों ने इन पर कब्जा जमा लिया था। अब जब वे दोबारा लौटकर इस पर कब्जा करने का प्रयत्न करने लगे तो उन्हें सफलता नहीं मिली, क्योंकि राष्ट्रवादी प्रतिरोध काफी तीव्र हो गया था।

ii. मलय प्रायद्वीप में ब्रिटिश के हित, इण्डोनेशिया में डचों के हित और वियतनाम में फ्रांसीसियों के हित गहरे रूप में निहित थे। अत: वे इन क्षेत्रों को आसानी से छोड़कर जाने के लिए तैयार नहीं थे।

iii. चीन के प्रभाव से दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित थी और काफी सक्रिय भी थी। इसलिए भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इन क्षेत्रों में सक्रिय रहना चाहती थीं, ताकि साम्यवादी पार्टी को सफलता न मिले।

फिलिपीन्सः

- 1946 में फिलिपीन्स को संयुक्त राज्य अमेरिका ने आजादी दे दी। परन्तु साम्यवादी पार्टी की बढ़ती प्रगति से वह चिन्तित हो गया और उसे हराने का प्रयत्न करता रहा। अंत में, 1950 के दशक के अंत तक साम्यवादी पार्टी पराजित हुई, तो फिर संयुक्त राज्य अमेरिका ने चैन की साँस ली।

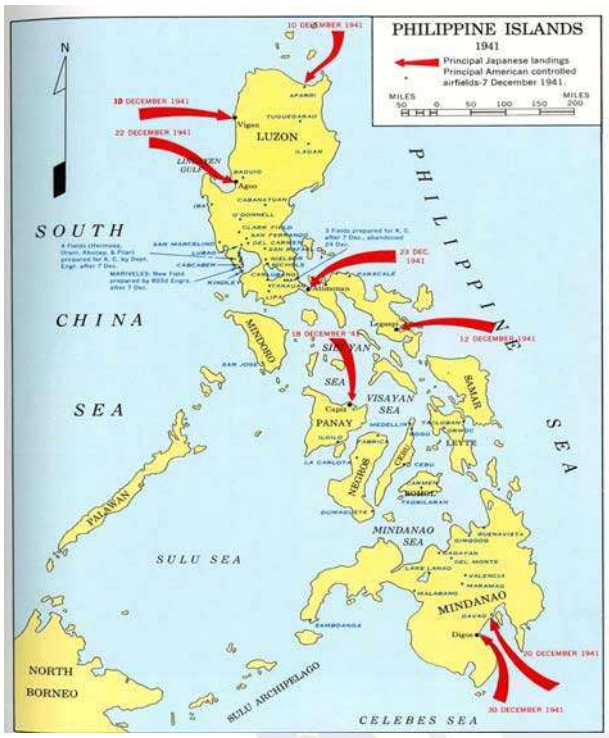

मलय प्रायद्वीपः

- यह एक ब्रिटिश उपनिवेश था। ब्रिटिश, जापान की पराजय के बाद फिर दोबारा लौटकर आया और इस पर कब्जा करने का प्रयत्न करने लगा, विशेषकर इसलिए कि उसकी अर्थव्यवस्था खराब हो गयी थी और यहाँ से ब्रिटिश को रबर एवं टिन जैसे उत्पादों की प्राप्ति होती थी। परन्तु तभी इस क्षेत्र में मलय, भारतीय एवं चीनी मुल्क के लोग संगठित होकर स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन करने लगे। ब्रिटिश पर दबाव बना, परन्तु तभी इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट पार्टी प्रगति करने लगी थी। इसलिए भी ब्रिटिश इस क्षेत्र को खाली करने के लिए तैयार नहीं थे, परन्तु अंत में जब राष्ट्रवादी तत्वों के सहयोग से ब्रिटिश ने कम्युनिस्टों को दबा दिया, तो फिर 1957 ई. में मलय प्रायद्वीप को आजादी दी।

प्रश्न : मलय प्रायद्वीप में उपनिवेश उन्मूलन प्रक्रम में सन्निहित क्या-क्या समस्याएं थीं? (UPSC-2017)

उत्तरः 1940 के दशक में दक्षिण-पूर्व एशिया में पश्चिमी शक्तियों के लगभग सभी उपनिवेशों को दो चुनौतियों का सामना करना पड़ा। पहली चुनौती थी जापानी विजय और दूसरी चुनौती थी साम्यवाद का बढ़ता प्रभाव। मलाया में ब्रिटिश को भी उन्हीं चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

यह क्षेत्र 1942 में जापानी कब्जे में आ गया था, लेकिन 1945 में जब जापान ने हिरोशिमा और नागासाकी की त्रासदी के बाद आत्मसमर्पण कर दिया, तब ब्रिटेन द्वारा फिर इसे वापस ले लिया गया। उसके पश्चात् मलय प्रायद्वीप के राष्ट्रवादियों ने, जिनमें मलय, चीनी और भारतीय, तीन अलग-अलग जातीय समूह शामिल थे, ब्रिटिश शासन से मुक्ति की माँग करना शुरू कर दिया। लेकिन उसके बाद भी अंग्रेजों ने दो कारणों से वहाँ रहने का फैसला किया।

प्रथम, युद्ध के बाद ब्रिटेन को आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। इसलिए ब्रिटेन के घटते राजकोष और अपंग अर्थव्यवस्था को मजबूती प्रदान करने के लिए उपनिवेश से संसाधनों का दोहन आवश्यक था। विशेष रूप से, रबर और टिन के निर्यात के लिए मलाया पर ब्रिटिश नियंत्रण बनाए रखना आवश्यक हो गया था।

दूसरे, 1942 और 1945 के बीच जापानियों के खिलाफ लड़ाई के दौरान चीनी कम्युनिस्टों ने अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था। फिर, 1945 के बाद वे मलाया में एक शक्तिशाली राजनीतिक ताकत के रूप में उभरे। यह अंग्रेजों के लिए अत्यंत चिंता का विषय था क्योंकि साम्यवाद पर नियंत्रण रखना पश्चिमी शक्तियों की जर्मन नीति का एक हिस्सा था। इसलिए अंग्रेजों ने मलेशिया के गैर-कम्युनिस्ट तत्वों के साथ एक संयुक्त मोर्चा बनाते हुए दृढ़ संकल्प के साथ छापामारों के खिलाफ लड़ाई लड़ी। परिणामस्वरूप, कम्युनिस्ट गुरिल्ला हार गए। फिर, 1957 में ब्रिटिश, मलाया से शांतिपूर्ण तरीके से निकल गया। इस तरह, निश्चित रूप से मलाया में ब्रिटिश अनुभव, इंडो-चीन में फ्रांसीसी अनुभव से अलग था।

इण्डोनेशियाः

- 17वीं सदी से ही इण्डोनेशिया डच उपनिवेश रहा था और वहाँ डचों के बृहद्तर हित रहे थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य जापानी आक्रमण के कारण डचों को इस क्षेत्र से निकलना पड़ा था, परन्तु जापान की पराजय के पश्चात् डचों ने इस क्षेत्र पर दोबारा कब्जा करना चाहा। तभी डॉ. सुकर्णो के नेतृत्व में राष्ट्रवादी पार्टी ने कड़ा प्रतिरोध आरम्भ किया। चूंकि डॉ. सुकर्णो का कम्युनिस्टों से विरोध था, इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन का दृष्टिकोण भी सुकर्णो के प्रति नरम बना रहा। इण्डोनेशिया की

स्वतंत्रता के मुद्दे पर 1949 ई. में नयी दिल्ली में भी एशियाई देशों की एक बैठक हुई थी। अन्त में, संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से 1949 में इण्डोनेशिया को स्वतंत्रता मिल गयी।

वियतनाम:

- वियतनाम में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया ने एक बड़ा ही उग्र रूप धारण कर लिया और इसका कारण था वियतनाम में हो-ची-मिन्ह के अधीन साम्यवादी पार्टी की प्रगति। 1945 ई. में जापानियों के द्वारा खाली करने के बाद हो-ची-मिन्ह ने उत्तरी वियतनाम में एक कम्युनिस्ट सरकार स्थापित कर दी, परन्तु फ्रांसीसी अभी भी वियतनाम को खाली करने के लिए तैयार नहीं थे। जापानी आक्रमण के कारण वियतनाम से फ्रांस के पैर उखड़ गए थे, लेकिन जापान के समर्पण करते ही फ्रांस ने भी वियतनाम पर कब्जा करने की होड़ लगा दी और फ्रांसीसी सहायता से दक्षिणी वियतनाम में एक पूँजीवादी सरकार स्थापित हो गयी। इस प्रकार, वियतनाम व्यावहारिक रूप में दो भागों में बँट गया। इसने न केवल गृहयुद्ध का रूप लिया, बल्कि यह शीत युद्ध का भी हिस्सा बन गया। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस की ओर से तथा सोवियत रूस और आगे चीनी गणतंत्र भी हो-ची-मिन्ह की सहायता में खड़े हो गए। वास्तव में, वियतनाम में हो-ची-मिन्ह और कम्युनिस्ट पार्टी को जन समर्थन प्राप्त था, परन्तु फिर भी अमेरिकी प्रभाव में संयुक्त राष्ट्र संघ, ने वियतनाम को दो भागों में बाँट दिया- उत्तरी एवं दक्षिणी वियतनाम। परन्तु इस घटना ने आगे 30 वर्षों के संघर्ष को जन्म दिया और अन्ततः संयुक्त राज्य अमेरिका को भागना पड़ा। फिर 1975 ई. में वियतनाम के दोनो हिस्सों का एकीकरण हो गया।

■ पूर्वी एशिया:

जापान:

- जापान के समर्पण करने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसे अपने संरक्षण में ले लिया था और फिर अमेरिकी संरक्षण में ही जापान के आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य चलता रहा।

कोरिया:

- जापान के निकलने के पश्चात् कोरिया भी शीतयुद्ध का हिस्सा बन गया क्योंकि उत्तर से सोवियत रूस ने घुसकर कोरिया के उत्तरी भाग पर कब्जा कर लिया, जबकि दक्षिणी भाग पर संयुक्त राज्य अमेरिका का नियंत्रण बना रहा। इस प्रकार, 1947-1948 तक कोरिया भी उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया के रूप में विभाजित हो चुका था और शीघ्र ही यह शीत युद्ध का भी मैदान बन गया। उत्तरी कोरिया में एक साम्यवादी सरकार स्थापित हो गयी।

चीन:

- चीन एक अनोखे प्रकार के साम्राज्यवाद का शिकार रहा था। कई साम्राज्यवादी शक्तियों ने मिलकर चीन का शोषण किया था। चीन ने भी समय-समय पर इस शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखायी थी। कभी ताइपिंग विद्रोह (1857) के रूप में तो कभी बॉक्सर विद्रोह (1899-1900) के रूप में, परन्तु यह कारगर नहीं रहा था। आगे डॉ. सनयात सेन के द्वारा 1911 ई. में कोमिंगतांग पार्टी के नेतृत्व में चीन में एक राष्ट्रवादी आन्दोलन आरम्भ किया गया। अंत में, 1912 ई. में चीन में मंचू वंश के शासन को समाप्त कर गणतंत्र की घोषणा की गयी, परन्तु यह गणतंत्र चीन की समस्या का समाधान नहीं कर सका।
- अब सोवियत रूस के प्रभाव में चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रगति होने लगी तथा 1921 ई. में शंघाई में औपचारिक रूप में इसकी शुरुआत हुई। इसका नेता माओत्से तुंग था, जो बहुत ही कर्मठ एवं आक्रामक था तथा जिसके पास क्रांति की एक व्यावहारिक रणनीति थी। आरम्भ में, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने कोमिंगतांग पार्टी के साथ सहयोग की नीति अपनायी थी। उसने डॉ. सनयात सेन और उसके उत्तराधिकारी चिआंग-काई-शेक के अन्तर्गत कोमिंगतांग पार्टी के साथ मिली जुली सरकार भी बनायी थी, परन्तु 1927 ई. के पश्चात् चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी पृथक् रणनीति अपनायी। इस रणनीति का बहुत हद तक श्रेय माओत्से तुंग को जाता है।

रणनीति-

- चीन में सर्वहारा क्रान्ति का आधार किसान होगा और चीन में क्रान्ति गाँव से नगर की ओर जायेगी, नगर से गाँव की ओर नहीं। इस प्रकार चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने मुख्यतः किसानों को संगठित किया।
- माओत्से तुंग ने व्यावहारिक रणनीति अपनाते हुए आरम्भ में जिस भूमि पर कब्जा किया, उसे राज्य के अधीन नहीं लिया, बल्कि किसानो के बीच बाँटा।
- 1931 ई. के बाद जब जापान का आक्रमण आरम्भ हुआ, तो जिन क्षेत्रों से चिआंग-काई-शेक की सरकार पीछे हटती रही, उन क्षेत्रों में कम्युनिस्ट ने जाकर लोगों के बीच अपना जनाधार विकसित किया।
- अन्त में, जब जापानियों ने समर्पण किया तो चीन का एक बड़ा भू-भाग खाली हो गया। उस भू-भाग पर कब्जा करने के लिए चिआंग-काई-शेक के अन्तर्गत कोमिंगतांग पार्टी तथा माओत्से तुंग के अन्तर्गत कम्युनिस्ट पार्टी के बीच 4 वर्षों का एक लम्बा गृहयुद्ध चला। हालांकि सैन्य क्षमता

कोमिंगतांग दल के पास अधिक थी, परन्तु जन समर्थन कम्युनिस्ट पार्टी के साथ था। अतः कोमिंगतांग दल पीछे हटता गया और अंत में ताइवान में जाकर उसने शरण ली, जबकि चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की जीत हुई और उसने माओत्से तुंग के नेतृत्व में नवम्बर, 1949 में चीनी गणतंत्र की स्थापना की।

■ **अफ्रीका में उपनिवेश मुक्ति आंदोलनः**

• **भारत की स्वतंत्रता का प्रभाव–**

1. ट्यूनीशिया, मोरक्को एवं क्वामे नक्रुमाह के अंतर्गत घाना स्वतंत्रता की दिशा में सोच रहा था। इनमें घाना, जो पहले 'गोल्ड कोस्ट' के नाम से जाना जाता था, एक ब्रिटिश उपनिवेश था। नक्रुमाह एक पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी था, जो स्वतंत्रता की दिशा में निरंतर सोच रहा था और ब्रिटेन के द्वारा इस माँग को बार–बार ठुकराया जा रहा था। किंतु जब 1947 ई. में भारत को आजादी मिली, तो इस माँग को ठुकराना अधिक दिनों तक संभव नहीं रहा। उस समय मोरक्को और ट्यूनीशिया भी फ्रांस से स्वतंत्र हो चुके थे तथा अल्जीरिया में खूनी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।
2. घाना के क्वामे नक्रुमाह तथा जाम्बिया के केनेथ कोंडा ने अपनी–अपनी जीवनी में स्पष्ट रूप से लिखा है कि वे किस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित हो रहे थे।
3. गाँधी के सत्याग्रह आंदोलन ने अफ्रीकी नेताओं को भी प्रतिरोध करने का एक वैकल्पिक मार्ग दिया। दक्षिण अफ्रीका की लोकप्रिय पार्टी अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस (ANC) के नेता अल्बर्ट लथूली गाँधीवादी आंदोलन से बहुत प्रभावित हुए और उस तरीके को अपनाया। नेल्सन मंडेला पर भी गाँधी का प्रभाव था। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति के विरुद्ध चलने वाले आंदोलन में भी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की अप्रत्यक्ष भूमिका रही थी।

अभ्यास प्रश्न– *अफ्रीका के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रभाव को दर्शाइए।*

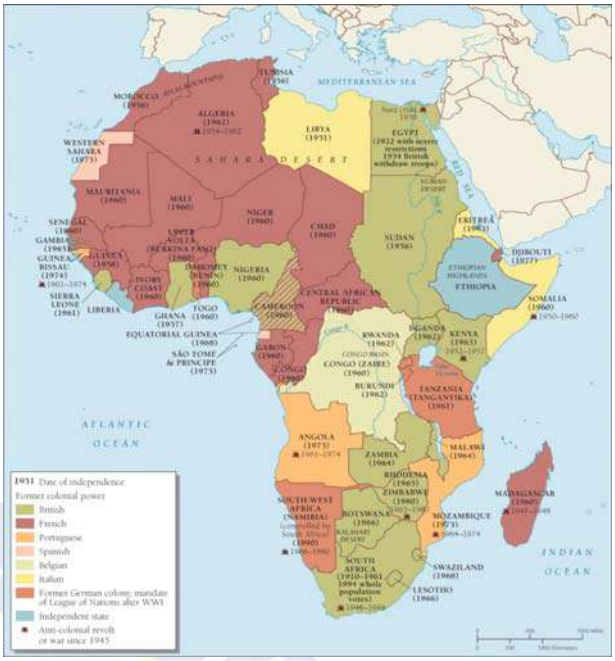

• **उत्तरी–पश्चिमी अफ्रीका में उपनिवेश मुक्ति का मॉडल–** उत्तरी–पश्चिमी अफ्रीका में उपनिवेश मुक्ति का मॉडल घाना ने तैयार किया। इस क्षेत्र में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

i. अगर अल्जीरिया को अपवाद में रखा जाए, तो उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण रही। शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता के हस्तान्तरण का एक बड़ा कारण यह भी रहा था कि इस क्षेत्र में साम्राज्यवादी शक्तियों का कोई विशेष हित नहीं था।

ii. इस क्षेत्र में संवैधानिक तरीकों से सत्ता का हस्तान्तरण हुआ।

iii. प्रायः नेतृत्व मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों के हाथों में रहा था, उदाहरण के लिए, घाना में क्वामे नक्रुमाह। उसी प्रकार, नाइजर, सिआरा लिओन, आईवरी कोस्ट, सेनेगल आदि देशों में भी नेतृत्व मध्यवर्ग के हाथों में ही रहा था तथा संवैधानिक तरीके से सत्ता का हस्तान्तरण हुआ।

अल्जीरिया में खूनी संघर्ष–

• अल्जीरिया फ्रांस का उपनिवेश रहा था। फ्रांस के लिए अल्जीरिया का लगभग वही महत्व था, जो ब्रिटिश के लिए भारत का रहा था।

• अल्जीरिया को 'मिनी फ्रांस' भी कहा जाता था। यहाँ लगभग 10 लाख फ्रांसीसी निवास करते थे तथा यहाँ के अधिकांश संसाधन फ्रांसीसी कुलीनों के नियंत्रण में थे। यही वजह है कि अल्जीरिया की स्वतंत्रता का विरोध सबसे पहले अल्जीरिया में निवास करने वाले फ्रांसीसी कुलीन कर रहे थे। अंत में, अल्जीरिया के स्वतंत्रता के मुद्दे ने खूनी संघर्ष का रूप ले लिया। फिर 1962 ई. में फ्रांस के प्रेसिडेन्ट चार्ल्स द गॉल ने अल्जीरिया की स्वतंत्रता को

स्वीकार कर लिया।

- **उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में उपनिवेश मुक्ति का मॉडल**- उत्तर-पूर्वी अफ्रीका में उपनिवेश मुक्ति का मॉडल ब्रिटिश उपनिवेश केन्या एवं मिस्र ने तैयार किया। चूंकि इन क्षेत्रों में ब्रिटिश के व्यापक हित निहित थे, इसलिए ब्रिटिश के द्वारा स्वतंत्रता को दबाने का हर संभव प्रयास किया गया।

केन्या-

- केन्या में एक बड़ी भूमि सम्पदा पर ब्रिटिश कुलीनों ने कब्जा कर रखा था। उनके द्वारा बड़े-बडे फार्मलैंड चलाये जा रहे थे और लोगों के श्रम का भरपूर दोहन किया जा रहा था। ये ब्रिटिश, केन्या में स्थायी रूप में निवास करने की योजना बना रहे थे। अतः इन ब्रिटिश कुलीनों के द्वारा स्वतंत्रता के तमाम प्रयासों को विफल किया जा रहा था। अंत में, देशी लोगों ने ब्रिटिश कुलीनों के विरुद्ध माऊ-माऊ आंदोलन संगठित किया। इससे केन्या की स्वतंत्रता के लिए ब्रिटेन के ऊपर अत्यधिक दबाव पड़ने लगा। अंत में, 1960 के दशक के आरम्भ में केन्या को आजादी मिली।

मिस्र-

- मिस्र में ब्रिटिश का मुख्य आकर्षण रहा था स्वेज नहर। स्वेज नहर पर कब्जा बनाए रखने के लिए ब्रिटिश, मिस्र की स्वतंत्रता के लिए तैयार नहीं थे। जबकि 20वीं सदी के आरम्भ से ही मिस्र में आजादी की माँग उठ रही थी। जगलूल पाशा के नेतृत्व में एक राष्ट्रवादी आंदोलन शुरू हो गया। अंत में, ब्रिटेन ने 1922 ई. में मिस्र को नाममात्र की स्वतंत्रता प्रदान की, परन्तु व्यवहार में मिस्र, ब्रिटिश नियंत्रण में ही बना रहा तथा स्वेज नहर के निकट एक ब्रिटिश सेना स्थापित रही, ताकि स्वेज नहर पर ब्रिटिश नियंत्रण बना रहे।
- अंत में, राष्ट्रवादी दबाव को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने 1959 ई. में मिस्र के शासक कर्नल नासिर के साथ समझौता कर अपनी सेना वापस बुला ली, परन्तु फिर भी स्वेज नहर से संबंधित विवाद समाप्त नहीं हुआ और 2 वर्ष के अंदर ही इसने 'स्वेज नहर संकट' का रूप ले लिया।

प्रश्नः- चीन एवं वियतनाम ने उपनिवेश-मुक्ति का पृथक मॉडल ग्रहण किया। स्पष्ट कीजिए।

*(**प्रश्न विश्लेषणः**- यह प्रश्न भी 'Hypothetical' है। Key words हैं- 'चीन' 'वियतनाम', 'एक पृथक मॉडल', स्पष्ट कीजिए'।)*

उत्तरः- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उपनिवेश-मुक्ति को बल मिला। इसे 'विउपनिवेशीकरण' का नाम दिया जाता है। स्वतंत्रता के इस आन्दोलन में अधिकांश देशों में नेतृत्व उदारवादी-पूँजीवादी दल के हाथों में रहा था, परन्तु कुछ देशों में नेतृत्व के लिए समाजवादी दल सामने आया तथा इसने वैकल्पिक नेतृत्व देने का प्रयास किया।

ऐसे देशों में चीन एवं वियतनाम प्रमुख थे। परन्तु चूँकि समाजवादी सरकारें पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न कर सकती थीं, इसलिए चीन एवं वियतनाम का समाजवादी नेतृत्व यूएसए समेत अन्य पूँजीवादी सरकारों को डराने लगा। इसीलिए अटलांटिक चार्टर को ताक पर रखकर संयुक्त राज्य अमेरिका विरोध के लिए सामने आया तथा चीन एवं वियतनाम की स्वतंत्रता का मुद्दा शीतयुद्ध का हिस्सा बन गया।

चीन में समाजवादी दल का नेतृत्व माओ-त्से-तुंग कर रहा था। वह तीन दशकों के एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् 1949 में चीनी गणतंत्र स्थापित करने में सफल रहा। दूसरी तरफ वियतनाम में हो-ची-मिन्ह ने 1945 में गणतंत्र स्थापित करने की घोषणा की, परन्तु वियतनाम का मुद्दा तीस वर्षों के गुहयुद्ध का हिस्सा बन गया।

इस प्रकार, चीन एवं वियतनाम ने उपनिवेश मुक्ति का पृथक मॉडल ग्रहण किया तथा इसने विश्व राजनीति को एक नयी दिशा दे दी।

प्रश्नः- किन कारणों से वियतनाम की स्वतंत्रता आगामी 30 वर्षों की अशांति का कारण बनी? स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः- वियतनाम की समस्या ने अटलांटिक चार्टर की प्रभावहीनता को स्पष्ट कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका किसी भी राष्ट्र के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थक था, बशर्ते नेतृत्व पूँजीवादी दल के हाथ में हो। परंतु चूंकि वियतनाम में स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व हो-ची-मिन्ह के अंतर्गत कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में था, यह बात संयुक्त राज्य अमेरिका को मंजूर नहीं थी। इस प्रकार शीतयुद्ध का एजेंडा अटलांटिक चार्टर पर हावी हो गया और वियतनाम आगामी 30 वर्षों के लिए अशांत हो गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका के षड्यंत्र के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ ने वियतनाम को दो भागों में; यथा- उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम में विभाजित कर दिया। उसमें यह आश्वासन दिया गया था कि 1954 के 2 वर्षों के पश्चात् अर्थात् 1956 में वियतनाम में जनमत संग्रह कराया जाएगा और उस आधार पर उसके भविष्य का निर्माण होगा। परंतु जनमत संग्रह को टाल दिया गया। तभी उत्तरी वियतनाम ने दक्षिणी वियतनाम के क्षेत्र में अपने साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं को किसानों के वेश में भेजना आरंभ कर दिया। इन्हें 'वियतकोंग' के नाम से जाना गया। वियतकोंग के बदलते हुए प्रभाव से घबराकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने वियतनाम में अपनी सेना भेज दी और फिर एक बड़ी उलझन में फंस गया। वस्तुतः ये वियतकोंग गोरिल्ला

पद्धति से संघर्ष कर रहे थे, अत: अमेरिकी सैनिक सफल नहीं हो पाए। अंत में संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्रपति निक्सन के आदेश पर 1973 में अमेरिकी सेना को वापस बुला लिया। फिर 1975 में उत्तरी वियतनाम की साम्यवादी सरकार ने दक्षिण वियतनाम को जीतकर वियतनाम को एकीकृत कर लिया। इस प्रकार जिस वियतनाम को साम्यवाद से बचाने के लिए 58000 अमेरिकी सैनिकों ने अपना बलिदान दिया था, वह साम्यवादी सरकार के नियंत्रण में ही आ गया तथा वियतनाम, अमेरिका के लिए वाटरलू सिद्ध हुआ।

प्रश्न: द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया को प्रेरित करने वाले कारकों को उद्घाटित कीजिए।

उत्तर: एशिया एवं अफ्रीका की उपनिवेश मुक्ति पर द्वितीय विश्व युद्ध का वही प्रभाव रहा, जो नेपोलियन के युद्धों का लैटिन अमेरिका स्थित स्पेन के उपनिवेशों पर रहा था।

वस्तुत: नेपोलियन के युद्धों के पश्चात् राष्ट्रवाद की विचारधारा का जो प्रसार हुआ था, वह यूरोपीय संस्थाओं के माध्यम से लैटिन अमेरिका तक पहुँच गया। उसी प्रकार, द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए मित्र राष्ट्रों ने प्रजातांत्रिक विश्व बनाम फासीवाद का जो नारा दिया, उसने पहले एशिया, तत्पश्चात् अफ्रीका की राष्ट्रवादी आकांक्षा को बढ़ा दिया। अत: द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया में राष्ट्रवादी आंदोलन अधिक उग्र एवं जुझारू हो गया तथा प्रशासन एवं सेना में भी राष्ट्रवाद का तत्व प्रवेश करने लगा। वहीं दूसरी तरफ द्वितीय विश्वयुद्ध ने यूरोप के वर्चस्व का अंत कर दिया। युद्ध के कारण यूरोप की प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियाँ कमजोर हो गईं। इसके अतिरिक्त युद्ध के पश्चात् उनके समक्ष आर्थिक पुनर्निर्माण का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। अत: अब उनके लिए उपनिवेशों को बनाए रखना कठिन हो गया। फिर वही समय है जब महाशक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस के रूप में दो महाशक्तियों का उद्भव हुआ। इन दोनों का रुख उपनिवेश विरोधी रहा। सोवियत रूस के संदर्भ में तो उपनिवेशवाद-विरोधी दृष्टिकोण साम्यवाद के तर्कशास्त्र में ही निहित था, वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए उपनिवेश मुक्ति का अर्थ था अपने बाजार का विस्तार क्योंकि विश्व युद्धोत्तर काल में वह विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरा था। उधर अटलांटिक चार्टर एवं उसके सिद्धांतों पर आधारित संयुक्त राष्ट्र संघ का बल भी उपनिवेश मुक्ति पर रहा था। फिर एशिया के संदर्भ में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया को बल देने में जापानी साम्राज्यवाद की भी भूमिका रही थी क्योंकि उसने द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य पश्चिमी शक्तियों को अपने एशियाई उपनिवेश से खदेड़ दिया था। उसी प्रकार अफ्रीकी उपनिवेश की मुक्ति पर एशियाई घटनाओं का भी प्रभाव पड़ा।

इस तरह हम देखते हैं विउपनिवेशीकरण एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था तथा इसके लिए एक से अधिक कारक उत्तरदायी रहे थे।

प्रश्न: पूर्वी अफ्रीका में उपनिवेश विरोधी संघर्ष को पाश्चात्य शिक्षित अफ्रीकियों के नवसंभ्रांत वर्ग के द्वारा नेतृत्व प्रदान किया गया था। परीक्षण कीजिए। (UPSC- 2016)

उत्तर - विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया तथा नेतृत्व का स्वरूप अलग-अलग रहा। पश्चिमी अफ्रीका में अगर अल्जीरिया और नाइजीरिया को अपवाद में रखा जाता है तो उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया शांतिपूर्ण रही और नेतृत्व मध्यवर्ग के हाथों में रहा।

इन क्षेत्रों में विभिन्न कारकों ने शिक्षित मध्यवर्ग के उद्भव में अपनी भूमिका निभाई थी। प्रथम, इन क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों के द्वारा शिक्षा के विकास के लिए काम किया गया था। उसी प्रकार कुछ अतिथि ब्रिटिश और फ्रांसीसियों के अधीन सरकारी सेवा से जुड़े रहे थे। अत: उनके बीच शिक्षा की बेहतर प्रगति हुई थी। इसके अतिरिक्त कुछ अफ्रीकी ऐसे थे जिन्होंने विदेश जाकर शिक्षा ग्रहण की थी तथा अपने देश लौटकर राजनीतिक रूप में अधिक सक्रिय हो गए थे। साथ ही कुछ अफ्रीकी प्रवासी भी शिक्षित होकर लौटे थे और वे भी राजनीतिक रूप में सक्रिय थे। बताया जाता है कि पश्चिमी अफ्रीका के मध्य वर्ग पर संयुक्त राज्य अमेरिका के अश्वेत आंदोलन का भी प्रभाव था।

इन शिक्षित और मध्यवर्गीय अफ्रीकियों में एक महत्वपूर्ण नेता थे क्वामे नक्रुमाह। उन्होंने गोल्ड कोस्ट में स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व किया था। यह गोल्ड कोस्ट 1958 में घाना के नाम से स्वतंत्र हो गया। माना जाता है कि नक्रुमाह पर भारतीय राष्ट्रवादियों का ही प्रभाव था। एक तरह से यदि देखा जाए तो मध्यवर्गीय आंदोलन पर आधारित स्वतंत्रता का मॉडल घाना ने तैयार किया था तथा इसका प्रभाव अन्य पश्चिम अफ्रीकी देशों पर भी देखा गया। उदाहरण के लिए, सियरा लियोन, मेरीटोनिया आदि।

वस्तुत: शांतिपूर्ण सत्ता हस्तांतरण का एक और कारण था जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, वह था इन क्षेत्रों में साम्राज्यवादी शक्तियों का कोई बड़ा हित, खतरे में न होना।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में स्वतंत्रता की प्रक्रिया शांतिपूर्ण, अपने स्वरूप में संवैधानिक तथा शिक्षित मध्यवर्ग के द्वारा प्रेरित हो रही थी।

■ **क्या उपनिवेश मुक्ति के पश्चात् उपनिवेशवाद समाप्त हो गया?**

- एशियाई -अफ्रीकी क्षेत्रों में उपनिवेश मुक्ति के पश्चात् भी उपनिवेशवाद समाप्त नहीं हुआ, बल्कि उसने केवल अपना रूप परिवर्तित किया अर्थात् शोषण का तरीका बदल गया। इसलिए इसे 'नव-उपनिवेशवाद' का नाम दिया जाता है।

■ **नव-उपनिवेशवाद से क्या तात्पर्य है?**

- जहाँ पहले देश पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया जाता था, अब उसकी जगह अप्रत्यक्ष नियंत्रण बना कर रखा जाता है तथा उस क्षेत्र से विभिन्न रूपों में आर्थिक लाभ प्राप्त किया जाता है। इसे नव-उपनिवेशवाद का नाम दिया गया है। नव-उपनिवेशवाद की अभिव्यक्ति निम्नलिखित रूपों में होती है-

1. **आर्थिक क्षेत्र**-
   i. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का संचालन करने वाली अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सियों; यथा- आई.एम.एफ, विश्व बैंक एवं वर्तमान में विश्व व्यापार संगठन (WTO) के माध्यम से तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण बनाए रखना।
   ii. पश्चिम की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण बनाए रखने का प्रयास करना।
   iii. अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन में तृतीय विश्व के देशों पर अन्याय पूर्ण ढंग से पड़ने वाले दबाव भी नव-उपनिवेशवाद का ही एक रूप हैं।
2. **सामाजिक क्षेत्र**-
   i. गैर-यूरोपीय लोगों के प्रति नस्लीय भेदभाव की नीति अपनाना तथा उन्हें ओरिएन्टल कहकर संबोधित करना।
3. **सांस्कृतिक क्षेत्र**-
   i. पश्चिमी चिन्तक विश्व को केन्द्रीय एवं परिधीय क्षेत्र (Central and peripheral region) में बाँटकर देखते हैं। पश्चिम को वे केंद्रीय क्षेत्र मानते हैं तथा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि जितने भी उत्तम विचार हैं, वे केन्द्रीय क्षेत्र में विकसित होते हैं तथा वहाँ से परिधीय क्षेत्र में उनका प्रसार होता है।
   ii. पश्चिमी देशों के विद्वानों एवं विशेषज्ञों के द्वारा तृतीय विश्व के सामाजिक विज्ञानों के विश्लेषण को अपने ढंग से तोड़ा और मरोड़ा जाता है। कुल मिलाकर यह 'मिशेल फूको' के 'नॉलेज पावर' की अवधारणा को सिद्ध करता प्रतीत होता है।

प्रश्नः- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विउपनिवेशीकरण को बल मिला, परंतु उपनिवेशवाद समाप्त नहीं हुआ, उसने केवल रूप परिवर्तित किया। परीक्षण कीजिए।

(प्रश्न विश्लेषणः- इस प्रश्न की प्रकृति 'Hypothetical' है। इसमें Keywords - 'उपनिवेश-मुक्ति' तथा 'उपनिवेशवाद का रूप परिवर्तन' हैं। अतः उत्तर के दो भाग होंगे।)

उत्तर- द्वितीय विश्य युद्ध के परिणामों में एक महत्वपूर्ण परिणाम है उपनिवेश-मुक्ति की प्रक्रिया को प्रोत्साहन। द्वितीय विश्व युद्ध ने ब्रिटिश, फ्रेंच एवं डच साम्राज्य पर विध्वंशात्मक प्रभाव पैदा किया क्योंकि एक तरफ इसने उपनिवेशों में राष्ट्रवादी चेतना को बढ़ावा दिया, वहीं दूसरी तरफ इसने साम्राज्यवादी शक्तियों को कमजोर कर दिया। इसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम एशिया तथा फिर अफ्रीकी महाद्वीप में उपनिवेश मुक्ति को बल मिला तथा आगामी चार दशकों में उपनिवेश मुक्ति की प्रक्रिया लगभग पूरी हो गई।

परन्तु, सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि उपनिवेशवाद समाप्त नहीं हुआ, अपितु उसने महज अपना रूप परिवर्तित कर लिया तथा नव-स्वतंत्र एशियाई- अफ्रीकी देशों पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण बनाए रखने का प्रयास किया। निम्नलिखित कारक अप्रत्यक्ष नियंत्रण के अवयव बने-

- डॉलर कूटनीति तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के माध्यम से संबंधित देशों की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण बनाए रखना।
- आई.एम.एफ., विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से इन देशों की अर्थव्यवस्था को बलपूर्वक खोलना।
- पर्यावरण एवं सुरक्षा तथा आतंकवाद के विरूद्ध संघर्ष के नाम पर तृतीय विश्व के देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप।
- इन देशों को सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा घोषित कर इन पर पश्चिमी मानदण्डों को थोपने का प्रयास।

उपनिवेशवाद के इस परिवर्तित रूप को नव-उपनिवेशवाद का नाम दिया जाता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. *'एशियाई-अफ्रीकी उपनिवेशों को मुक्ति मिली, विउपनिवेशीकरण की प्रक्रिया लगभग पूरी हुई, फिर भी उपनिवेशवाद ने अतीत बनने से इनकार कर दिया है।' इस कथन का परीक्षण कीजिए।*
2. *उपनिवेशवाद किसी देश अथवा समुदाय के संसाधानों का ही दोहन नहीं करता, बल्कि उसकी सोच एवं चरित्र को भी बदलने का प्रयास करता है तथा उस समुदाय के लोगों में हीन भावना उत्पन्न करने का भी प्रयास करता है। टिप्पणी कीजिए।*

शीतयुद्ध के मध्य दोनों गुटों के बीच टकराहट के कारण उत्पन्न कुछ प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संकट

■ **कोरियाई संकट (1950-53ई.)**

• **कारण-**

1. दो विश्वयुद्धों के बाद, कोरियाई प्रायद्वीप को 38वीं समानांतर रेखा के आधार पर दो भागों में विभाजित कर दिया गया।
2. जून, 1950 में उत्तर कोरिया ने चीनी सहायता एवं रूस निर्मित टैंकों की बदौलत दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर उसके अधिकांश भागों पर कब्जा कर लिया।
3. उत्तर कोरिया की आक्रामकता पर अंकुश लगाने के लिये अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी शक्तियों ने अमेरिकी जनरल मैक ऑर्थर के अधीन एक संयुक्त सैन्य कमान का गठन किया। इसका उद्देश्य उत्तर कोरिया के नियंत्रण से दक्षिण कोरिया को मुक्त कराना था।
4. दक्षिण कोरिया को मुक्त कराने के बाद मैक ऑर्थर के अधीन सेना उत्तर कोरिया के अंदर चीन की सीमा तक पहुँच गई। अत: चीन ने इस कदम का विरोध किया और उत्तर कोरिया की सहायता के लिए पहुँच गया।

• **प्रभाव:-** कोरिया संकट के समय चीन के आक्रामक रुख को देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने तृतीय विश्व में अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहा। इस प्रकार शीतयुद्ध का वैश्वीकरण हो गया।

■ **स्वेज नहर संकट (1956ई.)**

• **कारण:**

1. ब्रिटेन के नेतृत्व में पश्चिमी देशों ने मिस्र की विदेश नीति को अपने अनुसार चलाने का प्रयास किया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु पश्चिमी शक्तियों ने मिस्र को नील नदी पर आसवान बाँध के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने की पेशकश की।
2. परंतु मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने स्वतंत्र विदेश नीति का अनुपालन किया और 'साम्यवादी चीन' को मान्यता प्रदान की। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ब्रिटेन ने घोषित वित्तीय सहायता को रोक दिया।
3. मिस्र के शासक नासिर ने स्वेज नहर के पट्टे को समाप्त कर इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया।
4. इसके प्रतिशोध में ब्रिटेन, फ्राँस और इजराइल ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया।

• **प्रभाव**- स्वेज नहर संकट के पश्चात् पश्चिम एशिया की राजनीति में ब्रिटेन का वर्चस्व समाप्त हो गया तथा उसकी जगह संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा भरने का प्रयास किया गया। इस काल में पश्चिम एशिया और अरब क्षेत्र में सोवियत रूस के द्वारा भी अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार का प्रयास किया गया।

प्रश्न : 1956 में स्वेज संकट को पैदा करने वाली घटनाएँ क्या थीं? उसने एक विश्व शक्ति के रूप में ब्रिटेन की आत्मछवि पर किस प्रकार अंतिम प्रहार किया? (UPSC-2014)

उत्तर: स्वेज नहर संकट शीतयुद्ध का अपरिहार्य परिणाम था तथा इसने विश्व राजनीति के समीकरण को बदल दिया। शीतयुद्ध के मध्य समाजवादी देशों की ओर मिस्र के झुकाव ने ब्रिटेन तथा यूएसए को चिंतित कर दिया था। अत: मिस्र को पश्चिमी गुट की ओर आकर्षित करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका ने आसवान बाँध के निर्माण के लिए मिस्र को आर्थिक सहायता देने का वादा किया, किंतु आगे मिस्र की गतिविधियों से असंतुष्ट होने के कारण इस सहायता को रोक लिया गया। बदले में, अतिरिक्त संसाधन जुटाने के लिये कर्नल

नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया। फलतः ब्रिटेन ने फ्रांस तथा इजराइल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण कर दिया। इसे स्वेज नहर संकट के नाम से जाना गया।

इस घटना से ब्रिटेन की शक्ति और प्रतिष्ठा को धक्का लगा। वैसे तो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन का कद छोटा होने लगा था क्योंकि उसने भारत समेत एशिया के कई महत्वपूर्ण उपनिवेशों को खो दिया था, किंतु अब स्वेज नहर संकट ने पश्चिम एशिया से भी उसके प्रस्थान को अवश्यम्भावी बना दिया। पश्चिम एशिया में ब्रिटिश के प्रस्थान से जो एक राजनीतिक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसे संयुक्त राज्य अमेरिका ने भर दिया। इस रूप में हम इस घटना को ब्रिटेन की आत्मछवि पर अंतिम प्रहार मान सकते हैं।

■ वियतनाम समस्या (1954-75ई.)

- **कारण-**

1. वर्ष 1945 के बाद जब जापान वियतनाम से पीछे हट गया, तब एक कम्युनिस्ट नेता हो-ची-मिन्ह ने उत्तरी वियतनाम में एक गणतंत्र की स्थापना की, वहीं फ्रांस ने दक्षिणी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। यह मुद्दा शीत युद्ध का हिस्सा बन गया।
2. अंत में, 1954 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा वियतनाम के प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया गया और उसका विभाजन उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम में किया गया। वस्तुतः 1956 में वियतनाम में जनमत संग्रह के माध्यम से इसके भविष्य का निर्णय होना था।
3. लेकिन, अमेरिकी दबाव के कारण जनमत संग्रह को स्थगित कर दिया गया और उत्तरी वियतनाम में साम्यवादी सरकार को दबाने के लिए अमेरिका ने अपनी सेना भेज दी।

- **प्रभाव-**

1. वियतनाम, अमेरिका के लिये 'वाटरलू' का मैदान साबित हुआ क्योंकि 58000 अमेरिकी सैनिकों की जान गँवाने के बाद भी वह उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम के एकीकरण को रोक नहीं सका।
2. वियतनाम समस्या ने साम्यवाद के लोकप्रिय एशियाई संस्करण को विश्व के सामने प्रस्तुत किया, जो यूरोपीय दृष्टिकोण से पूर्णतः भिन्न था।

■ क्यूबा मिसाइल संकट (1963ई.)

- **कारण-**

1. क्यूबा में एक गुरिल्ला नेता, फिडेल कास्त्रो सत्ता में आया। फिर उसने क्यूबा की आर्थिक तथा राजनीतिक निर्भरता संयुक्त राज्य अमेरिका पर कम करने के लिए रेडिकल कार्यक्रम प्रस्तुत किया।
2. जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने कास्त्रो को सत्ता से बेदखल करने का प्रयास किया, तो उसने सोवियत रूस के साथ राजनयिक संबंध स्थापित कर लिये। सोवियत रूस ने कास्त्रो को सहयोग प्रदान करते हुए क्यूबा में मध्यम दूरी की मिसाइलें तैनात कीं।
3. संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस के इस कदम के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और सोवियत रूस पर क्यूबा से मिसाइलों को हटा लेने का दबाव डाला। उधर सोवियत रूस ने परमाणु हथियारों से भरे कुछ युद्धपोत भी क्यूबा के लिये रवाना कर दिये। अतः तब संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस के बीच सीधी टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो गई।

- **प्रभाव-**

1. परमाणु युद्ध की संभावना ने दोनों गुटों के बीच तनाव शैथिल्य को प्रोत्साहन दिया और फिर 1963 में सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच हॉटलाइन एग्रीमेंट हुआ।

2. सोवियत रूस कहीं न कहीं परमाणु क्षमता में संयुक्त राज्य अमेरिका से पीछे था। अतः उसने फिर प्रयास कर समानता का स्तर हासिल किया।
3. इसने नाटो की नीति के बारे में अमेरिका एवं फ्रांस के बीच मतभेदों को जन्म दिया।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन

- गुटनिरपेक्षता से तात्पर्य पृथकता अथवा तटस्थता नहीं है, बल्कि इससे तात्पर्य है कि दोनों महाशक्तियों से संबंध रखते हुए भी महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय मसलों पर स्वतंत्र रूप में निर्णय लेना।
- **गुटनिरपेक्षता की नीति को प्रेरित करने वाले कारकः**

1. इसे नव-साम्राज्यवाद से बचने के एक महत्वपूर्ण विकल्प के रूप में देखा जा रहा था। नेहरू जैसे नेता भारत, चीन एवं अन्य शक्तियों के परस्पर संबंधों के आधार पर एशिया का पुनरुत्थान देख रहे थे।
2. नव स्वतंत्र देशों के समक्ष प्राथमिकता आर्थिक विकास की थी, किंतु किसी सैनिक गुट का सदस्य बनने का अर्थ था कि अपने इस दुर्लभ संसाधन को सैनिक तैयारी पर खर्च कर देना।
3. भारत एवं कुछ अन्य देशों का मानना था कि अगर विदेश नीति स्वतंत्र नहीं हो, तो स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता।
4. भारत एवं मिस्र जैसे कुछ देशों का यह मानना था कि गुटनिरपेक्षता की नीति उनकी संस्कृति में ही निहित है।

- **गुटनिरपेक्ष संगठन**- आरंभ में गुटनिरपेक्षता भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की नीति थी, परंतु आगे चलकर इसमें कुछ और भी नेता शामिल हो गए। वे नेतागण थे- युगोस्लाविया के शासक मार्शल टीटो तथा मिस्र के प्रधान कर्नल नासिर। सर्वप्रथम 1955 में इंडोनेशिया की राजधानी बांडुंग में एक सम्मेलन हुआ। इसमें 29 एशियाई-अफ्रीकी देशों ने हिस्सा लिया और एक तरह से देखा जाए, तो इसी सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नीति निर्मित हुई। फिर भी, औपचारिक रूप में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की शुरुआत 1961 में बेलग्रेड सम्मेलन में हुई। इसमें 25 देशों ने हिस्सा लिया था।
- **योगदानः**

1. इसने आरंभ से ही उपनिवेश मुक्ति, दक्षिण अफ्रीकी सरकार की रंगभेद नीति का विरोध, परमाणु परीक्षण को रोकना आदि अपना लक्ष्य निर्धारित किया था।
2. इसने तृतीय विश्व के देशों को संगठित कर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में मिल-जुल कर मतदान किया। इतना तक कि पश्चिमी देशों के द्वारा भी इसे गंभीरता से लिया गया।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ में G-77 जैसे संगठन का निर्माण कर इसने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के प्रजातांत्रीकरण की माँग को उठाया।

- **सीमाएँः**

1. आंदोलन के आरम्भ के कुछ समय पश्चात् यह अपने मूल मार्ग से विचलित हो गया और राजनीतिक मुद्दों की ओर मुड़ गया।
2. इसके अधिकांश सदस्य देश संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा सोवियत रूस की ओर झुके रहे। इस पर श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्द्धने ने व्यंग करते हुए कहा कि अब सही अर्थों में दो ही गुटनिरपेक्ष राष्ट्र बच गए हैं- प्रथम, संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरा, सोवियत रूस।
3. तृतीय विश्व के देशों के बीच भी परस्पर युद्ध और टकराहट चलती रही। इस कारण यह संगठन प्रभावी नहीं रहा। उदाहरण के लिए, 1962 में भारत-चीन युद्ध ने इसे गहरा धक्का पहुँचाया। फिर 1965 तथा 1971 में भारत-पाक युद्ध हुआ और पाकिस्तान का विभाजन हो गया। 1970 के दशक में चीन ने वियतनाम पर हमला कर दिया। 1980 तथा 1988 के 8 वर्षों तक ईरान-इराक युद्ध चलता रहा। दूसरी तरफ, अफ्रीकी राष्ट्रों में जनजातीय संघर्ष और सीमा विवाद चलते रहे। इस कारण गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नीतियाँ एवं कार्यक्रम दुष्प्रभावित हुए।
4. फिर इसके सदस्य देशों की स्थिति में भी अंतर आने लगा, यथा- इसका एक संस्थापक देश युगोस्लाविया का विघटन हो गया। दूसरा संस्थापक देश मिस्र, अमेरिका के निकट चला गया। साइप्रस और माल्टा जैसे राष्ट्र यूरोपीय संघ के सदस्य बन गए तथा गुटनिरपेक्ष समूह से अपना नाता तोड़ लिया। भारत भी अपने अन्य सामरिक सहयोगियों की ओर देख रहा है और गुटनिरपेक्ष आंदोलन को गंभीरता से नहीं ले रहा है। अभी हाल में वेनेजुएला के सम्मेलन में भारतीय प्रधानमंत्री का जाना चर्चा का विषय है।

- **क्या गुटनिरपेक्ष आंदोलन प्रासंगिक रह गया है?**-यह आज भी प्रासांगिक हो सकता है, परंतु इसके कार्यक्रम और संरचना में परिवर्तन लाने की जरूरत है। इसकी प्रासंगिकता के निम्नलिखित कारण हैं-

1. संयुक्त राष्ट्र संघ के बाद यह विश्व का अकेला सबसे बड़ा संगठन है। सबसे बढ़कर इस पर पश्चिमी देशों का दबदबा नहीं है।
2. विश्व व्यापार संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन के द्वारा प्रेरित पश्चिमी साम्राज्यवाद का सामना करने के लिए यह बेहतर सामूहिक मंच हो सकता है।
3. आतंकवाद का वैश्विक विस्तार देखते हुए इसका सामूहिक रूप से सामना किए जाने की जरूरत है।

संयुक्त राष्ट्र संघ

■ **संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन की पृष्ठभूमि-**

- संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का मूल अगस्त, 1941 के अटलांटिक चार्टर में देखा जा सकता है।
- 25 अप्रैल, 1945 को सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में 61 देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर किये।

■ **संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग-**

- संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य 6 अंग इस प्रकार हैं-
  1. महासभा
  2. सुरक्षा परिषद्
  3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्
  4. न्यास परिषद्
  5. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
  6. सचिवालय

■ **राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ की संरचना में अंतर-**

- राष्ट्र संघ की विफलता के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) का गठन किया गया था। अत: यूएनओ में पहले की गलतियों को सुधारने का प्रयास किया गया।

1. राष्ट्र संघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ अधिक प्रतिनिधियों वाला संगठन है।
2. राष्ट्र संघ की विफलता का मुख्य कारण असेंबली और काउन्सिल को एक समान अधिकार दिया जाना माना जाता है।
3. प्रमुख देशों को राष्ट्र संघ में कोई विशेष शक्ति प्राप्त नहीं थी। किसी प्रेरक शक्ति के अभाव में प्रमुख वैश्विक शक्तियों ने विश्व में शांति व्यवस्था बनाए रखने में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखाई।
4. राष्ट्र संघ के पास आक्रामक देशों के विरुद्ध सैन्य कार्रवाई करने का अधिकार नहीं था, लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ में इस तरह का प्रावधान किया गया है।

■ **संयुक्त राष्ट्र संघ की उपलब्धियाँ-**

- **राजनीतिक उपलब्धियाँ-** संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक मतभेदों को हल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।
- **आर्थिक उपलब्धियाँ-** यह दुनिया के आर्थिक परिदृश्य को बेहतर बनाने के लिये अपनी विशेष एजेंसियों; जैसे- अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि के माध्यम से नवीन अनुसंधानों को प्रोत्साहित करता है।
- **सामाजिक उपलब्धियाँ-** इसने स्वास्थ्य के क्षेत्र में बड़ी सफलता हासिल की है। उदाहरण के लिए, इसने चेचक तथा पोलियो जैसी बीमारी को समाप्त करने में सफलता पायी है। आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' विभिन्न टीकाकरण कार्यक्रमों का संचालन कर रहा है एवं एड्स जैसी बीमारी की रोकथाम के लिए प्रयासरत है।
- **सांस्कृतिक उपलब्धियाँ-** यूनेस्को के माध्यम से प्राचीन विश्व की विस्मृत संस्कृतियों को संरक्षित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रयास सराहनीय है।

■ **संयुक्त राष्ट्र संघ की सीमाएँ**

1. राजनीतिक मोर्चे पर यूएनओ को सीमित सफलता ही मिली है। इसके महत्वपूर्ण कारण हैं- कुछ सदस्य देशों के पास वीटो शक्ति का होना। इस कारण से लगभग संपूर्ण शीतयुद्ध के काल में यह संस्था लकवाग्रस्त बनी रही।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपने स्वयं के वित्तीय स्रोत न होने के कारण इसे अधिकांश समय वित्तीय चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ सैन्य सहयोग के लिए सदस्य राष्ट्रों पर निर्भर है।
4. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 1945 ई. में की गई थी। तब से लेकर आज तक इसकी संरचना लगभग अपरिवर्तित है। ऐसे में यूएनओ में बदलते वैश्विक राजनीतिक परिदृश्य के मुताबिक बदलाव किये जाने की आवश्यकता है।

■■■

विश्व इतिहास

(अतिरिक्त अध्ययन सामग्री)

-मणिकांत सिंह

खंड- VI

समकालीन विश्व : एक विहंगम दृष्टिकोण

(Contemporary World : A Cursory Look)

प्रिय अभ्यर्थियों,

अध्ययन सामग्री का यह 'खंड-VI' आपके पाठ्यक्रम का भाग नहीं है, बल्कि उसकी परिधि से बाहर है। फिर भी आपकी संपूर्ण तैयारी का यह महत्वपूर्ण हिस्सा है। स्मरणीय है कि प्रथम खंड, जिसमें प्राचीन विश्व, मध्यकालीन विश्व के साथ-साथ आधुनिक यूरोप के उद्‌भव का अंश लिया गया है तथा छठा खंड जो 1970 के दशक से लेकर वर्तमान युग तक के विकास को दर्शाता है, अतीत को समकालीन विश्व से जोड़ता है। यह एन.सी.एफ. 2005 के निर्देश, जिनके आधार पर एन.सी.ई.आर.टी पुस्तक लिखी गई है, के अनुकूल है। इसमें कहा गया है कि हम आस-पास के परिवेश एवं जीवन को देखें तथा उनके अतीत को जानने का प्रयास करें कि हम कैसे क्रमिक रूप में विकसित एवं परिवर्तित होते हुए वर्तमान युग तक पहुँच सके हैं।

उपर्युक्त तथ्य के अतिरिक्त अतीत से लेकर वर्तमान तक का समग्र ज्ञान अभ्यर्थियों में एक आलोचनात्मक सोच (Critical Thinking) विकसित करेगा। फिर चाहे प्रश्न कितना भी जटिल (Complex), आनुमानिक (Inferencial) प्रकृति का हो, उनका उत्तर आसानी से दिया जा सकता है।

साथ ही इस खंड के अध्ययन का एक सबल पक्ष यह है कि यह सामान्य अध्ययन के अन्य खंडों के लिए प्रवेश द्वार (Gateway) का काम करता है। स्मरण रहे कि अभ्यर्थी केवल एक या दो प्रश्न के लिए विश्व इतिहास का अध्ययन नहीं कर रहे हैं, अपितु इसके माध्यम से संविधानवाद, अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को भी समझने का प्रयास कर रहे हैं।

खंड-VI के अध्ययन के क्रम में आप निम्नलिखित तथ्यों को जानिए:-

- तेल संकट ने 'पूँजीवादी आर्थिक मॉडल' में किस प्रकार का परिवर्तन ला दिया?
- तेल संकट ने 'तृतीय विश्व' की अर्थव्यवस्था को किस प्रकार की दिशा दी?
- तेल संकट ने 'समाजवादी आर्थिक मॉडल' के स्वरूप में किस प्रकार का बदलाव लाया?
- तेल संकट ने अरब देशों के प्रति अमेरिकी नीति को किस प्रकार की दिशा दे दी?
- किन कारकों ने सोवियत रूस के विघटन एवं समाजवादी आर्थिक मॉडल के पतन को निर्धारित किया?
- शीतयुद्ध की समाप्ति ने अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर क्या प्रभाव डाला?
- आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के बीच क्या संबंध है? किन कारकों ने इन्हें प्रेरित किया?
- सबप्राइम ऋण संकट एवं यूरोजोन संकट ने पूँजीवादी आर्थिक मॉडल अथवा आर्थिक उदारीकरण को किस प्रकार से धक्का पहुँचाया?
- क्या नव-उदारवादी आर्थिक नीति नव-उपनिवेशवाद (Neo-Colonialism) का एक रूप है?
- क्या भूमंडलीकरण का अंत हो गया है?
- क्या पूँजीवादी आर्थिक मॉडल जीवित रह सकेगा?

-मणिकांत सिंह

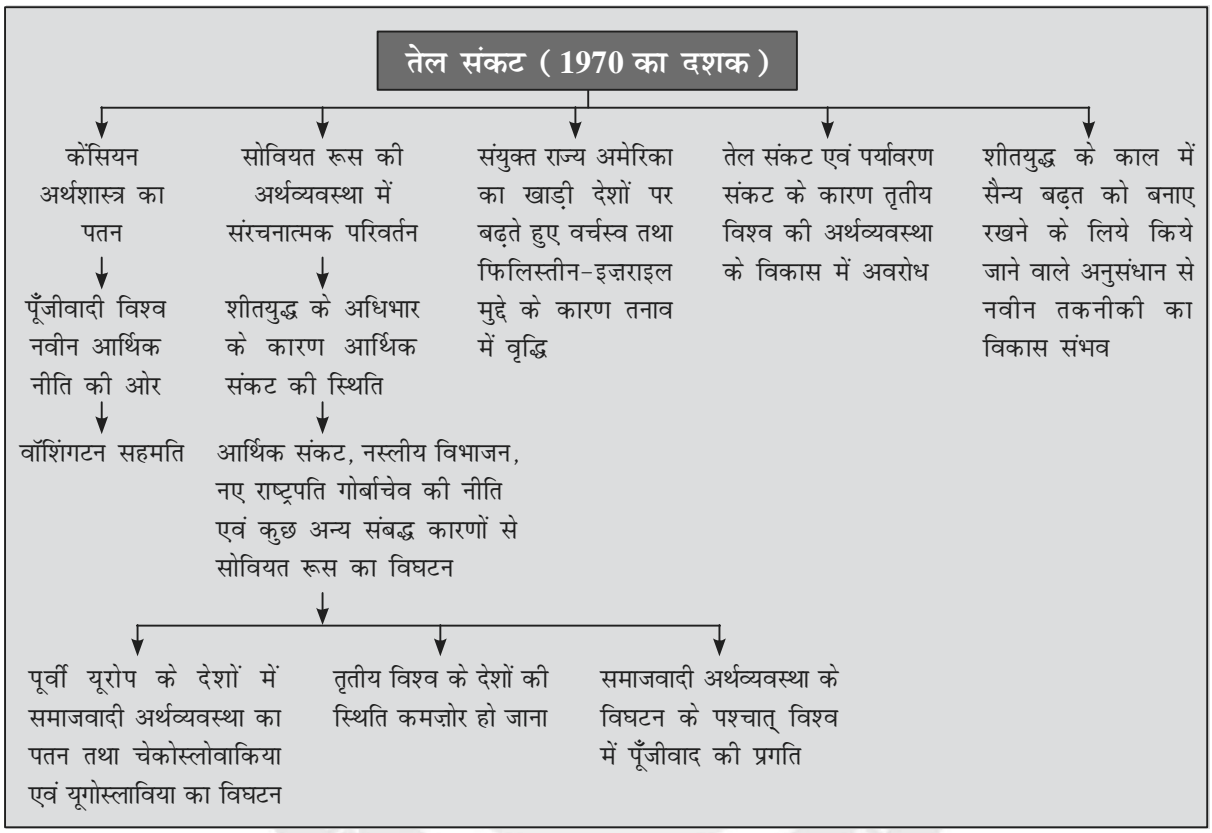

1970 के दशक में परिवर्तन के प्रमुख कारक

1970 के दशक में दो मुद्दे ऐसे उभरकर आए, जो आगे विश्व इतिहास की धारा को एक नई दिशा देने वाले थे। पहला मुद्दा था पर्यावरणीय संकट तथा दूसरा था तेल संकट। जहाँ तक पर्यावरण के मुद्दे का सवाल है, स्मरणीय है कि इस काल में पर्यावरण संरक्षण की बस चेतना भर विकसित हुई थी। अभी इस मुद्दे ने अधिक तूल नहीं पकड़ा था। आगे जाकर इस मुद्दे ने तूल पकड़ा, परंतु तेल संकट का मुद्दा आरंभ से ही एक ज्वलंत मुद्दे के रूप में उपस्थित हुआ तथा इसने विश्व व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला।

तेल संकट से क्या तात्पर्य है?

जैसा कि पीछे हमने देखा कि पश्चिमी कंपनियों ने पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र के पेट्रोलियम भंडार पर कब्ज़ा जमा रखा था तथा वे मनमाने ढंग से उसका दोहन कर रही थीं। इस दौरान पेट्रोलियम उत्पादक देशों में धीरे-धीरे जागृति आ रही थी। 1960 में उनके द्वारा ओपेक (OPEC - Organisation of Petrolium Exporting Countries) का गठन किया जा चुका था। उधर फिलिस्तीन-इज़राइल के मुद्दे पर पश्चिमी देशों का जो रुख रहा था उससे अरब देश नाराज़ हुए, विशेषकर तब जब अमेरिकी हथियारों की सहायता से 1973 के युद्ध में, जिसे 'योम किप्पूर' (Yom Kippur) के युद्ध के नाम से जाना जाता है, इज़राइल ने अरब देशों को पराजित कर दिया। अत: 1973 में अरब-इज़राइल संघर्ष के मुद्दे पर पश्चिमी शक्तियों की भूमिका से नाराज़ होकर अरब देशों ने तेल को हथियार के रूप में प्रयोग करने का निर्णय लिया। अरब देशों के द्वारा पेट्रोलियम की बिक्री पर रोक लगा दी गई। फिर जब मार्च, 1974 में रोक हटी, तो पेट्रोलियम के मूल्य में चार गुना वृद्धि कर दी गई। आगे 1979 में ईरानी क्रांति के कारण जो व्यवधान आया, उसके कारण पेट्रोलियम की कीमत में व्यापक वृद्धि हुई। इन दोनों घटनाओं को तेल संकट के नाम से जाना गया। इस तेल संकट ने विश्व-अर्थव्यवस्था एवं विश्व-राजनीति को एक नयी दिशा दी।

पर्यावरण संकट का मुद्दा क्या था तथा इसके विरुद्ध विभिन्न देशों की क्या प्रतिक्रिया रही?

पर्यावरण संकट का मुद्दा प्रचलित विकास मॉडल की विफलता का परिणाम था। एक दिलचस्प तथ्य यह है कि एक दशक पूर्व इसकी कोई परिकल्पना भी नहीं थी। अब तक पूँजीवादी, नरम समाजवादी, मार्क्सवादी सभी चिंतक यही सोचते रहे थे कि प्रकृति के पास संसाधनों का अक्षय भंडार है जो कभी खत्म नहीं होगा। परंतु 1960 तक पर्यावरण की समस्या उभरने लगी थी। फिर भी पर्यावरण के संबंध में वास्तविक जागृति उत्पन्न करने में 'Silent Spring' जैसी पुस्तक की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। इसकी लेखिका, रेचेल कारसन (Rachel Carson), को बहुत लोकप्रियता मिली। आगे इस समस्या पर विचार करने के लिये 1972 में स्टॉकहोम में पर्यावरण पर पहली अंतर्राष्ट्रीय बैठक हुई। अफसोस यह रहा कि इस संकट के आरंभ हो जाने के बाद भी विश्व समुदाय ने समस्या के समाधान के लिये परस्पर एकता नहीं दिखाई तथा साम्यवादी समूह ने इसका बहिष्कार किया था। भारत ने इसमें हिस्सा लिया तथा भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने विकासशील देशों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए घोषित किया कि 'Polluters Must Pay' अर्थात् पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले विकसित देश ही इसकी कीमत चुकाएँ। वस्तुतः भारत का दृष्टिकोण यह था कि विकसित देशों ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की थी, इसलिये अधिकांश प्रदूषण के लिये वे उत्तरदायी हैं। अतः उन्हें ही इसकी कीमत चुकानी चाहिये। (भारत लगभग 2011 के डरबन सम्मेलन तक अपने इस विचार पर डटा रहा।)

तेल संकट तथा केंसियन अर्थशास्त्र का पतन

तेल संकट ने विश्व अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा दे दी। तेल संकट का एक तात्कालिक प्रभाव था केंसियन अर्थशास्त्र का पतन।

केंसियन अर्थशास्त्र के पतन के क्या कारण थे?

इसका उत्तर जानने के लिये जे.एम. केंस के द्वारा प्रतिपादित माँग प्रबंधन (Demand Management) की नीति को समझने की ज़रूरत है। उसके विचार में अर्थव्यवस्था में 'माँग में गिरावट' एवं 'मुद्रास्फीति' दोनों समस्याएँ कभी भी एक साथ नहीं आ सकती। अतः दोनों स्थिति के लिये उसने सरकार को अलग-अलग उपचार बताया था अर्थात् माँग की गिरावट की स्थिति में सरकारी व्यय को बढ़ाना एवं कर में कटौती करना, जबकि मुद्रास्फीति की स्थिति में सरकारी व्यय में कटौती करना, वहीं कर की दर को बढ़ाना। परंतु तेल संकट ने अर्थव्यवस्था के समक्ष दोनों प्रकार की बीमारियाँ एक साथ ला दीं।

जैसा कि हमने देखा कि केंसियन अर्थशास्त्र ने लगभग दो दशकों तक विश्व अर्थव्यवस्था में संतुलन बनाकर रखा था, परंतु तेल संकट ने उस संतुलन को बिगाड़कर रख दिया तथा उसने एक नई प्रकार की आर्थिक समस्या को जन्म दिया जिसे 'स्टैगफ्लेशन' (Stagflation) के नाम से जाना गया। स्टैगफ्लेशन उस स्थिति को दर्शाता है जब मुद्रास्फीति तथा मंदी की स्थिति एक साथ आ जाती है। इस स्थिति के लिये तेल संकट बहुत हद तक उत्तरदायी था। तेल संकट के परिणामस्वरूप पेट्रोलियम उत्पादों की कीमत में गुणात्मक रूप में वृद्धि हुई तथा इसने 'काले हीरे' का रूप ले लिया। किंतु कुछ ही देश थे जो पेट्रोलियम उत्पादक थे, बाकी अन्य देश उसके उपभोक्ता थे। ये देश खाड़ी देशों से पेट्रोलियम उत्पाद खरीदते थे। अतः संपूर्ण विश्व से अधिकांश मुद्रा खाड़ी देशों की ओर जाने लगी। अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव निम्नलिखित रूप में देखा गया-

- **माँग में गिरावट**- पेट्रोलियम आयातक देशों के संसाधन पेट्रोलियम उत्पादक खाड़ी देशों की ओर जाने लगे, इस कारण पेट्रोलियम आयातक देशों की क्रय शक्ति में कमी आई। चूँकि खाड़ी देशों के पास अतिरिक्त संसाधन आ गये थे। अतः उनसे अपेक्षा की गई कि वे खुलकर खर्च करें, परंतु उन्होंने खर्च करने के बजाय बचत करने में अधिक रुचि ली। इस कारण वैश्विक स्तर पर माँग में गिरावट आ गई।
- दूसरी तरफ, चूँकि पेट्रोलियम उत्पाद महँगा था तथा पेट्रोलियम आयातक देश इसका उपयोग ईंधन एवं कच्चे माल दोनों रूप में करते थे, अतः स्वाभाविक रूप में उनके उत्पाद महँगे हो गए (क्योंकि इनपुट ही महँगा था)। इसका अर्थ है माँग में गिरावट के बावजूद उत्पादों की कीमत में गिरावट संभव नहीं थी क्योंकि उत्पादन ही अपने आप में महँगा था।

ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में विश्व अर्थव्यवस्था में एक नवीन चुनौती उपस्थित हुई। इसे 'स्टैगफ्लेशन' के नाम से जाना गया। यह एक नई प्रकार की चुनौती थी जिससे आर्थिक विशेषज्ञ भी अपरिचित थे। केंसियन अर्थशास्त्र के पास इसका समाधान नहीं था।

वॉशिंगटन सहमति

वॉशिंगटन सहमति से क्या तात्पर्य है तथा इसकी पृष्ठभूमि कैसे निर्मित हुई?

वॉशिंगटन सहमति से तात्पर्य है 1989 में अर्थव्यवस्था में सरकार के नियंत्रण को सीमित कर उसे बाह्य व्यापार एवं निवेश के लिये खोलना। इसे 'विलियमसन' नामक अर्थशास्त्री ने 'वॉशिंगटन सहमति' (Washington Concensus) का नाम दिया है। इस नवीन आर्थिक

नीति को विकसित करने में दो आर्थिक विशेषज्ञों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। ये विशेषज्ञ थे- फ्रेडरिक हायेक एवं मिल्टन फ्रीडमैन। फ्रेडरिक हायेक लगभग केंस का ही समकालीन रहा था तथा फ्रीडमैन उसके थोड़े बाद का। इन दोनों ने आरंभ से ही केंस की नीति का विरोध किया था। इनके विचार में अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप अथवा राजकोषीय नीति समस्या का उचित समाधान नहीं है। इन दोनों ने स्वतंत्र अर्थव्यवस्था तथा सरकार की भूमिका में कटौती की माँग की। फ्रेडरिक हायेक का तो यहाँ तक मानना था कि केंसियन अर्थशास्त्र न केवल अर्थव्यवस्था में असंतुलन ला देगा, बल्कि यह एक निरंकुश सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करेगा। उसने अपनी पुस्तक `Road to the Slavery' में मानव स्वतंत्रता पर खतरे की ओर संकेत किया। वहीं मिल्टन फ्रीडमैन शिकागो समूह के अर्थशास्त्रियों से जुड़ा हुआ था तथा वह मोनेटरिस्ट (Monetarist) विचार का समर्थक था। वह अर्थव्यवस्था में गति के लिये मुद्रा प्रवाह (Money Supply) की बात करता था। उसका तो यहाँ तक मानना था कि जे.एम. केंस ने आर्थिक मंदी के कारणों की खोज करने में ही गलती की थी। 1929-30 की मंदी का मुख्य कारण माँग में कमी नहीं, बल्कि अमेरिकी फेडरल रिज़र्व (Central Bank) के द्वारा अर्थव्यवस्था में पर्याप्त मुद्रा प्रवाह (Money-Supply) नहीं कर पाना था। (जैसाकि हम जानते हैं कि मुद्रा कम होने का अर्थ है माँग में स्वाभाविक गिरावट आ जाना।) आरंभ में इन अर्थशास्त्रियों के विचार को गंभीरता से नहीं लिया गया। किंतु 1970 के तेल संकट ने जब केंसियन अर्थशास्त्र में व्यवधान पैदा किया, तब लोगों का ध्यान इस ओर गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् के तीन दशकों तक जे.एम. केंस की आर्थिक नीति का प्रभाव रहा था। वहीं तेल संकट के पश्चात् के तीन दशकों तक मोनेटरिस्ट अर्थशास्त्रियों की नीति का प्रभाव बना रहा।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर तथा अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन इन दोनों अर्थशास्त्रियों से काफी प्रभावित हुए। वैसे भी, मध्यवर्ग का झुकाव Minimal State (छोटे राज्य) पर रहा था जिसका मॉडल क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने रखा था, परंतु मजबूरी में उन्हें केंसियन अर्थशास्त्र के प्रबंधन को स्वीकार करना पड़ा था। केंसियन अर्थशास्त्र का बल बड़े राज्य (Maximal State) पर रहा था। अत: फिर जब वॉशिंगटन सहमति के तहत राज्य की शक्ति सीमित करने की बात की गई, तो इसने मध्यवर्ग को आकर्षित किया। फिर रीगन-थैचर की पहल पर 1989 में वॉशिंगटन सहमति (Washigton Consensus) लाया गया, जिसने नव-उदारवादी आर्थिक नीति का आधार निर्मित किया।

अरब क्षेत्र तथा पश्चिम एशिया में नवीन चुनौतियाँ

तेल संकट ने पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र के पश्चिमी देशों के साथ संबंधों में क्या परिवर्तन लाए?

जैसा कि हमने देखा संयुक्त राज्य अमेरिका ने खाड़ी क्षेत्र में अपने हस्तक्षेप बढ़ा दिये तथा अपनी समर्थक सरकार एवं सैनिक तानाशाहों की स्थापना पर बल दिया था। ईरान में उसके द्वारा एक समर्थक शाह की सरकार स्थापित की गई थी। परंतु ईरान में एक अनुदारवादी उलेमा अयातुल्ला खुमैनी ने ईरान की शाह की सरकार के विरुद्ध विद्रोह भड़काया, फलस्वरूप ईरान में शाह की सरकार गिर गई। इस घटना के साथ इस्लामी रूढ़िवाद (Islamic fundamentalism) को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। सबसे बढ़कर ईरान में अमेरिकी दूतावास पर हमला कर उसके अधिकारियों एवं कर्मचारियों को बंदी बना लिया गया तथा उन्हें 444 दिन तक नज़रबंद रखा गया। इस कारण ईरान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मतभेद एवं दूरी काफी बढ़ गई।

इस घटना ने एक अन्य घटना को जन्म दिया और वह था- ईरान-इराक युद्ध। ईरान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच संघर्ष को देखते हुए इराक ने उससे फायदा उठाना चाहा तथा इराक ने कुछ विवादास्पद भू-भाग पर कब्ज़ा करने का प्रयास किया। इसने ईरान-इराक युद्ध को जन्म दिया, जो आठ वर्षों तक चलता रहा तथा 1988 ई. में जाकर समाप्त हुआ।

इस काल में चीन एक बड़े बदलाव के लिये जाना जाता है। 1978 में माउत्सेतुंग के उत्तराधिकारी के रूप में चीन में एक नेता देंग चिआओपिंग स्थापित हुआ। वह माउत्सेतुंग के विचारों से मतभेद रखता था। उसने 1979 में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत की। इसने चीन की अर्थव्यवस्था को बदल दिया। परंतु यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि जहाँ सोवियत रूस एवं पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में परिवर्तन के साथ स्वयं साम्यवाद ही ध्वस्त हो

गया, चीन में इतने बड़े परिवर्तन के बाद भी साम्यवादी सरकार की मज़बूत स्थिति कायम रही तथा चीन बाज़ार पर आधारित समाजवाद का उदाहरण बना रहा। इसे 'चीनी सहमति' (Chinese Concensus) के नाम से जाना जाता है। वस्तुत: इसका कारण था चीन के द्वारा आर्थिक उदारीकरण के बाद भी राजनीतिक नियंत्रण को ढीला नहीं किया जाना।

सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन

तेल संकट के कारण सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था किस प्रकार प्रभावित हुई?

सोवियत रूस समाजवादी विश्व का मुखिया था तथा शीतयुद्ध में साम्यवादी गुट का नेतृत्व कर रहा था, परंतु न केवल शीतयुद्ध में उसकी मज़बूत स्थिति, बल्कि एक राष्ट्र के रूप में भी उसका भविष्य बहुत हद तक उसके आर्थिक मॉडल की सफलता पर निर्भर करता था। वैसे तो उसके आर्थिक मॉडल में व्यवधान आना तो पहले ही शुरू हो गया था, किंतु तेल संकट ने इसकी अर्थव्यवस्था के अंतर्विरोधों को और भी उजागर कर दिया।

जैसा कि पीछे हमने देखा कि सोवियत रूस के प्रधान स्टालिन के आर्थिक सुधारों ने सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था को गति दी थी। समाजवादी मॉडल के तहत सोवियत रूस में अभूतपूर्व रूप से मानव संसाधन का विकास, कृषि संसाधनों का दोहन तथा तीव्र औद्योगीकरण हुआ था जिससे सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था में व्यापक प्रगति हुई थी तथा आर्थिक मंदी के काल में इसने संपूर्ण विश्व को अचंभित कर दिया था, परंतु समाजवादी अर्थव्यवस्था की दो निहित कमज़ोरियाँ बनी रही थीं। प्रथम, बाज़ार की उत्प्रेरणा (Incentive) नहीं होने की वज़ह से संवृद्धि (Growth) का कम हो जाना।

दूसरे, नौकरशाही की अत्यधिक भूमिका के कारण भ्रष्टाचार एवं लालफीताशाही (Red Tapism) में वृद्धि हो जाना। इस कारण 1960 के दशक के पश्चात् सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था पिछड़ने लगी थी।

फिर तेल संकट ने इसकी संरचना में कुछ मूलभूत परिवर्तन ला दिये। तेल संकट का आरंभिक लाभ सोवियत रूस को प्राप्त हुआ क्योंकि उसके पास पेट्रोलियम का बड़ा भंडार था। अत: वह बड़े पैमाने पर पेट्रोलियम उत्पादों का निर्यातक बन गया। फिर पेट्रोलियम उत्पादों के निर्यात से जो बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा का अर्जन होने लगा, उसका एक भाग वह सैन्य तैयारी पर खर्च करने लगा। दूसरी तरफ, एक नकारात्मक पक्ष था पेट्रोलियम उत्पादों के निर्यात से अर्जित धन के कारण तकनीकी नवीनीकरण से ध्यान हट जाना। अत: सोवियत रूस ने स्पुतनिक मोमेंट (Spuitnik Moment) को खो दिया, जिसके लिये सोवियत रूस जाना जाता था। (सोवियत रूस ने यूएसए से पहले 'स्पुतनिक' नामक स्पेस शटल को अंतरिक्ष में भेजकर साम्यवादी रूस की सफलता की घोषणा थी।)

शीतयुद्ध के अधिभार *(Burden)* के कारण आर्थिक संकट की स्थिति

शीतयुद्ध का प्रभाव रूसी अर्थव्यवस्था पर 1980 के दशक में दिखने लगा। एक तरफ रूसी अर्थव्यवस्था पिछड़ रही थी, तो दूसरी तरफ उस पर शीतयुद्ध का दबाव भी बढ़ता जा रहा था। 1979 में सोवियत रूस के प्रधान ब्रेजनेव ने अफगानिस्तान में सेना भेजकर बड़ी भूल की। सोवियत रूस अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में उलझ गया। फिर जब 1984 में अमेरिका में प्रेसीडेंट रीगन का आगमन हुआ, तो उसने स्टार वार कार्यक्रम के रूप में हथियारों की नई होड़ आरंभ कर दी। इस कारण सोवियत रूस पर दबाव और भी बढ़ गया। तभी 1985 में सोवियत रूस में नए प्रेसीडेंट के रूप में मिखाइल गोर्बाचेव का आगमन हुआ। उसमें बदलाव एवं परिवर्तन करने का उत्साह था। सर्वप्रथम उसने अमेरिकी प्रेसीडेन्ट से अस्त्र परिसीमन वार्ता आरंभ की। इसके परिणामस्वरूप तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया आरंभ हुई। दूसरे, उसने सोवियत रूस में आर्थिक एवं राजनीतिक सुधार की प्रक्रिया आरंभ कर दी।

आर्थिक संकट, नस्लीय विभाजन, नए राष्ट्रपति गोर्बाचेव की नीति एवं कुछ अन्य संबद्ध कारणों से सोवियत रूस का विघटन

क्या सोवियत रूस का विघटन एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था अथवा रूसी अर्थव्यवस्था में शिथिलता का परिणाम?

सोवियत रूस पहले से ही आर्थिक संकट के दौर से गुज़र रहा था। फिर रूसी राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने जो समाधान प्रस्तुत किया, यह समाधान समस्या से भी अधिक घातक सिद्ध हुआ। यह समाधान था 'पेरेस्त्रोइका' एवं 'ग्लॉसनोस्त' की नीति। पेरेस्त्रोइका का अर्थ है- आर्थिक पुनर्रचना अर्थात् इस नीति के तहत उसने रूसी अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी मॉडल के प्रभाव में बाज़ार से जोड़ने का प्रयास किया। इस कारण अर्थव्यवस्था में उथल-पुथल आ गई। इसके परिणामस्वरूप लोगों में बेचैनी काफी बढ़ गई। वहीं ग्लॉसनोस्त की नीति से तात्पर्य है- वैचारिक खुलेपन की नीति। इस नीति के तहत लोगों को खुले रूप से विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता दे दी गई। परन्तु आर्थिक उथल-पुथल के बीच वैचारिक आज़ादी देना बड़ा घातक सिद्ध हुआ। चीन में इसके विपरीत स्थिति देखने को मिली थी एक तरफ वहाँ

अर्थव्यवस्था का पूँजीवादी रूपांतरण तो हुआ, परंतु लोगों की वैचारिक स्वतंत्रता को दबाए रखा था। इसलिये वहाँ अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण ढंग से समाजवादी अर्थव्यवस्था से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संक्रमण हो गया था।

दूसरी तरफ सोवियत रूस का स्वरूप बहुनस्लीय रहा था। (19वीं सदी में भी ऑटोमन साम्राज्य एवं हैब्सबर्ग साम्राज्य की तरह रूसी साम्राज्य भी बहुनस्लीय दबाव झेल रहा था)। अत: विभिन्न नस्लीय समूहों के लोगों ने पृथक् राष्ट्र की माँग उठाना आरंभ कर दिया था। उन्होंने कई दशक पूर्व अपनी राजनीतिक आज़ादी को गँवा दिया था, अब वे आर्थिक बेचैनी को सहन करने के लिये तैयार नहीं थे, वहीं सोवियत रूस के राजनीतिक नेता भी विभिन्न नस्लीय समूह के लोगों को भड़का रहे थे। उनमें से एक बोरिस येल्तसिन था जो रूसी गणतंत्र का प्रधान चुना गया था तथा वह रूसी गणतंत्र को स्वतंत्र कर अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये विभाजन को प्रोत्साहन दे रहा था। परिणामत: एक के बाद एक सोवियत संघ के गणतंत्र राज्य स्वतंत्रता की घोषणा करने लगे। सर्वप्रथम बाल्टिक गणतंत्र, लैटेविया, लिथुआनिया एवं स्टोनिया ने 1990 में स्वतंत्रता की घोषणा की। फिर यूक्रेन ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। अत: सोवियत संघ के प्रधान गोर्बाचेव ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। अंत में 1991 में सोवियत रूस का विघटन हो गया। इस प्रकार विश्व की दूसरी महाशक्ति, जिसे अमेरिकी हथियार भी नहीं हरा पाए थे, आंतरिक कारणों से विघटित हो गया। (इस घटना के बाद ही किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा में आंतरिक सुरक्षा का मुद्दा प्रमुख मुद्दे के रूप में उभरा)।

सोवियत रूस के विघटन के कारण निम्नलिखित तात्कालिक परिणाम सामने आए-

पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी अर्थव्यवस्था का पतन तथा चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन

पूर्वी यूरोप में समाजवादी व्यवस्था के पतन के क्या कारण थे?

पूर्वी यूरोप का समाजवादी मॉडल आरंभ से अंत तक सोवियत संघ पर निर्भर रहा था। इन देशों में समाजवादी मॉडल की स्थापना जन क्रांति के माध्यम से नहीं, बल्कि सोवियत रूस के सैन्य नियंत्रण के माध्यम से स्थापित हुई थी। अत: इन क्षेत्रों में सरकारों की सही मायने में कभी भी वैधता (Legitimacy) प्राप्त नहीं हुई थी अर्थात् इसे लोगों की स्वीकृति नहीं मिली थी। फिर लोगों को समाजवादी सरकारों से आर्थिक सुरक्षा की जो उम्मीद थी, वह भी पूरी नहीं हो पायी क्योंकि जैसा कि हम देखते हैं सामाजिक-आर्थिक मॉडल में एक प्रकार का संकट उत्पन्न होने लगा था। फिर सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित तृतीय औद्योगिक क्रांति (तृतीय औद्योगिक क्रांति की चर्चा आगे होगी) के दौर में भी समाजवादी देश पिछड़ गए थे। दूसरी तरफ, सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों की जनता, पश्चिमी यूरोप में अपने ही भाई-बिरादर की समृद्धि की झलक पा रही थी। इस कारण उनके मन में बेचैनी उत्पन्न हो गई। अंत में, पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में सोवियत संघ ने अपनी एक सेना रखी हुई थी। इस कारण भी लोग विद्रोह करने से डरते थे, परंतु सोवियत रूस के प्रेसीडेंट गोर्बाचेव ने जब नियंत्रण को ढीला करते हुए अपनी सेना वापस लाने की घोषणा की, तो उन देशों में परिवर्तन को प्रोत्साहन मिला।

परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वप्रथम 1988 में पोलैंड से आरंभ हुई। फिर 1989 में जर्मनी की बर्लिन दीवार गिर गई (इस दीवार का निर्माण शीतयुद्ध के काल में 1961 में हुआ था)। फिर 1990 में ब्रिटेन, फ्राँस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस की बैठक के 45 वर्षों के पश्चात् जर्मनी का पुनर्एकीकरण हुआ। 1990 तक पूर्वी यूरोप के सभी देशों में समाजवादी व्यवस्था का अंत हो गया। ये देश थे- पोलैंड, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बुल्गारिया, यूगोस्लाविया तथा अल्बानिया।

समाजवादी समूह के देशों में चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन क्यों और कैसे हुआ?

हमने पीछे देखा था कि पेरिस शांति सम्मेलन में उपर्युक्त दोनों राष्ट्रों का गठन हुआ था। इसका गठन विल्सन के 14-सूत्री कार्यक्रम के आधार पर किया जाना था जिसके तहत प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीयता के लोगों को आत्मनिर्णय की माँग (Right to Self-Judgement) के अनुकूल पृथक् राष्ट्र के रूप में गठित किया जाना था, किंतु कुछ अन्य उद्देश्यों से प्रेरित होकर पेरिस शांति संस्थापकों ने जिन राष्ट्रों की स्थापना की, वे अपने स्वरूप में बहु भाषा-भाषी एवं बहु नस्लीय ही रह गए थे। इसलिये इनकी राष्ट्रवादी आकांक्षा पूरी नहीं हो सकी थी। 1945 से 1990 के बीच पूरे 45 वर्षों तक यह कठोर समाजवादी सरकार के द्वारा दबाकर रखे गए थे, परंतु जैसे ही समाजवादी नियंत्रण ढीला हुआ, तो इनके पुराने नस्लीय विभाजन ने सिर उठाया, फिर चेकोस्लोवाकिया एवं यूगोस्लाविया का विघटन हो गया। एक ब्रिटिश इतिहासकार, एरिक हॉब्सबॉम, ने यह घोषित किया कि यह पेरिस शांति सम्मेलन का अधपका चिकेन है जो दोबारा पकने आया है।

चेकोस्लोवाकिया का तो कुल मिलाकर शांतिपूर्ण विभाजन हुआ तथा यह चेक एवं स्लाव दो गणतंत्र में बँट गया, परंतु यूगोस्लाविया 6 राष्ट्रों में विभाजित हो गया, यथा- क्रोएशिया, बोस्निया-हर्जेगोविना, सर्बिया, मोंटेनिग्रो तथा मेसोडोनिया। फिर सर्बिया से कोसोवो पृथक् हो गया तथा जब सर्बिया ने उसका उग्र दमन आरंभ किया, तो 1999 में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से नाटो ने इसमें हस्तक्षेप किया तथा सर्बिया के दमन के लिये सैनिक कार्रवाई आरंभ कर दी। इसे ही कोसोवो संकट का नाम दिया जाता है। फिर पश्चिमी देशों की शह पर कोसोवो को एक पृथक् राष्ट्र घोषित कर दिया गया।

तृतीय विश्व के देशों की स्थिति का कमज़ोर हो जाना

शीतयुद्ध की समाप्ति ने तृतीय विश्व के देशों की स्थिति क्यों कमजोर कर दी?

शीतयुद्ध की समाप्ति का प्रभाव तृतीय विश्व के देशों पर भी देखा गया। इन देशों की सौदेबाज़ी की शक्ति (Bargaining Position) कमज़ोर हुई। प्रथम, सोवियत रूस की उपस्थिति के कारण पश्चिम के पूँजीवादी देशों पर दबाव बनाए रखने में उसे सुविधा होती थी। डर से पश्चिमी देश इन देशों को थोड़ी रियायत देते थे, ताकि ये सोवियत रूस की ओर न झुकें। इस प्रकार तृतीय विश्व के देशों को लाभ मिलता। दूसरे, गुटनिरपेक्ष आंदोलन की आंतरिक कमज़ोरियाँ पहले ही प्रकट होने लगी थीं। अब शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता पर ही प्रश्न चिह्न लग गया। 1989 के बेलग्रेड सम्मेलन के पश्चात् यह मुद्दा उपस्थित हुआ कि जब गुट ही नहीं है, तो गुटनिरपेक्षता क्या?

समाजवादी अर्थव्यवस्था के विघटन के पश्चात् विश्व में पूँजीवाद की प्रगति

क्या समाजवादी अर्थव्यवस्था का बिखराव मार्क्सवाद की विफलता का सूचक था?

इस प्रश्न का उत्तर अपने आप में बड़ा ही जटिल है। जैसा कि हमने पीछे देखा कि मार्क्स ने क्रांति की रणनीति की चर्चा की थी, परंतु इस पर अपना कोई मॉडल नहीं दिया था कि सर्वहारा के शासन में सरकार का स्वरूप क्या होगा? इसलिये सोवियत रूस में जो मॉडल स्थापित हुआ, वह लेनिन से लेकर स्टालिन के काल तक एक लंबे प्रयोग का परिणाम था। फिर वही मॉडल पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों पर थोपा गया था। न तो क्रांति की प्रक्रिया, न ही सरकार की पद्धति कार्ल मार्क्स से ली गई थी। तो फिर क्या यह सोवियत रूस के मॉडल में बिखराव मार्क्सवाद के अंत की घोषणा से जोड़ा जाना चाहिये?

समाजवादी मॉडल के बिखराव से पूँजीवाद की प्रगति को किस प्रकार प्रोत्साहन मिला?

वस्तुतः 1990 तक विश्व दो आर्थिक मॉडल में विभाजित था- उदारवादी पूँजीवादी मॉडल तथा समाजवादी मॉडल। समाजवादी मॉडल एक प्रतिद्वंद्वी मॉडल के रूप में स्थापित था। तृतीय विश्व के कुछ देश पूँजीवादी मॉडल के साथ कुछ समाजवादी तत्त्वों को मिश्रित करने का प्रयास कर रहे थे, परंतु समाजवादी मॉडल के विघटन के पश्चात् संपूर्ण विश्व में पूँजीवाद के प्रसार का रास्ता तैयार हो गया।

समाजवादी आर्थिक मॉडल के विघटन से उत्साहित होकर जापानी मूल के एक अमेरिकी चिंतक, फ्राँसिस फुकियामा, ने 'इतिहास के अंत' की घोषणा कर दी। 1992 में उसने 'द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन' (The End of History and the Last Man) के नाम से एक पुस्तक लिखी। उसका कहना था कि इतिहास की प्रक्रिया संघर्ष के माध्यम से आगे बढ़ती है, परंतु इस संघर्ष में अंतिम रूप में उदारवादी-पूँजीवादी मॉडल की जीत हो गई। अत: संघर्ष का अंत हो गया तथा इसी के साथ इतिहास का अंत हो गया। हालाँकि, इसके एक वर्ष पश्चात् 1993 में एक अन्य अमेरिकी विद्वान- सैम्युअल पी. हटिंगटन ने इस विचार को चुनौती देते हुए 'Clash of Civilizations' की अवधारणा रखी। उसका विचार सोवियत रूस, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि राष्ट्रों के विघटन से प्रभावित था। उसने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि इतिहास मुख्यत: सभ्यताओं के बीच का संघर्ष है, परंतु चूँकि शीतयुद्ध के काल में विश्व मुख्य रूप से विचारधाराओं के बीच विभाजित हो गया था, इसलिये यह संघर्ष दबा हुआ था। अत: शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही इस संघर्ष ने सिर उठाया और फिर यूगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया का विघटन हो गया। आरंभ में इस विचारधारा को गंभीरता से नहीं लिया गया था, परंतु 2001 में संयुक्त राज्य अमेरिका पर आतंकी हमले के बाद यह विचार तूल पकड़ने लगा था।

संयुक्त राज्य अमेरिका का खाड़ी देशों पर बढ़ता वर्चस्व तथा फिलिस्तीन-इज़राइल मुद्दे के कारण तनाव में वृद्धि

वस्तुत: अरब क्षेत्र से पश्चिमी देशों के संबंधों का युग प्रथम विश्व युद्ध एवं पेरिस शांति सम्मेलन से ही आरंभ हुआ था, जब अरब राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात किया गया था। फिर इस क्षेत्र में पेट्रोलियम भंडार की खोज ने स्थिति को और भी जटिल बना दिया था। आगे जब 1973-74 में प्रथम तेल संकट घटित हुआ और 1979 में ईरानी क्रांति हुई, तब संयुक्त राज्य अमेरिका और भी चौकन्ना हो गया, क्योंकि अब मामला पूँजीवादी विश्व की तेल सुरक्षा का था। वस्तुत: तीन कारकों ने संयुक्त राज्य अमेरिका एवं अरब क्षेत्र के संबंधों को अत्यधिक जटिल बना दिया। ये कारक थे- सोवियत रूस, इज़राइल एवं पेट्रोलियम उत्पाद। संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रयास रहा था- सोवियत रूस के प्रभाव को सीमित रखना एवं इज़राइल के हितों को सुरक्षित करना।

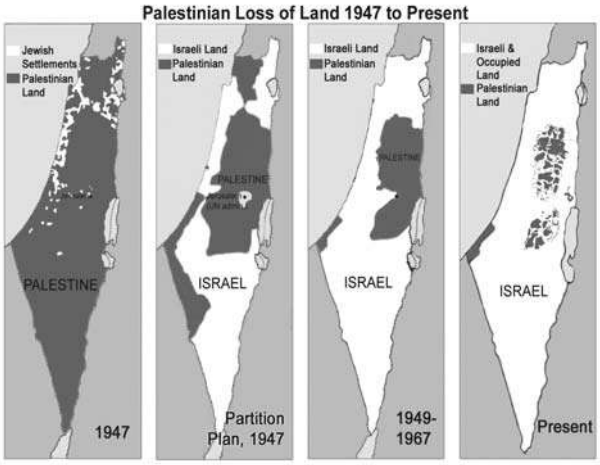

फिर अरब क्षेत्र में एक त्रिकोणात्मक संघर्ष कायम हुआ- शिया ईरान बनाम सुन्नी सऊदी शक्ति बनाम यहूदी राष्ट्र इज़राइल। अब संयुक्त राज्य अमेरिका का निम्नलिखित प्रयास रहा था- प्रथम, खाड़ी क्षेत्र में अधिक-से-अधिक अमेरिका समर्थक सरकारों को स्थापित करवाना। दूसरा, सऊदी अरब जैसे सर्वाधिक पेट्रोलियम उत्पादक देश को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेकर तेल सुरक्षा को बनाए रखना। तीसरा, सऊदी अरब के अंतर्गत सुन्नी गुट को इज़राइल के निकट लाकर शिया ईरान को अलग-थलग करना। वस्तुत: 1979 में ईरानी क्रांति एवं ईरान में अमेरिकी दूतावास पर नियंत्रण ने यूएसए और ईरान के मध्य शत्रुतापूर्ण संबंधों को जन्म दिया था।

आगे खाड़ी क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति इसी दिशा में आगे बढ़ी। वस्तुत: 1973-74 में पेट्रोलियम की नाकेबंदी करने में, जो तेल संकट के नाम से जाना जाता है, सऊदी अरब के शासक 'फैसल' की बड़ी भूमिका रही थी, परंतु इस घटना के कुछ समय पश्चात् फैसल की हत्या हो गई। कुछ लोगों का मानना है कि उसकी हत्या में संयुक्त राज्य अमेरिका का हाथ था। फिर सऊदी अरब में अमेरिका समर्थक शासक स्थापित हुआ।

उधर यूएसए ने मिस्र के शासक अनवर सादात एवं इज़राइल के बीच मध्यस्थता कर 1978 में कैम्प डेविड का समझौता करवाया। यहाँ उसका उद्देश्य था इज़राइल को अरब जगत में स्वीकृति

दिलवाना, परंतु ऐसा नहीं हो सका। एक सुन्नी आतंकवादी संगठन, जो फिलिस्तीनियों से सहानुभूति रखता था तथा जिसे 'हमास' नाम से जाना जाता है, ने अनवर सादात की हत्या कर दी। अनवर सादात के उत्तराधिकारी के रूप में होस्नी मुबारक स्थापित हुआ, वह भी अमेरिका समर्थक बना रहा।

उधर 1990-91 में खाड़ी क्षेत्र में एक बड़ा संकट उपस्थित हुआ। इसे 'प्रथम खाड़ी संकट' के नाम से जाना जाता है। इस संकट का कारण था- इराक के सैनिक तानाशाह सद्दाम हुसैन द्वारा कुवैत पर हमला कर उसे जीत लेना। इस घटना से संयुक्त राज्य अमेरिका बहुत आहत हुआ क्योंकि वह सऊदी अरब को इस क्षेत्र में सबसे बड़े पेट्रोलियम उत्पादक के रूप में बनाए रखना चाहता था, परंतु कुवैत के तेल भंडार पर कब्ज़ा करने के बाद इराक उसके समान स्तर पर पहुँच जाता। इसलिये यूएसए ने यूएनओ के तत्वाधान में 28 देशों का एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया। इसमें 13 खाड़ी देश भी शामिल थे। सुन्नी शक्तियों को सुन्नी शासक सद्दाम हुसैन के विरुद्ध ही संगठित किया गया एवं इज़राइल को शांत रहने के लिये कहा गया। चूँकि, शीतयुद्ध समाप्त हो गया था, इसलिये इस प्रकार का संयुक्त मोर्चा बन सका, अंत में कुवैत को फरवरी, 1991 तक स्वतंत्र करा लिया गया था।

इस युद्ध के मध्य एक अहम बात थी- इज़राइल एवं अरब देशों के बीच तनाव कम होना। इसके परिणामस्वरूप फिलिस्तीनियों का मुद्दा कमज़ोर पड़ा एवं अंत में फिलिस्तीन और इज़राइल के बीच 1993 में ओस्लो समझौता संपन्न हुआ।

शीतयुद्ध के काल में सैन्य बढ़त बनाए रखने के लिये किये जाने वाले अनुसंधानों से तकनीकी विकास संभव हुआ

जिसे आज हम 'सूचना प्रौद्योगिकी' के नाम से जानते हैं, उसका विकास एक लंबे काल के अनुसंधान एवं विकास (Research and Development) का परिणाम था और यह अनुसंधान एवं विकास शीतयुद्ध काल में सैनिक क्षेत्र में बढ़त हासिल करने के उद्देश्य से ही हो रहा था। इसी क्रम में कुछ ऐसी तकनीकी का विकास संभव हुआ, जो आगे सूचना प्रौद्योगिकी का आधार बनी। ये तकनीकी थीं- 1980 के दशक में सैटेलाइट टीवी एवं डायरेक्ट डायलिंग सिस्टम का विकास। सबसे बढ़कर, एक ब्रिटिश वैज्ञानिक टिम बर्नर्स ली ने world-wide-web का विकास किया। यह 1995 में पूरी तरह विकसित होकर सामने आया और इंटरनेट क्रांति का आधार बना।

सूचना प्रौद्योगिकी के विकास को 'तृतीय औद्योगिक क्रांति' (Third Industrial Revolution) का नाम दिया जाता है। अगर प्रथम औद्योगिक क्रांति ने ऊर्जा के रूप में कोयले तथा द्वितीय औद्योगिक क्रांति ने पेट्रोलियम उत्पाद पर बल दिया था, तो वहीं तृतीय औद्योगिक क्रांति ने नवीकरणीय ऊर्जा (Renewable Energy) पर बल देने का प्रयास किया। भारत जैसे कुछ देश, जो प्रथम औद्योगिक क्रांति एवं द्वितीय औद्योगिक क्रांति में पीछे छूट गए थे, वे तृतीय औद्योगिक क्रांति के मध्य आगे बढ़कर आए। नेहरूवादी आर्थिक मॉडल का एक स्वाभाविक परिणाम था- बड़ी संख्या में उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना। हालाँकि, प्राथमिक शिक्षण संस्थानों को प्रोत्साहन नहीं दिये जाने का खामियाजा भारत को भुगतना पड़ा था क्योंकि नेहरूवादी आर्थिक मॉडल के तहत किए जाने वाले औद्योगीकरण की प्रक्रिया लगभग विफल हो गई थी, परंतु उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना का दूरगामी परिणाम था- बड़ी संख्या में इंजीनियर डिग्रीधारकों का आना। उसी प्रकार, लॉर्ड मैकाले की शिक्षा पद्धति के कई नकारात्मक परिणाम सामने आए, परंतु उसका एक सकारात्मक परिणाम था- भारत में बड़ी संख्या में अंग्रेज़ी ग्रेजुएट की उपस्थिति। इन दोनों कारकों ने भारत को कंप्यूटर सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ा दिया।

पीछे भी हमने देखा है कि औद्योगिक क्रांति ने राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलन का भी मार्ग तैयार किया था। तृतीय औद्योगिक क्रांति भी इसका अपवाद नहीं है। तृतीय औद्योगिक क्रांति, जो सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित है, उसने पूर्वी यूरोप के देशों में एक राजनीतिक सुनामी ला दी थी। पीछे 1946 में 'फुल्टन' नामक स्थान पर चर्चिल ने अपने भाषण में यह स्पष्ट किया था कि सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप के देशों पर एक लौह आवरण (Iron Curtain) डाल रखा है, परंतु सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) ने उस लौह आवरण को फाड़ दिया। इस कारण से पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में परिवर्तन को नहीं रोका जा सकता था। इसी प्रकार तृतीय औद्योगिक क्रांति के पश्चात् एक ग्लोबल सिविल सोसायटी अस्तित्व में आई।

तेल संकट एवं पर्यावरण संकट के कारण तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था के विकास में अवरोध

तृतीय विश्व के देशों के विकास के मार्ग में दो बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुईं, ये थीं- तेल संकट (Oil Crisis) एवं पर्यावरण संकट (Environmental Crisis)। पीछे हमने देखा था कि जब पूँजीवादी देशों ने अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की थी, तो उन्हें अपने औपनिवेशिक संसाधनों का लाभ मिला था। दूसरी तरफ सोवियत रूस एवं पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों ने अपने कृषि संसाधन एवं मानव संसाधनों का अभूतपूर्व दोहन कर औद्योगीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया था। अब स्वतंत्रता के पश्चात् जब तृतीय विश्व के देशों ने यह प्रक्रिया आरंभ की, तो उनके समक्ष कई चुनौतियाँ उपस्थित हुईं। प्रथम, औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की विरासत के कारण निम्न उत्पादन, निम्न तकनीकी, निम्न मानव संसाधन की गुणवत्ता। फिर भी विभिन्न एशियाई-अफ्रीकी देशों ने अपने ढंग से औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ की (यद्यपि अफ्रीकी देश इसमें अपेक्षाकृत पिछड़ रहे थे)। अधिकांश देशों ने पर्याप्त सरकारी हस्तक्षेप के अंतर्गत पूँजीवादी मॉडल को बनाए रखा। वहीं भारत जैसे कुछ देशों ने पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था के कुछ गुणों को अपनाते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया। परंतु तृतीय विश्व के अधिकांश देश पेट्रोलियम उत्पादों के आयातक थे, इसलिये उनके समक्ष व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन (Balance of Payment) की चुनौती उपस्थित हुई और उनकी अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो गई, अपनी पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के मध्य भारत भी भुगतान संतुलन की समस्या को झेलने लगा था।

उसी प्रकार, पर्यावरण संकट उपस्थित होने के पश्चात् पर्यावरण की यह चेतावनी आनी आरंभ हो गई कि अब विश्व अधिक कार्बन उत्सर्जन सहन नहीं कर सकता। तृतीय विश्व के देश यह चाहते थे कि पर्यावरण की रक्षा का दायित्व विकसित देश अपने ऊपर लें एवं इन देशों को औद्योगीकरण की दिशा में आगे बढ़ने दें, परंतु विकसित देशों का झुकाव (Stand) संदिग्ध था। (आयात बिल बढ़ जाने के कारण तृतीय विश्व के देशों का व्यापार घाटा बढ़ा तथा इस बढ़े हुए व्यापार घाटे ने भुगतान संतुलन की समस्या को उत्पन्न कर दिया)

शीतयुद्धोत्तर विश्व व्यवस्था (1991-2008-09)

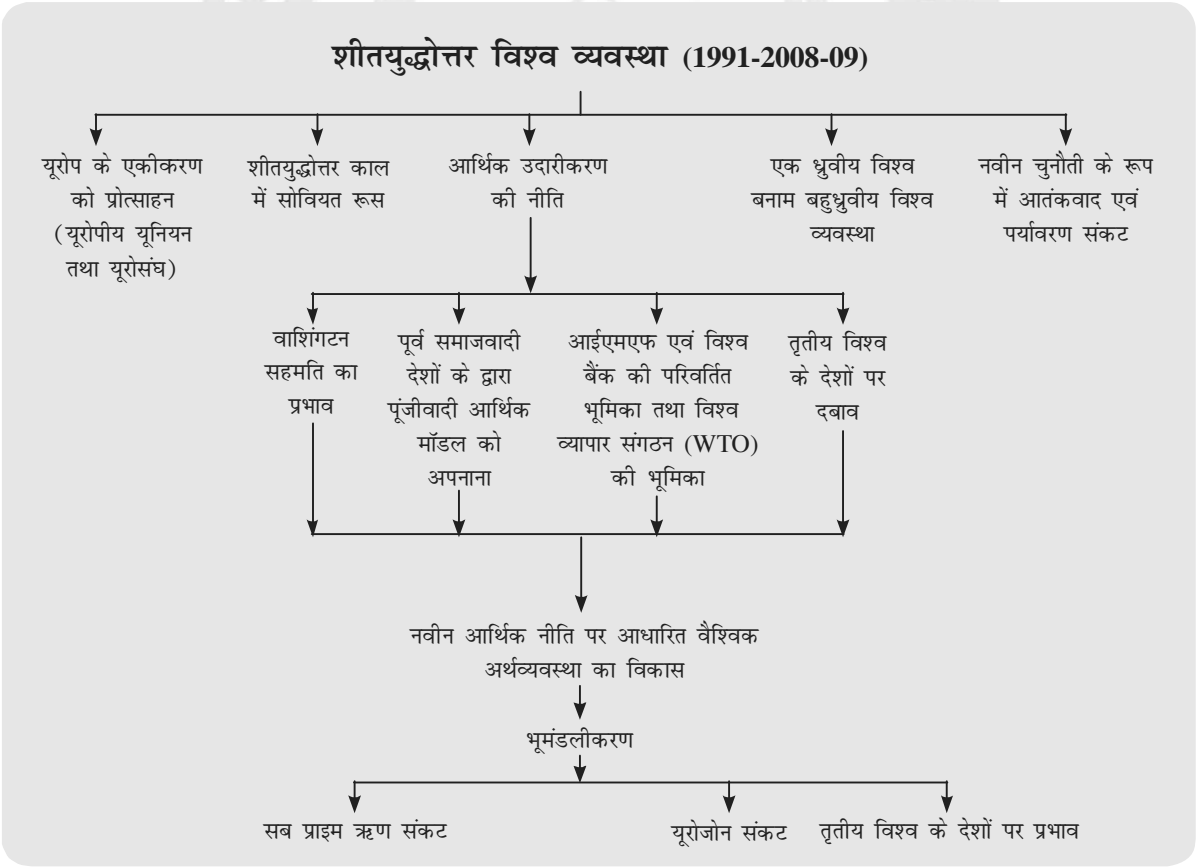

यूरोप के एकीकरण को प्रोत्साहन

वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध के काल से ही एक संयुक्त यूरोप के स्वप्न को साकार करने का प्रयास किया जा रहा था, परंतु इस दिशा में बहुत प्रगति नहीं हो पाई थी। इसलिये 1980 तथा 1990 के दशक में इस मुद्दे पर गंभीरता से विचार होने लगा था। आर्थिक एकीकरण की दिशा में और भी प्रगति करने की योजना बनाई गई एवं राजनीतिक एकीकरण की दिशा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए। 1992 में मैस्ट्रिट सम्मेलन को इसी संदर्भ में समझने की ज़रूरत है।

यूरोजोन एवं यूरोपीय संघ के गठन के क्या कारण थे?

इसके लिये एक से अधिक कारण उत्तरदायी रहे थे। प्रथम, फ्राँस जैसे कुछ देशों का यह मानना था कि यूरोप के एकीकरण की दिशा में अधिक प्रगति करने की ज़रूरत है। दूसरे, समाजवादी व्यवस्था के पतन के पश्चात् संयुक्त यूरोप के निर्माण में नवीन संभावनाएँ उपस्थित हुईं। तीसरे, जर्मनी के एकीकरण ने फ्राँस को भयभीत कर दिया था। फ्राँस एकीकृत जर्मनी के नये चांसलर हेलमुट कोल में हिटलर की छवि देख रहा था। वह संयुक्त जर्मनी को संयुक्त यूरोप एवं जर्मन मुद्रा मार्क को यूरोप में घुलाने का प्रयास कर रहा था।

मैस्ट्रिट सम्मेलन के पश्चात् यूरोप के एकीकरण का ढाँचा किस प्रकार विकसित हुआ?

फिर यूरोप के एकीकरण की दिशा में मैस्ट्रिट (1992) में आयोजित सम्मेलन को एक बड़ा कदम माना जाता है। इस सम्मेलन में कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए थे; यथा- एक संयुक्त बाज़ार का गठन, एक समान मुद्रा (यूरो), एक समान नागरिकता तथा एक समान रक्षा एवं विदेश नीति का संचालन। इसी सम्मेलन के आधार पर 1993 में यूरोपीय यूनियन का गठन हुआ। यूरोपीय यूनियन एक संयुक्त बाज़ार अर्थात् चुंगी मुक्त बाज़ार का प्रतिनिधित्व करता था। फिर 21वीं सदी के आरंभ तक एक संयुक्त मुद्रा के रूप में यूरो स्थापित हो गया। आगे 2005 में कुछ और प्रगति देखी गई तथा यूरोपीय संघ अस्तित्व में आया। इस काल तक यूरोपीय यूनियन का पूरब की तरफ भी विस्तार होता रहा तथा पूर्व सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप के पूर्व समाजवादी देशों को इसकी सदस्यता मिली।

अतः वर्तमान में यूरोपीय संघ के सदस्यों की संख्या 28 हो गई। इनमें से 19 देशों ने यूरो को स्वीकार किया। अतः वे यूरोजोन के सदस्य बन गए। हालाँकि एक पृथक् रक्षा एवं विदेश नीति की रूपरेखा तैयार की गई, परंतु चूँकि यूरोपीय यूनियन के देश रक्षा एवं विदेश नीति के दायित्व को अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे, इसलिये आगे भी रक्षा के मामले में उनकी निर्भरता नाटो पर बनी रही। किंतु आर्थिक क्षेत्र में यह सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में उभरकर आया। इसे एक संयुक्त यूरोप के निर्माण की दिशा में एक बड़ा कदम माना गया तथा यूरोपीय यूनियन की सफलता ने विश्व के अन्य क्षेत्रीय संगठनों को भी दिशा देनी आरंभ की।

शीत युद्धोत्तर काल में सोवियत रूस

सोवियत रूस के विघटन के साथ मिखाईल गोर्बाचेव का काल समाप्त हो गया। अब सोवियत रूस का स्थान 15 गणतंत्रों ने ले लिया। रूसी गणतंत्र अभी भी सबसे बड़ा था और लगभग दो-तिहाई भू-भाग का प्रतिनिधित्व करता था। रूसी गणतंत्र के प्रेसिडेन्ट के रूप में बोरिस येल्तसिन ने सोवियत रूस के 15 बिखरे टुकड़ों में से 11 को मिलाकर कॉमनवेल्थ ऑफ इन्डिपेन्डेंट स्टेट्स (CIS) का गठन किया तथा इसके माध्यम से विभिन्न स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आए। फिर रूसी गणतंत्र की पहल पर 2014-2015 के पश्चात् यूरोपीयन इकोनोमिक यूनियन (EEU) का गठन हुआ तथा इसमें बेलारूस, कजाखस्तान, रूस, अर्मेनिया तथा किर्गिस्तान शामिल हुए हैं।

आरंभ में रूसी गणतंत्र के प्रमुख ने पश्चिमी देशों के साथ सहयोग की नीति अपनाई थी। उसे विश्वास था कि पश्चिमी देशों से उसे आर्थिक सहायता मिलेगी जिसके परिणामस्वरूप रूसी गणतंत्र का पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के रूप में संक्रमण आसान होगा, परंतु पश्चिमी देशों से उसे निराशा ही मिली।

एक मुद्दा रूसी गणतंत्र एवं यूक्रेन के संबंधों का भी था। सोवियत रूस के परमाणु हथियारों का एक बड़ा जखीरा यूक्रेन में भी था। अतः सोवियत रूस के विघटन के पश्चात् यूक्रेन से यह अपेक्षा की गई थी कि वह समस्त परमाणु हथियार रूसी गणतंत्र को समर्पित कर दे। 1994 में त्रिपक्षीय वार्ता (रूस, यूक्रेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका) के परिणामस्वरूप यह हथियार रूसी गणतंत्र को समर्पित कर दिया गया और बदले में यूक्रेन को सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था।

दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्वी यूरोप के पूर्व-समाजवादी देशों में तथा सोवियत रूस के पूर्व गणतंत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा था। इन क्षेत्रों में पहले नाटो, फिर यूरोपीयन यूनियन का विस्तार हुआ।

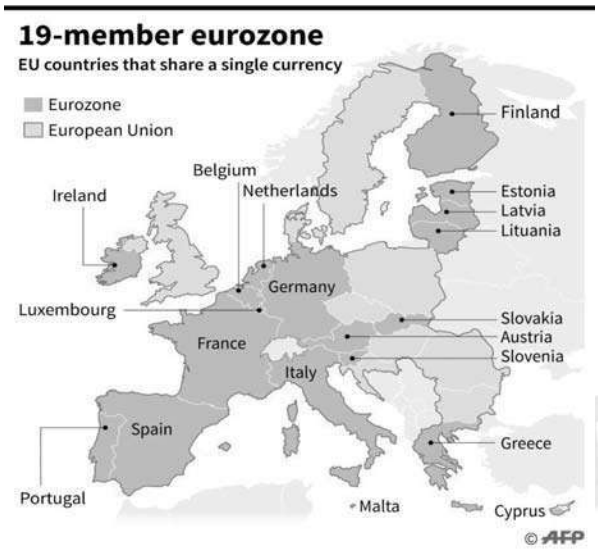

ये मुद्दे आगे रूसी गणतंत्र एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच विवाद का कारण बना। 1999 में रूसी गणतंत्र के प्रधान के रूप में व्लादिमीर पुतिन का उद्भव हुआ। उसने रूस की विदेश-नीति को एक नई दिशा दी। रूस ने पश्चिम की पिछलग्गू नीति को छोड़कर चुनौती का रास्ता अपनाया। पूर्व रूसी क्षेत्र में विस्तार को ध्यान में रखकर उसने 'एनर्जी डिप्लोमेसी' का सहारा लिया। (एनर्जी डिप्लोमेसी से आशय यह है कि इसके माध्यम से रूस ने पूर्व सोवियत संघ के उन क्षेत्रों पर पुनः प्रभाव स्थापित करने का प्रयास किया, जो पश्चिमी खेमे से निकटता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। जैसे इन देशों को पेट्रोलियम उत्पादों की आपूर्ति रोक देना, ताकि इन देशों को रूसी गणराज्य के साथ सहयोग की नीति अपनाने के लिये मजबूर किया जा सके।) वहीं शंघाई सहयोग संगठन (SCO) के माध्यम से वह चीन के निकट आया। 2007 में व्लादिमीर पुतिन के द्वारा दिए गए वक्तव्य ने एकेडेमिक महकमे में सरगर्मी ला दी तथा इस बात की संभावना व्यक्त की जाने लगी कि शीतयुद्ध पुनर्जीवित हो गया है। उधर चीन का सोवियत रूस के निकट आना शीत युद्धोत्तर काल की राजनीति का महत्वपूर्ण लक्षण बन गया क्योंकि 1971-89 के काल में चीन की सोवियत रूस से दूरी बढ़ गई थी तथा वह संयुक्त राज्य अमेरिका के निकट रहा था।

आर्थिक उदारीकरण की नीति

आर्थिक उदारीकरण से क्या तात्पर्य है तथा किन कारकों ने आर्थिक उदारीकरण की नीति को प्रोत्साहन दिया?

उदारीकरण से तात्पर्य है कि अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण को सीमित अथवा समाप्त कर अर्थव्यवस्था को खोलना। जैसा कि हमने पीछे भी देखा है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुक्त अर्थव्यवस्था की माँग उठाई थी, परंतु विश्व आर्थिक मंदी (1929-30) के पश्चात् केंसियन अर्थशास्त्र ने जिस पूँजीवादी मॉडल की बात की थी, उसके संचालन में सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्धारित की गई थी। उदारीकरण की नीति ने उस सरकारी हस्तक्षेप को समाप्त कर अर्थव्यवस्था को खोलने पर बल दिया।

विभिन्न कारकों ने इस नीति को प्रोत्साहन दिया था। ये इस प्रकार हैं- प्रथम, फ्रेडरिक हायेक एवं मिल्टन फ्रीडमैन के विचारों से प्रेरित वॉशिंगटन सहमति की नीति (1989) ने बाज़ार को खोलने की माँग की। दूसरे, समाजवादी आर्थिक मॉडल के विघटन के पश्चात् दो भिन्न आर्थिक मॉडल में विश्व का विभाजन समाप्त हो गया। साथ ही, पूर्व समाजवादी देशों ने भी पूँजीवादी आर्थिक मॉडल को अपना लिया। तीसरे, 1971 के पश्चात् आईएमएफ की मुख्य भूमिका; यथा-डॉलर के साथ विभिन्न मुद्राओं के समायोजन जैसी भूमिका लगभग समाप्त हो गई थी क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी अर्थव्यवस्था पर बढ़ते हुए दबाव को देखते हुए अपने मॉडल को आईएमएफ के नियंत्रण से मुक्त करके स्वतंत्र रूप में एवं बाज़ार दर पर उसके विनिमय की नीति आरंभ कर दी थी। अतः अब आईएमएफ तथा उसके साथ विश्व बैंक को भी एक नई भूमिका दे दी गई। वह यह कि वे तृतीय विश्व के देशों पर यह दबाव डालें कि वे अपनी अर्थव्यवस्था पर से सरकारी नियंत्रण को लगभग समाप्त करते हुए अपने बाज़ार को स्वीकृति दें। सबसे बढ़कर गैट (GATT) नामक संस्था के विस्तार के परिणामस्वरूप एक नवीन संस्था के रूप में विश्व व्यापार संगठन (WTO) का गठन हुआ। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को खुलवाने में इस संस्था ने अहम भूमिका निभाई।

आर्थिक उदारीकरण की नीति के तहत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में किस प्रकार का परिवर्तन देखा गया?

आईएमएफ ने संकटग्रस्त देशों को इस शर्त पर ऋण देना आरंभ किया कि वह अपने यहाँ बेहतर गवर्नेंस (Good Governance) की गारंटी दे, तभी वे इस ऋण की रकम वापस करने की स्थिति में होंगे। इस प्रकार से उसने इन देशों पर दबाव डाला कि वे उन नीतियों को लागू करें जिससे अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप कम हो तथा उनकी अर्थव्यवस्था बाह्य विश्व के लिये खुल जाए। इस नीति के तहत निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देने, सरकारी उपक्रम का निजीकरण करने, उद्योग नीति, व्यापार नीति आदि में सुधार करने, श्रमिक कानून में संशोधन लाकर श्रमिकों को अनुशासित करने, लोक स्वास्थ्य शिक्षा आदि कल्याणकारी कार्यों पर सरकारी खर्च को कम करने की माँग की गई।

उधर गैट के आठवें दौर की वार्ता आरंभ हुई और इस वार्ता के परिणामस्वरूप, जिसे 'उरुग्वे राउण्ड की वार्ता' के नाम से जाना जाता है, 1995 में विश्व व्यापार संगठन का निर्माण हुआ। विश्व व्यापार संगठन में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की संरचना में व्यापक फेर-बदल कर दिया गया। पीछे हमने देखा था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अर्थशास्त्री केंस की पहल पर जिस ब्रेटन वुड्स व्यवस्था को स्थापित किया था, उस व्यवस्था का लक्ष्य सीमित भूमंडलीकरण (Limited Globalization) की नीति को लागू करना था। इसके तहत अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन की इस ज़रूरत को राष्ट्र के आर्थिक हित से जोड़ने का प्रयास किया गया था। एक तरफ विभिन्न राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति के कुछ नियमों का अनुपालन करना था, वहीं दूसरी तरफ उन्हें अपनी अर्थव्यवस्था की सुरक्षा के लिये कुछ उचित कदम उठाने का अधिकार था, यथा-खाद्य सुरक्षा करने, लोक कल्याणकारी कार्यों का संचालन करने, मुद्रा का अवमूल्यन करने का अधिकार आदि। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन के संबंध में केंस की पृथक सोच थी। जे.एम. केंस का मानना था कि अगर संतुलन की नीति नहीं अपनाई जाएगी तो फिर राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संचालन में बाधा उत्पन्न कर देगा। (वर्तमान में यह बात सही सिद्ध हो रही है कि उभरते हुए आर्थिक राष्ट्रवाद के कारण विश्व व्यापार संगठन (WTO) लगभग निष्प्रभावी हो गया है।)। केंस ने कृषि क्षेत्र, सेवा क्षेत्र आदि को व्यापार की परिधि से बाहर रखा था, किंतु विश्व व्यापार संगठन ने कृषि क्षेत्र, सेवा क्षेत्र (Service Sector), बौद्धिक संपदा कानून (Intellectual Property Rights) सभी को व्यापार की परिधि में शामिल कर दिया। यह तृतीय विश्व के देशों पर अतिरिक्त दबाव था। कृषि क्षेत्र के व्यापार में शामिल होने से उनकी खाद्य सुरक्षा की नीति भी दुष्प्रभावित होने लगी। फिर बौद्धिक संपदा एवं पेटेंट अधिकार को व्यापार में शामिल किये जाने के कारण तृतीय विश्व के देशों पर अतिरिक्त दबाव पड़ा। ये देश अनुसंधान (Research) के क्षेत्र में पश्चिमी देशों से काफी पिछड़े हुए थे तथा कई बातों में पश्चिमी तकनीकी (Technology) पर निर्भर थे। अब इन अधिकारों के तहत पश्चिमी देश उनसे अधिक कीमत वसूलने लगे थे।

फिर उरुग्वे राउंड की वार्ता में जो निर्णय लिये गए थे, वे पश्चिमी देशों के पक्ष में थे। अतः तृतीय विश्व की माँगों को देखते हुए 2001 में कतर में दोहा राउंड की वार्ता आरंभ हुई थी। इस वार्ता में तृतीय विश्व में पक्ष में कुछ निर्णय लिया जाना था, परंतु तभी 2008-09 में पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्था संकट में फँस गई और फिर ये देश अपने वायदे से पीछे हट गए।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर तृतीय विश्व के देशों ने इन शर्तों को क्यों स्वीकार किया?

वस्तुतः तेल संकट के कारण इन देशों की अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त हो गई थी। रही सही कसर प्रथम खाड़ी संकट (1991) ने पूरी कर दी। इस कारण पेट्रोलियम उत्पादन और भी महँगा हो गया था। फिर यह देश आईएमएफ का दरवाजा खटखटाने के लिये विवश हो गए। फिर आईएमएफ एवं विश्व बैंक दोनों ने ऋण देने से पहले यह शर्त रख दी थी कि इन्हें अपनी अर्थव्यवस्था खोलनी होगी। स्वयं भारत भी इस संकट का शिकार हुआ था और वह भी 1991 में इस नीति को अपनाने के लिये विवश हुआ। इस नीति को हम लोकप्रिय रूप में एलपीजी की नीति (Liberalization, Privatization, Globalization) की नीति के रूप में जानते हैं।

क्या उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं?

ऐसा हम नहीं कह सकते। वस्तुतः आर्थिक उदारीकरण कारण है, तो भूमंडलीकरण परिणाम। जब विश्व के विभिन्न देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था खोलनी आरंभ की, तो विश्व के विभिन्न देशों में परस्पर जुड़ाव बढ़ गया। फिर नवीन सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व में विभिन्न क्षेत्रों की दूरी कम कर दी। सामाजिक क्षेत्र में सिटीजन की जगह नेटीजन (नेटवर्क से जुड़े हुए लोग) की परिकल्पना आई। संस्कृति एवं विचारों का भी आदान-प्रदान बढ़ा। परंतु यह भी गौर करने की बात है कि इस तथाकथित भूमंडलीकरण ने अपने को वास्तविक रूप में आर्थिक क्षेत्र में ही व्यक्त किया है। वेस्टफेलिया पद्धति पहले की तरह कायम रही तथा राष्ट्रीय-राज्य बने रहे। वास्तव में भूमंडलीकरण के बावजूद भी किसी विश्व सरकार की परिकल्पना नहीं की गई। राष्ट्रीय-राज्य के आधार पर ही वैश्वीकरण (Globalization) का संचालन होता रहा है।

एक ध्रुवीय विश्व बनाम बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था

शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् दो ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का अंत हो गया। सोवियत रूस के विघटन के साथ वार्सा पैक्ट का भी विघटन हो गया। परंतु, संयुक्त राज्य अमेरिका ने तब भी नाटो को विघटित नहीं किया, बल्कि उसका विस्तार करता रहा। नाटो (NATO) के अंतर्गत पूर्व के कुछ समाजवादी देश एवं सोवियत संघ के कुछ पुराने गणतंत्रों के लिये भी जगह बनाई गई। फिर यूएसए वर्चस्व की लड़ाई (War of hegemony) से वैश्विक नेतृत्व की ओर मुड़ गया। इसे एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का नाम दिया गया, किंतु यह स्थिति अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका को शीघ्र ही 2001 में आतंकवादी हमले का सामना करना

पड़ा। चूँकि आतंकवाद का ग्लोबल विस्तार हो चुका था, इसीलिये कोई अकेला राष्ट्र उस पर नियंत्रण बनाकर नहीं रख सकता था। उसी प्रकार, व्लादिमीर पुतिन के अधीन सोवियत रूस का उद्‌भव हो गया। साथ ही, शीघ्र चीन एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में उदित हुआ। इसीलिये शीघ्र ही एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था ने अपनी अहमियत खो दी तथा जिस नई व्यवस्था का उद्‌भव हुआ, उसे एकध्रुवीय बनाम बहुध्रुवीय (Unipolar versus Multipolar) विश्व व्यवस्था का नाम दिया गया।

नवीन चुनौती के रूप में पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद

पर्यावरण से संबंधित सजगता 1960 के दशक से आने लगी थी तथा 1972 में स्टॉकहोम में इस मुद्दे पर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी आयोजित हो चुका था। यद्यपि यह सम्मेलन शीतयुद्ध की राजनीति का शिकार हो गया।

अब पर्यावरण सुरक्षा संबंधी चुनौती का उभरना तय था। वस्तुतः मुख्य दोष औद्योगिक समाज (पूँजीवादी एवं समाजवादी) के विकास मॉडल में है। मुख्य खलनायक अपने आप में जीडीपी (GDP) की पूरी संकल्पना है। वस्तुतः जीडीपी की संकल्पना उत्पादन गणना पद्धति के रूप में द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य एक आपातकालीन व्यवस्था की तरह विकसित हुई थी। रिचर्ड स्टोन एवं जेम्स मीडे (Richard Stone and James Meade) नामक आर्थिक विशेषज्ञों ने जॉन मेनार्ड केंस की सहायता से युद्ध की स्थिति में उत्पादन के मूल्य निर्धारण करने के क्रम में इसका विकास किया था। परंतु, विशेषज्ञों को भी अपनी पद्धति की कमियों का एहसास था। इसलिये रिचर्ड स्टोन ने 1984 में नोबेल मेमोरियल लेक्चर के मध्य इस बात को स्पष्ट किया था कि किसी भी समुदाय के विकास में उत्पादन मूल्य के साथ-साथ सामाजिक तथा पर्यावरण संबंधी कारकों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये। किंतु अफसोस यह रहा कि जीडीपी की संकल्पना में उत्पादन के केवल बाज़ार मूल्य को ध्यान में रखा गया था। इसमें पर्यावरण एवं सामाजिक विकास संबंधी मुद्दे को शामिल नहीं किया गया। अतः पर्यावरण का क्षतिग्रस्त होना तय था।

1980 के दशक में पर्यावरण के संबंध में थोड़ी और सजगता बढ़ी। फिर संयुक्त राष्ट्र संघ ने धारणीय विकास के मुद्दे को उठाया। फिर 1992 में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में पर्यावरण एवं विकास पर रियो-डी-जेनेरियो नामक स्थान पर एक सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसे `Earth Summit' का नाम दिया गया। इसमें 172 देशों ने हिस्सा लिया। इसी क्रम में UNFCC (United Nations Framework Convention on Climate Change) अस्तित्व में आया। आगे इस दिशा में प्रगति 1997 में क्योटो सम्मेलन (जापान) में हुई। इस सम्मेलन में भारत के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत `Polluters must Pay' के अनुकूल यूरोपीय यूनियन, यूएसए तथा जापान ने कार्बन उत्सर्जन में कटौती करना स्वीकार किया, वहीं चीन एवं भारत को इससे मुक्त रखा गया था। यद्यपि डेमोक्रेटिक पार्टी के अमेरिकी प्रेसिडेंट बिल क्लिंटन ने इसे स्वीकार किया था, परंतु रिपब्लिकन पार्टी के उसके उत्तराधिकारी प्रेसिडेंट जॉर्ज डब्ल्यू बुश ने इसे एक दोषपूर्ण समझौता करार देकर संयुक्त राज्य अमेरिका को इससे बाहर कर दिया। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की दायित्वहीनता के कारण क्योटो प्रोटोकॉल ध्वस्त हो गया।

आतंकवाद एवं विश्व

शीतयुद्ध की समाप्ति के काल में विश्व में शांति एवं स्थायित्व की उम्मीद जग रही थी, परंतु इसके साथ विश्व के समक्ष एक और बड़ी चुनौती उपस्थित हो गई और वह है आतंकवाद। अगर हम आतंकवाद के स्वरूप पर विचार करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि यह घटना अचानक प्रकट नहीं हुई थी, बल्कि इसके विकास का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। वैसे तो शोषण एवं दमन के विरुद्ध अथवा प्रतिरोध की पद्धति के रूप में इसका उपयोग शताब्दी पूर्व से ही होता रहा है। आयरिस विद्रोही, विभिन्न देशों के क्रांतिकारी, रूसी निहिलिस्ट (शून्यवादी), कम्युनिस्ट आदि के द्वारा इस हथकंडे का उपयोग किया गया था, परंतु धार्मिक कट्टर पंथ से संबंधित आतंकवाद की पद्धति का संबंध कहीं न कहीं पश्चिमी साम्राज्यवाद के विस्तार एवं शीतयुद्ध के काल से रहा है।

जैसा कि हमने देखा कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अरब राष्ट्रवाद के साथ विश्वासघात तथा उसके पश्चात् पश्चिमी शक्तियों के द्वारा यहूदी राष्ट्र को प्रोत्साहन ने अरब क्षेत्र को अशांत बना दिया। फिर पश्चिमी शक्तियों द्वारा प्रेरित पेट्रोलियम साम्राज्यवाद ने अरब देशों के असंतोष को और भी अधिक हवा दी। इसके पश्चात् इसमें और भी कारक जुड़ते गए। पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरोध किए जाने वाले प्रतिरोध के क्रम में इस्लामी जगत अथवा विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले मुस्लिम समुदाय ने आधुनिक विचारधारा के अभाव में धर्म को प्रतिरोध के हथियार के रूप में प्रयुक्त किया था। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय मुस्लिम समुदाय का आरंभिक प्रतिरोध बहावी तथा फराजी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ था। फिर आगे संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा शीतयुद्ध के काल में अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिये तथा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये अरब क्षेत्र में रूढ़िवादी तत्त्वों को बढ़ावा दिया गया।

उग्र कट्टरपंथी विचारधारा

वस्तुतः अगर हम इस्लामी रूढ़िवादी विचारों पर दृष्टिपात करते हैं, तो उसकी जड़ दो प्रमुख कट्टरपंथी विचारधाराओं में दिखायी पड़ती है। प्रथम, वहाबी विचारधारा तथा द्वितीय, सलाफी विचारधारा। वहाबी विचाराधारा, सऊदी अरब के कट्टरपंथी धार्मिक स्कूल के द्वारा विकसित की गई थी। यह पैगम्बर के काल को इस्लाम का आदर्श प्रतिरूप मानती है तथा आधुनिकता के सभी तकनीकी पहलुओं को अस्वीकार करती है। दूसरी तरफ, सलाफी विचारधारा भी इस्लाम को शुद्ध रूप में स्थापित करना चाहती है, किंतु वह इस्लाम के साथ आधुनिकता के सभी वैज्ञानिक एवं तकनीकी पहलुओं में सामंजस्य स्थापित कर चलना चाहती है बशर्ते, वे तकनीकी पश्चिमी मूल्यों का नहीं, अपितु इस्लामी मूल्यों का संवर्द्धन कर रहे हों। सलाफी विचारधारा मिस्र में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई। आरंभ में सऊदी अरब के युवाओं पर वहाबी विचारों का गहरा प्रभाव रहा था। फिर वे सलाफी विचारों के प्रभाव में आने लगे। अर्थात् उन्होंने इस्लामी रूढ़िवाद को आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी से जोड़ने का प्रयास किया। इस तरह जब सऊदी अरब के इस्लामी संगठन के द्वारा प्रतिपादित विचारधारा आधुनिक तकनीकी के साथ जुड़ गई, तो फिर आक्रामक आतंकी संगठनों का विकास हुआ। उदाहरण के लिये, इजरायल के आक्रामक रूख की प्रतिक्रिया में गाजा पट्टी में 1987 में हमास संगठन का विकास हुआ। इस पर मिस्र के मुस्लिम ब्रदरहुड का प्रभाव था। इससे पूर्व ही 1982 में दक्षिणी लेबनान पर इजरायली आक्रमण के पश्चात् हेजबुल्लाह संगठन का विकास हो चुका था। यह एक शिया आतंकी संगठन है तथा इसे ईरान एवं सीरिया का समर्थन प्राप्त रहा है।

सबसे बढ़कर 1979 में अफगानिस्तान पर सोवियत रूस के आक्रमण के पश्चात् आतंकी संगठनों के विकास के लिये उर्वर भूमि तैयार हो गई। यूएसए, सोवियत रूस के विरुद्ध अपनी स्थिति को मज़बूत करने के लिये जेहादी संगठनों को प्रोत्साहन देने लगा। दूसरी तरफ, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से जेहादी अफगानिस्तान में इकट्ठा होने लगे। खाड़ी देश की सरकारों ने जेहादियों को आर्थिक सहायता दी तथा उन्होंने हजारों की संख्या में सुन्नी जेहादियों को अफगानिस्तान के मोर्चे पर भेजा। वर्तमान में आतंकवाद के विरुद्ध अपने को सबसे बड़ा जेहादी करार देने वाले यूएसए को यह याद दिलाने की ज़रूरत है कि किस प्रकार 1980 के दशक में खैबर दर्रे की एक पहाड़ी पर खड़े होकर अमेरिकी सुरक्षा सलाहकार बर्जेजिंस्की (Brzezinski) ने एक हाथ में बंदूक तथा दूसरे हाथ में कुरान रखकर जेहादियों को सोवियत रूस के विरुद्ध प्रोत्साहित करते हुए यह घोषणा की थी कि "ये (बंदूक और कुरान) आपको आज़ाद कराएंगे।"

ओसामा-बिन लादेन एवं अलकायदा

अफगानिस्तान में लड़ने के लिए आए हुए विभिन्न जेहादियों में एक फिलिस्तीनी जेहादी था अब्दुल्ला आजम (Abdullah Azzam) तथा एक दूसरा जेहादी जो सऊदी अरब से आया था, वह था ओसामा-बिन लादेन। ओसामा ने अब्दुल्ला के सहयोगी के रूप में काम किया था अतः उसके व्यक्तित्व पर अब्दुल्ला के विचारों का गहरा प्रभाव रहा था। जब 1990 तक अफगानिस्तान में सोवियत रूस की पराजय हो गई, तो फिर ओसामा सऊदी अरब वापस आ गया। इस प्रकार यूएसए के विरूद्ध उलटा दांव पड़ चुका था तथा अब जेहादी तत्व यूएसए के विरूद्ध ही मुड़ चुके थे। प्रथम ईराक युद्ध में पश्चिमी शक्तियों के विरूद्ध ओसामा-बिन-लादेन की क्या भूमिका रही थी? यह स्पष्ट नहीं है? किंतु 1991 में इराक की पराजय के पश्चात् वह 1991 में सूडान की ओर पलायन कर गया तथा वहीं से उसने यूएसए के विरूद्ध संघर्ष की घोषणा कर दी। आगे पश्चिमी शक्तियों के दबाव में सूडान की सरकार ने 1994 में उसे सूडान से बाहर कर दिया। तत्पश्चात् ओसामा ने 1996 तक अफगानिस्तान को अपना आधार बनाया तथा मुल्ला उमर के अधीन तालिबानी सरकार ने उसे संरक्षण दिया। अफगानिस्तान को आधार बनाते हुए ही ओसामा ने 9/11 के आतंकी हमले को अंजाम दिया। जैसा कि देखा गया ओसामा के व्यक्तित्व पर फिलिस्तीनी जेहादी अब्दुल्लाह आजम तथा सऊदी विपक्षी संगठनों के विचारों का प्रभाव था। किंतु सऊदी पृष्ठभूमि का होने के बावजूद भी ओसामा सऊदी इस्लामी चिंतकों के साँचे से कहीं आगे निकल गया तथा आजम के विचारों से प्रेरित होकर ग्लोबल जेहाद के संदर्भ में सोचने लगा। अलकायदा इसी ग्लोबल जेहाद का जरिया बना। 9/11 की घटना के पश्चात् यूएसए ने आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर, उसी शैतान को मारने की, जिसे कभी उसने स्वयं पैदा किया था, शपथ ली। किंतु इसी आतंकवाद के विरूद्ध युद्ध के संदर्भ में उसने कुछ ऐसी भूलें कीं जिनके कारण आतंकवाद का और भी प्रसार होता रहा। भले ही थोड़े काल के लिए अलकायदा का आधार अफगानिस्तान में कमजोर पड़ा किंतु अन्य क्षेत्रों में इसका फैलाव होता रहा। यूएसए ने 9/11 की घटना के पश्चात् 2001 में अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, किंतु वहाँ आतंकवाद के विरूद्ध केवल हार्ड पावर तरीके को अपनाया। सॉफ्ट पावर तरीके को अपनाकर आतंकवाद के विरूद्ध, दोनों मोर्चों पर संघर्ष करने का प्रयास नहीं किया। अतः यूएसए, अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में फँस गया। अफगानिस्तान का संघर्ष आज तक यूएसए के द्वारा लड़ा गया सबसे लम्बा संघर्ष था।

फिर, यह भी स्मरण रखने की ज़रूरत है कि शीतयुद्ध के काल में वैश्विक स्तर पर अवैध हथियारों का एक जख़ीरा कायम हो गया तथा हथियारों तक आतंकवादी संगठनों की आसानी से पहुँच हो गई। फिर वैश्विक स्तर पर अनेक आतंकी संगठन बनने लगे; यथा- अलकायदा, आई.एस.आई.एस., लश्कर-ए-तैयबा, बोको हरम, जबात-उल-नुसरा आदि। इस तरह शीतयुद्ध के पश्चात् आतंकवाद एक भयानक चुनौती के रूप में उपस्थित हुआ है। इससे उत्पन्न जो संघर्ष है, वह एक तरफ राज्य तथा दूसरी तरफ गैर-राज्य संगठन (Non-State Actor) के बीच है। अत: यह पूर्व संगठनों से भिन्न है। यह पहले के युद्धों से अधिक भयानक एवं विनाशकारी है। फिर सूचना प्रौद्योगिकी ने इस संघर्ष को और भी बहुआयामिक (Multi-dimensional) बना दिया है। इस युद्ध को अभी तक कोई नाम नहीं दिया गया है। एक अमेरिकी विद्वान सैमुअल पी. हटिंगटन ने इसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' (Clash of Civilizations) का नाम दिया है, किंतु यह मत स्वीकृत नहीं है क्योंकि इस संघर्ष का मौलिक कारक सांस्कृतिक नहीं, अपितु आर्थिक एवं राजनीतिक है। इसके लिये बहुत हद तक पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति उत्तरदायी रही है।

पूँजीवादी व्यवस्था का संकट: सब-प्राइम ऋण संकट तथा यूरोजोन संकट

हमने पीछे भी देखा है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एक प्रकार के अंतर्विरोध से ग्रस्त होती है। पूँजीवादी अत्यधिक मुनाफा कमाने के उत्साह में वह अपने बाज़ार को ही तोड़ देता है तथा अपने ग्राहकों से क्रय शक्ति (Purchasing Power) छीन लेता है।

फिर अपने मुनाफे को बनाए रखने के लिये दूसरे के बाज़ार में घुसपैठ करता है। इसके अतिरिक्त वह एक अन्य तरीका भी अपनाता है- वह है बैंकों की सहायता से ग्राहकों में क्रय शक्ति उत्पन्न करना। बैंक जब लोगों को सस्ते ब्याज पर ऋण देते हैं, तो लोग उस ऋण के माध्यम से किसी खास वस्तु की खरीद कर उस वस्तु की माँग तथा मूल्य काफी बढ़ा देते हैं। इसे बुलबुला बनना (Bubble-making) कहते हैं। परंतु जब ऋण चुकाने की बारी आती है तब उपभोक्ता उसकी अदायगी करने में सक्षम नहीं रहते हैं और फिर अपने उत्पाद को बाज़ार में समर्पण (Surrender) कर देते हैं। एक के बाद दूसरे उपभोक्ता के द्वारा ऐसा किये जाने से अचानक उस वस्तु के मूल्य में गिरावट आ जाती है और फिर पूरी अर्थव्यवस्था संकट का शिकार हो जाती है। इसे बुलबुला फूटना (Bubble Brust) कहते हैं।

यही प्रवृत्ति 1929-30 में यूएसए के शेयर बाज़ार में तथा 2008 में अमेरिकी हाउसिंग क्षेत्र में देखी गयी। जहाँ तक यूरोजोन संकट 2009 का सवाल है, तो वह गलत नीति का परिणाम है और वह नीति है-वित्तीय एकीकरण (Fiscal Integration) के बिना मौद्रिक एकीकरण (Monetary Integration) की नीति। (नीचे दो ब्लॉक में अमेरिकी सब-प्राइम संकट तथा यूरोजोन संकट पर प्रकाश डाला गया है।)

सब-प्राईम संकट

बढ़ती हुई महँगाई के युग में हाउसिंग सामान्य लोगों की पहुँच से बाहर होती जा रही थी। अत: बिल क्लिंटन की सरकार ने लोगों को हाउसिंग उपलब्ध कराने के लिये बैंक ऋण को प्रोत्साहन दिया। फेडरल रिजर्व बैंक बाजार में मौद्रिक प्रवाह (Money Supply) लाया। चूँकि आतंकवादी हमले के कारण अर्थव्यवस्था में गिरावट आ रही थी इसलिए फेडरल रिजर्व बैंक के द्वारा किए जाने वाले मौद्रिक प्रवाह का फायदा बाजार को मिला था। बाजार में अतिरिक्त मुद्रा-प्रवाह का एक समान परिणाम होता है माँग का काफी बढ़ जाना। फेडरल रिजर्व बैंक के द्वारा ब्याज में गिरावट का फायदा उठाने के लिए कई प्रकार के निवेशक सामने आ गए। इसी क्रम में एक विशेष प्रकार का बैंक सामने आया। इसे 'इन्वेस्टमेंट बैंक' का नाम दिया गया। चूँकि ऋण सस्ती दर पर उपलब्ध था, इसलिये लोगों ने मकानों की प्रतिभूति (Security) के आधार पर ऋण लेना आरंभ कर दिया। प्रतिभूति से तात्पर्य है खरीदे जाने वाले मकान को ही बंधक रखकर बैंक से ऋण प्राप्त करना। चूँकि मकान की बिक्री में तेजी आ गई, इस कारण मकान के मूल्य में तेजी से वृद्धि हुई। दूसरी तरफ निवेशकों को मुनाफा कमाने का इतना उतावलापन था कि इन्होंने प्राइम देनदार के साथ-साथ सब-प्राइम देनदार को भी ऋण देना आरंभ कर दिया। सब-प्राइम देनदार उसे कहते हैं, जिसके भुगतान (Payment) करने की क्षमता कम होती है। सामान्यत: बैंक ऐसे लोगों को ऋण देने से परहेज करते हैं, परंतु यहाँ बैंकों ने अधिक ब्याज की लालच में उन्हें भी ऋण देना प्रारंभ कर दिया। यह गौरतलब है कि सब-प्राइम देनदार (जिन्हें ऋण चुकाने की क्षमता कम होगी) से ब्याज अधिक प्राप्त होता है। अनुमान किया जाता है कि लगभग 2.2 ट्रिलियन डॉलर सब-प्राइम मार्टगेज के द्वारा उधार लिया गया। आरंभ में प्राइम लोन तथा सब-प्राइम लोन अलग-अलग रखे जाते थे, किंतु अब दोनों मिलाए जा चुके थे। इसलिये इस ऋण की सिक्युरिटी के जो खरीददार थे, उन्हें यह पता नहीं चल पाया कि इस ऋण में खतरनाक ऋण की वास्तविक मात्रा क्या है? फिर जून, 2004 को फेडरल रिजर्व बैंक ने अपनी ब्याज दर में वृद्धि कर दी। अत: ऋण प्राप्तकर्त्ताओं पर देय रकम बढ़ गई। अब ऋण प्राप्तकर्त्ता ऋण चुकाने में असफल होने लगे। अत: वे अपने मकान बैंक के समक्ष समर्पित करने लगे। इसके परिणामस्वरूप मकान बाजार में मकान की कीमत तथा प्रतिभूति (Security) की कीमत में भी गिरावट आने लगी। अत: सब-प्राइम ऋण की देनदार कंपनियाँ दिवालिया होने लगीं। इसने एक आर्थिक संकट का रूप ले लिया।

यूरोजोन संकट

यूरोजोन संकट ने संपूर्ण विश्व को चौंका दिया। वस्तुत: 2009 में यूरोप एक प्रकार के आर्थिक संकट से ग्रस्त हो गया। अगर हम आर्थिक संकट के कारणों की पड़ताल करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि यह संकट यूरोजोन की संरचना में ही निहित था। यूरोजोन के देशों ने एक समान मुद्रा (यूरो) को स्वीकार किया। फिर यूरोपीय संघ के देशों ने चुंगी मुक्त संयुक्त बाजार की स्थापना पहले ही कर ली थी, किंतु यूरोजोन के देश विकास के समान स्तर पर नहीं थे। एक तरफ उत्तर के राज्य अपेक्षाकृत अधिक विकसित थे, विशेषकर जर्मनी का आर्थिक-औद्योगिक बाजार सबसे मजबूत था, वहीं कुछ अन्य राज्य विशेषकर दक्षिणी राज्यों की अर्थव्यवस्था कमजोर थी। इन्हें 'पिग्स' (PIIGS- पुर्तगाल, आयरलैंड, इटली, ग्रीस तथा स्पेन) के नाम से जाना गया। अगर हम इसकी जड़ में जाते हैं तो पाते हैं कि वित्तीय एकीकरण के बिना मौद्रिक एकीकरण का प्रयोग एक असफल प्रयोग सिद्ध हुआ। दूसरे शब्दों में, यूरोजोन के विभिन्न देशों के बीच चुंगी की दीवार समाप्त कर दी गई थी, फिर मौद्रिक एकीकरण के बाद मुद्रा के अवमूल्यन का विकल्प भी समाप्त हो गया। अब अगर कोई अर्थव्यवस्था मजबूत है और दूसरी कमज़ोर, तो फिर कमज़ोर अर्थव्यवस्था के लिये बचाव क्या है? एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। जर्मनी की अर्थव्यवस्था एक मजबूत अर्थव्यवस्था थी, जबकि दक्षिणी यूरोप की अर्थव्यवस्था कमजोर। जर्मनी की वित्तीय नीति, बजट नीति तथा इन देशों की नीतियाँ पृथक् थीं। अत: स्वाभाविक रूप में इन देशों के उत्पादों की गुणवत्ता एवं मूल्य में अंतर आ गया। जर्मन उत्पाद अपेक्षाकृत सस्ते एवं बेहतर गुणवत्ता वाले थे, जबकि इन देशों के उत्पाद अपेक्षाकृत महँगे एवं निम्न गुणवत्ता वाले। स्वाभाविक रूप में एकीकृत बाजार होने के कारण पिग्स (PIIGS) देशों के नागरिक भी जर्मन उत्पाद ही खरीदने लगे। इस कारण इन देशों के उद्योग विफल होने लगे। चूँकि ये उद्योग आर्थिक संकट के शिकार हो गए, इसलिये इन्होंने जो बैंक का ऋण ले रखा था, वे ऋण देने से चूक गए। इस कारण बैंक दिवालियेपन की कगार पर आ गए। अब इन देशों की सरकारों ने यू.एस.ए. से सीख ली। उन्होंने सोचा कि एक वर्ष पूर्व अमेरिकी सरकार ने 'लेहमन ब्रदर्स' जैसे बैंक को दिवालिया होने से नहीं बचाया। इसलिये वे बैंक असफल हो गए तथा यू.एस.ए. आर्थिक संकट से ग्रस्त हो गया था। यही सोचकर इन सरकारों ने बैंकों को बचाने के लिये बाहर से ऋण लिया। परिणामस्वरूप ये सरकारें स्वयं कर्जदार बन गईं। इसे 'सॉवरेन ऋण संकट' (Sovereign Debt Crisis) का नाम दिया जाता है।

सामान्यत: कोई संप्रभु शक्ति आर्थिक संकट का शिकार नहीं होती है क्योंकि उसके पास दो हथियार होते हैं। प्रथम, वह अतिरिक्त कर लगाकर धन की उगाही कर सकती है, परंतु एकीकृत अर्थव्यवस्था में ऐसा संभव नहीं होता क्योंकि अतिरिक्त कर लगाने पर स्वयं अपने ही पूँजीपति अपना व्यवसाय किसी दूसरी जगह स्थापित कर लेते हैं। अत: यह विकल्प नहीं था। दूसरा विकल्प यह था कि सेंट्रल बैंक को यह कहा जाए कि वह अतिरिक्त मुद्रा छाप दे तथा उन मुद्राओं से कर्ज अदायगी कर दी जाए। किंतु यूरोजोन की समान मुद्रा (यूरो) केवल जर्मनी के सेंट्रल बैंक द्वारा जारी की जाती थी। अत: अन्य बैंकों के पास यह विकल्प ही नहीं था। इसलिये ये सभी देश कर्जदार बन गए। इस प्रकार यूरोजोन का संकट उत्पन्न हुआ था।

तृतीय विश्व के देशों पर प्रभाव

तृतीय विश्व के देशों पर दोहरा प्रभाव देखा गया। एक तरफ चीन एवं भारत जैसे देश तृतीय औद्योगीकरण की स्थिति से लाभान्वित हुए। आर्थिक उदारीकरण (Economic Liberalisation) एवं तृतीय औद्योगीकरण का एक लाभ तृतीय विश्व के देशों को भी मिला। इसे 'Outsourcing' एवं `Offshoring' के रूप में देखा गया। 'Outsourcing' से तात्पर्य है कि सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से तृतीय विश्व के इंजीनियर, अंग्रेजी ग्रेजुएट आदि की सेवा पश्चिमी देशों को प्राप्त होना। इस प्रकार एक तरफ पश्चिमी देशों को तृतीय विश्व के सस्ते श्रम का लाभ मिला, तो बदले में तृतीय विश्व के तकनीशियन को रोजगार मिला (संबंधित देश के मानक पर वह तनख्वाह अपने देशों में दी जाने वाली तनख्वाह से अधिक होती थी)। इससे संबंधित देश के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई। दूसरी तरफ 'Offshoring' से तात्पर्य था- पश्चिमी देशों की कंपनियों के द्वारा अपने उत्पादन के खर्च को कम करने के लिये अपने औद्योगिक प्लांट को तृतीय विश्व में खिसकाना, ताकि उन्हें सस्ते श्रमिक, सस्ती बिजली का लाभ मिल सके। इस कारण भी तृतीय विश्व के देशों में रोजगार संवर्द्धन हुआ।

'Outsourcing' का बड़ा लाभ भारत को मिला तो 'Offshoring' का लाभ चीन को। दूसरी तरफ स्वयं पश्चिमी देशों में रोजगार सिकुड़ने लगे। इस कारण पश्चिमी देशों के लोगों में बेचैनी होने लगी। अत: विश्व व्यापार संगठन के मंत्रिमंडल स्तरीय सम्मेलन (1999) में श्रमिकों ने बड़ा विरोध प्रदर्शन किया। यह उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी साम्राज्यवादी काल से विपरीत स्थिति थी। जहाँ 19वीं सदी में उपनिवेशों की संसाधन की लूट से पश्चिमी देशों के श्रमिकों में रोजगार संवर्द्धन हुआ था, वहीं अब तृतीय औद्योगीकरण के काल में पश्चिमी विश्व के रोजगार छीन कर तृतीय विश्व के श्रमिकों को मिलने लगा।

तृतीय विश्व के कुछ देश, जो तृतीय औद्योगीकरण अथवा आर्थिक उदारीकरण से लाभान्वित हुए, अन्य देशों के स्तर से ऊपर उठकर उभरती हुई अर्थव्यवस्था (Emerging Economy) के समूह में शामिल हो गए। 1999 में G-20 समूह का गठन हुआ तथा 2008 से यह संगठन बहुत प्रभावकारी हो गया। इसमें विकसित हुए देशों के साथ-साथ बढ़ती हुई हैसियत के अनुकूल उभरती हुई अर्थव्यवस्था के देशों को भी शामिल किया गया।

दूसरी तरफ अनेक लैटिन अमेरिकी, अफ्रीकी एवं एशियाई देश इतने भाग्यशाली सिद्ध नहीं हुए। इन पर आर्थिक उदारीकरण की नीति का नकारात्मक प्रभाव पड़ा। जबरन विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ जाने के कारण वे अपने देशी उद्योगों को नहीं बचा सके। उनमें से कुछ विदेशी कर्ज के शिकार हो गए। नव-उदारवादी नीति के प्रभाव में अनेक लैटिन अमेरिकी देश कर्जदार बन गए थे। अत: इस नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के क्रम में 21वीं सदी के आरंभ में वेनेजुएला, ब्राजील एवं अनेक लैटिन अमेरिकी देशों में समाजवादी सरकारें स्थापित हुईं। इसे गुलाबी क्रांति (Pink Revolution) के नाम से जाना गया था। (समाजवाद अथवा साम्यवाद को 'लाल निशान' अथवा 'लाल क्रांति' के नाम से जाना जाता था। यह क्रांति पुरानी साम्यवादी क्रांति से पृथक थी, इसलिए इसे गुलाबी क्रांति कहा गया।)

2008-09 से वर्तमान काल तक

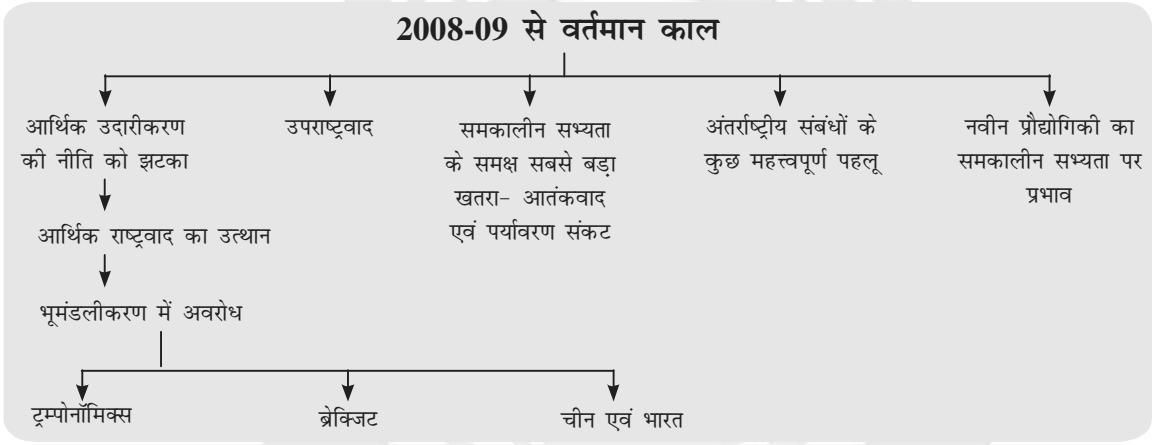

आर्थिक उदारीकरण की नीति को झटका

आर्थिक उदारीकरण की नीति के पतन का क्या कारण था?

वस्तुत: थैचर-रीगन ध्रुव (Thatcher-Regan Axis) द्वारा आर्थिक उदारीकरण की दिशा में पहल की गई थी। इसके पीछे की योजना थी- अंतर्राष्ट्रीय बाजार को पश्चिमी वित्त (Finance) के लिये खोलना। वास्तव में कृषि एवं विनिर्माण क्षेत्र में तृतीय विश्व के देश वैसे भी पश्चिमी देशों से लगभग आगे निकल रहे थे। अत: पश्चिमी देशों ने अपनी श्रेष्ठता वित्तीय क्षेत्र में बनाए रखने का निर्णय लिया। उस समय लंदन एवं न्यूयॉर्क ग्लोबल फाइनेंस (Global Finance) के दो महत्त्वपूर्ण केंद्र के रूप में विकसित थे, किंतु सब-प्राइम ऋण संकट (2008) एवं यूरोजोन संकट (2009) की घटना के पश्चात् इन केंद्रों को एक बड़ा धक्का लगा तथा यह एक प्रमुख कारण है कि ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों की रुचि वैश्वीकरण में लगभग समाप्त होने लगी।

इसके परिणामस्वरूप आर्थिक राष्ट्रवाद अपना सिर उठाने लगा। बहुत पहले जे.एम. केन्स ने इस बात की ओर इशारा किया था कि अगर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के बीच संतुलन नहीं लाया गया, तो फिर राष्ट्रीय हित अपना सिर उठाएगा और अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में रुकावट आ जाएगी। उसकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई तथा वर्तमान में विश्व एक बार फिर व्यापार युद्ध एवं मुद्रा युद्ध (Trade War and Currency War) के मुहाने पर खड़ा है। ट्रम्पोनॉमिक्स (Trumponomics) डोनाल्ड ट्रंप ने 'अमेरिका फर्स्ट' के नारे के साथ विश्व राजनीति में अपना कदम रखा। चीनी वस्तुओं पर चुंगी लगाई गई। भारत के मार्ग में भी बाधाएँ उपस्थित की गईं। इस कारण एक नए प्रकार के व्यापारिक संघर्ष का रास्ता तैयार हो गया।

आर्थिक उदारीकरण को लगे झटके के कारण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में अवरोध पैदा हुआ। इसका एक ज्वलंत उदाहरण है- ब्रेक्जिट (Brexit), यूरोजोन तो पहले से ही संकट की प्रक्रिया से गुजर रहा था। यूरोजोन के कुल 19 सदस्य हैं, ब्रिटेन उसमें नहीं है। (यूरोजोन में वे सदस्य हैं, जिन्होंने एक समान मुद्रा डॉलर को स्वीकार कर लिया है)। फिर यूरोपीय संघ से ब्रिटेन के निकल जाने के बाद यूरोपीय संघ का भविष्य और राजनीतिक एकता टूटती हुई दिखाई पड़ रही है।

ब्रेक्जिट

- यूरोजोन संकट के बाद यूरोपीय संघ के समक्ष 'ब्रेक्जिट' के रूप में दूसरा संकट खड़ा हो गया। वर्ष 2010 में ही ब्रिटेन में अप्रवासन, आर्थिक नीति, राष्ट्रीय संप्रभुता व सुरक्षा को लेकर यूरोपीय संघ से अलग होने की माँग उठ रही थी। इस संदर्भ में वर्ष 2016 में कराये गए जनमत संग्रह में 52% लोगों ने ब्रिटेन के यूरोपीय संघ छोड़ने के पक्ष में मतदान किया था। इसे ही 'ब्रेक्जिट' के नाम से जाना जाता है।
- अगर हम ब्रिटेन तथा यूरोपीय संघ के संबंधों पर प्रकाश डालते हैं, तो पाते हैं कि ब्रिटेन आरंभ से ही संघीय यूरोप के प्रति दुविधाग्रस्त रहा था तथा इसका कारण यूरोप का भूगोल रहा है। 1973 में कुछ हिचकिचाहट के साथ इसने यूरोपीय आर्थिक समुदाय की सदस्यता ग्रहण की थी, किंतु आगे भी यह एकीकरण की दिशा में होने वाले प्रयत्नों का विरोध करता रहा। मैस्ट्रिट सम्मेलन के प्रावधानों के विरुद्ध इसने यूरोपीय यूनियन बनाम निजी देश की संप्रुभता (European Union Versus Pull Sovereignty) का नारा दिया था। उधर ब्रिटेन में, विशेषकर 1991 के पश्चात् पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में उथल-पुथल होने के कारण आव्रजन (Migration) का दबाव बढ़ रहा था। वहीं नौकरियाँ सिमट रही थीं। रोजगार के अवसर सीमित होने का कारण था- 1980 के दशक में कंजर्वेटिव पार्टी की प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर की नीति। उसके द्वारा पूँजीवाद समर्थक नव-उदारवादी आर्थिक नीति अपनाने के कारण अनेक छोटी-छोटी फैक्ट्रियाँ बंद हो गईं। इस कारण बेरोजगारी को बल मिला, परंतु बढ़ती हुई बेरोजगारी का मुख्य दोषी बाहर से होने वाले प्रव्रजन को माना गया।
- फिर इसके विरुद्ध संगठित विरोध की नीति सर्वप्रथम यूनाईटेड किंगडम इंडिपेंडेंट पार्टी (UKIP) ने अपनाई। आगे कंजर्वेटिव पार्टी के कुछ सदस्य भी इस प्रक्रिया में शामिल हो गए। इन सभी के विरोध का निशाना यूरोपीय संघ बना। अपने ही दल के सदस्यों के बढ़ते हुए दबाव के कारण कंजर्वेटिव पार्टी के प्रधानमंत्री डेविड कैमरून ने इस विषय पर जनमत संग्रह करवाने का निर्णय लिया। जब कैमरून नाटो (NATO) की एक बैठक से लौट रहा था, तो उसने शिकागो हवाई अड्डे पर एक रेस्तराँ में अपने विदेश सचिव एवं चीफ ऑफ स्टाफ से वार्ता की तथा इसी वार्ता में जनमत संग्रह का निर्णय लिया गया था। वह इस बात के प्रति लगभग विश्वस्त था कि इस जनमत संग्रह में उसकी जीत होगी, जैसा कि दो वर्ष पूर्व स्कॉटलैंड के मुद्दे पर हुई थी। उसने जनमत संग्रह की रणनीति मुख्यत: कंजर्वेटिव पार्टी के बड़बोले सदस्यों का मुँह बंद करने के लिये की थी। यह रणनीति पहली बार नहीं अपनाई गई थी, बल्कि इससे पूर्व हैरोल्ड मैकमिलन 1975 में यूरोपीय समुदाय की सदस्यता के मुद्दे पर जनमत संग्रह की तकनीक अपनाकर अपने विरोधियों का मुँह बंद कर चुका था, परंतु डेविड कैमरून को यह दांव उल्टा पड़ गया तथा वह जनमत संग्रह में हार गया। फिर उसे अपना पद भी गवाना पड़ा। फिर उस आपात स्थिति में उसकी सचिव टेरेजा मे स्थिति को संभालने आई। परंतु चुनावी विफलता के कारण उसकी स्थिति संकटपूर्ण हो गई थी। वर्तमान में जॉनसन को स्पष्ट बहुमत मिला है तथा बोरिस जॉनसन के नेतृत्व में 31 जनवरी, 2020 को यूनाइटेड किंगडम यूरोपीय संघ से अलग हो चुका है।

एक दिलचस्प तथ्य यह है कि चीन एवं भारत, इन देशों ने अनिच्छा से आर्थिक उदारीकरण को अपनाया था, परंतु आज यही देश भूमंडलीकरण की रक्षा के लिये अधिक प्रतिबद्ध दिखते हैं। चीन एवं भारत की सरकार भूमंडलीकृत व्यवस्था के संचालन में विशेष दिलचस्पी ले रही है।

अब इसी के साथ एक सामान्य सा प्रश्न उपस्थित होता है कि भूमंडलीकरण का क्या भविष्य है? यहाँ एक तथ्य स्पष्ट करना उचित है कि विश्व इतिहास में वे दौर आते रहे हैं, जिन्हें प्रसिद्ध अर्थशास्त्री में मेघनाद देसाई 'ग्लोबलाइजेशन बनाम डीग्लोबलाइजेशन' (Globalisation vs De-globalisation) का नाम देते हैं अर्थात् 19वीं सदी में भूमंडलीकरण का दौर आया था, परंतु विश्व आर्थिक मंदी के कारण उसे झटका लगा। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् डिग्लोबलाइज्ड व्यवस्था (जिसमें भूमंडलीकरण पर कुछ सीमाएँ आरोपित की गई थीं) स्थापित की गई थीं। 1990 के दशक में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को बल मिला, परंतु हाल ही में उसे धक्का लगा है।

अब अगर हम इसके भविष्य पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वर्तमान भूमंडलीकरण पूँजीपतियों एवं निवेशकों के लाभ पर टिका हुआ भूमंडलीकरण है, जिसका टूटना तय है, परंतु इसके साथ जनसामान्य पर आधारित भूमंडलीकरण का भी विकास हुआ है। नवीन सूचना प्रौद्योगिकी पर आधारित 'नेटीजन' (Netizen) का समूह विकसित हुआ है तथा एक सिविल सोसायटी कायम हुई है। इसकी प्रगति को रोकना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त पर्यावरण संकट, आतंकवाद आदि ऐसी चुनौतियाँ हैं, जिन्हें राष्ट्रीय स्तर पर हल नहीं किया जा सकता। इसके लिये ग्लोबल प्रयास की ही ज़रूरत है। इसके अतिरिक्त इबोला,

सार्स, कोविड-19 जैसी पैनडेमिक (Pandemic) का समाधान राष्ट्रीय स्तर पर संभव नहीं है। इसलिये ग्लोबलाइजेशन विभिन्न राष्ट्रों के लिये विकल्प नहीं है, बल्कि उनके समक्ष बाध्यता है।

इसी के साथ एक दूसरा प्रश्न भी उपस्थित होता है कि आर्थिक उदारीकरण की नीति के अवसान के कारण एक प्रकार के दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद (Right wing nationalism) का उद्भव देखने को मिलता है। यहाँ दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद से आशय है ऐसी सरकार, जिसकी सफलता जनता के बीच उग्र राष्ट्रवाद की विचारधारा को फैलाने पर टिकी हो। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन दोनों के बीच कोई संबंध है?

इन दोनों के बीच अवश्य ही संबंध है। प्राय: आर्थिक उदारीकरण के काल में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। प्रथम, सरकार स्वयं पीछे हट गई थी और लोगों को अंतर्राष्ट्रीय पूँजी की कृपा पर छोड़ दिया गया। अत: लोगों में असुरक्षा की भावना आई। फिर विश्वव्यापीकरण के नाम पर पश्चिमी सांस्कृतिक मानदंड भी लोगों पर थोपने का प्रयास हुआ। अत: लोग फिर अपनी जड़ की ओर लौटने की बात करने लगे। (यहाँ जड़ से आशय है अपनी परंपरा की ओर लौटना जिसका धर्म एक पहलू है)। तीसरे, जनसंख्या आप्रव्रजन (Population migration) भी एक चुनौती बनी रही। इस कारण विभिन्न क्षेत्र के लोगों को रोजगार छिन जाने का खतरा महसूस हुआ। लोगों में बेचैनी काफी बढ़ गई। समाजवादी व्यवस्था के विघटन के पश्चात् समाजवादी विकल्प मौजूद नहीं था। अत: लोग दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगे। लोकप्रिय नेता तथा राष्ट्रवादी पार्टी ने इस खालीपन को शीघ्रता से भर दिया। उदाहरण के लिये, संयुक्त राज्य अमेरिका में डोनाल्ड ट्रंप, रूसी गणतंत्र में व्लादिमीर पुतिन, तुर्की में एर्दोगन, जापान में शिन्जो ऐबे, ब्राजील में बोलसोनारो, इज़रायल में बेंजामिन नेतन्याहू जैसे दक्षिणपंथी रुझान वाले नेताओं का उद्भव हुआ।

भूमंडलीकरण के युग में उपराष्ट्रवाद का उत्थान

भूमंडलीकरण ने अपने समानांतर एक और प्रक्रिया को जन्म दिया, वह था 'उपराष्ट्रवाद' (Subnationalism) का उत्थान तथा इसके कारण विभिन्न राष्ट्रों के समक्ष विघटन का खतरा। इस उभरते हुए उपराष्ट्रवाद की शक्ति के कारण पहले सोवियत रूस का विघटन हुआ (1991) तथा फिर यूगोस्लाविया एवं चेकोस्लोवाकिया (1993) जैसे राष्ट्रों का। यद्यपि सभ्यताओं के संघर्ष जैसी अवधारणा अपनी समग्रता में मान्य नहीं है, परंतु इसने उभरते हुए उपराष्ट्रवाद की शक्ति की ओर इशारा किया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपराष्ट्रवाद की शक्ति पहले की तुलना में अधिक मजबूत क्यों हुई? इसके एक से अधिक कारण थे। प्रथम, भूमंडलीकरण के कारण राष्ट्रीय सरकारें विभिन्न क्षेत्रों पर अपने नियंत्रण को थोड़ा ढीला करने के लिये विवश हुईं। इससे क्षेत्रीय आकांक्षाओं को प्रोत्साहन मिला। दूसरे, अंतर्राष्ट्रीय पूँजी एक ही राष्ट्र के किसी खास क्षेत्र को सिंचित करती रही थी, वहीं इसने किसी दूसरे क्षेत्र को वंचित रखा। इस कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच अलगाव बढ़ा। उदाहरण के लिये, जिस क्षेत्र को अंतर्राष्ट्रीय पूँजी का समर्थन प्राप्त था, वह अपनी समृद्धि अपने गरीब पड़ोसी क्षेत्र के साथ बाँटने के लिये तैयार नहीं था। इसलिये कई बार वह पृथक् होने की बात सोचने लगता था। दूसरी तरफ, कई बार पड़ोसी निर्धन क्षेत्र अपनी निर्धनता के लिये समृद्ध क्षेत्र को उत्तरदायी मानते हुए वह पृथकता की बात करने लगते थे। तीसरे, साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा भी क्षेत्र विशेष को भड़काया गया, ताकि उस क्षेत्र में उनकी पैठ बनी रह सके। इस बीच कई देश अशांति के शिकार हुए। उदाहरण के लिये, अफ्रीका में रवांडा तथा सोमालिया गृहयुद्ध का शिकार हो गये। 1990 के दशक में कोसोवो संकट एक बड़ा मुद्दा बनकर आया। 2011 में एक अफ्रीकी देश सूडान का विभाजन हो गया।

उपराष्ट्रवाद की चुनौती ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में भी एक नया मोड़ ला दिया। उपराष्ट्रवाद ने कई देशों में गृहयुद्ध का रूप ले लिया तथा कुछ क्षेत्रों में तो यह नरसंहार का रूप लेने लगा। अत: अंतर्राष्ट्रीय संबंध में आर. टू पी. (R. To P.) की अवधारणा विकसित हुई। इसका अर्थ था `Responsibility to protect'। R. To P. की अवधारणा विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्चस्व का विस्तार करती रही। यूएसए ने विशेष रूप से यह प्रतिपादित किया कि अगर किसी भी राष्ट्र की जनता अपनी सरकार के दमन का शिकार है, तो उसकी रक्षा करना विश्व समुदाय का दायित्व है। इसी अवधारणा के तहत कुछ देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाने लगा। अत: इससे एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगा। वस्तुत: यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि इस नीति का सहारा लेकर किसी भी समय संयुक्त राज्य अमेरिका किसी राष्ट्र के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकता है। फिर इसी आधार पर किसी न किसी रूप में लीबिया तथा फिर वर्तमान में सीरिया में हस्तक्षेप किया गया।

समकालीन सभ्यता के लिये सबसे बड़ा खतरा-पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद

विश्व समुदाय ने पर्यावरण के खतरे को 1970 के दशक में ही पहचान लिया था तथा उसके निवारण की दिशा में 1990 के दशक में (पृथ्वी सम्मेलन) गंभीर प्रयास भी आरंभ कर दिया था, परंतु आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया ने एक बार फिर सरकार की प्राथमिकता को बदल दिया। इन सरकारों की प्राथमिकता हो गई

अधिक से अधिक संवृद्धि (Growth rate) को प्राप्त करना तथा इस उद्देश्य को पाने के लिये संसाधनों का अत्यधिक दोहन किया गया। इस कारण पर्यावरण की चुनौती और भी गंभीर हो गई।

फिर इस काल में पर्यावरण संकट के निवारण के लिये किए जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय प्रयास में भी परिवर्तन देखे गए। प्रथम, चूँकि सब-प्राइम संकट एवं यूरोजोन संकट के कारण पश्चिमी पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था को धक्का लगा, तो वे अपना दायित्व निभाने से पीछे हटने लगे। दूसरे, उन्होंने भारत के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत 'प्रदूषक देश को ही चुकाना चाहिये' (Polluters must pay) के सिद्धांत को तिलांजलि देते हुए सभी देशों पर कार्बन उत्सर्जन में कटौती करने की अनिवार्य बाध्यता कर दी अर्थात् इन देशों पर यह दबाव डाला गया कि सभी देशों को कार्बन उत्सर्जन में यथासंभव कटौती स्वीकार हो। भारत को पहली बार डरबन सम्मेलन (2011) में अंतर्राष्ट्रीय दबाव को देखते हुए इसे स्वीकार करना पड़ा।

आगे 2015 में पेरिस समिट में इस दिशा में प्रगति करते हुए तथा सभी देशों के ऊपर संरक्षण दायित्व रखते हुए 'National determined contributions' का प्रावधान लाया गया। इसके तहत पृथ्वी के तापमान का पूर्व-औद्योगिक काल की तुलना में 2 प्रतिशत से अधिक बढ़ने की अनुमति न देना शामिल था। उसे और भी कम कर 1.5 प्रतिशत तक लाने की बात की गई। दूसरी तरफ, पश्चिमी देश ग्रीन तकनीकी तथा फंड देने में अपेक्षित दिलचस्पी नहीं दिखा रहे थे। (वस्तुतः उनके लिए आवश्यक था कि वे तृतीय विश्व की अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए इन देशों को हरित तकनीकी (Green Technology) एवं उचित मात्रा में फंड प्रदान करें।) सबसे बढ़कर यूएसए ने बड़ी ही उत्तरदायित्वहीनता का परिचय दिया है। पीछे बराक ओबामा की सरकार ने इसे स्वीकृति दे दी थी, परंतु क्योटो सम्मेलन की ही तरह इस बार भी डोनाल्ड ट्रंप की सरकार ने इससे पाव पीछे खींच लिया है। एक दुखद पहलू यह है कि विश्व समुदाय इस भयानकता को नहीं समझ रहा है कि वर्तमान सभ्यता के लिये पर्यावरण संकट सबसे बड़ा खतरा है।

दूसरा बड़ा खतरा है- आतंकवाद। वर्तमान में आतंकवाद धार्मिक कट्टरता के साथ-साथ भूख एवं गरीबी, जनजातीय पहचान, जनसंख्या प्रव्रजन, बेरोजगारी जैसे मुद्दों के साथ जुड़ गया है। 2014 में इस्लामिक स्टेट के द्वारा इराक एवं सीरिया के क्षेत्र में खिलाफत की घोषणा ने अंतर्राष्ट्रीय चुनौती का रूप ले लिया। वर्तमान में अफगानिस्तान से लेकर अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया तक इसका प्रसार हो चुका है। यह आतंकवाद का ग्लोबल नेटवर्क बन चुका है।

जनसंख्या प्रव्रजन *(Migration of Population)*

पर्यावरण संकट और आतंकवाद की तरह 21वीं सदी की एक और ज्वलंत समस्या है और वह है जनसंख्या प्रव्रजन। गौर से देखने पर यह ज्ञात होता है यह समस्या पर्यावरण संकट और आतंकवाद की समस्या से पृथक और स्वतंत्र नहीं है, बल्कि उनसे अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। पर्यावरण संकट का एक स्वाभाविक परिणाम है जीविकोपार्जन की समस्या। इसके कारण भुखमरी और अकाल की समस्या उपस्थित हुई है। वर्तमान युग में शरणार्थियों के समूह में एक बड़ी संख्या पर्यावरण से जुड़े हुए शरणार्थियों (Environmental Refugee) से जुड़ी हुई है। फिर हम छिनती हुई जीविका और रोज़गार के अवसर के कारण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जनसंख्या का प्रव्रजन होता देखते हैं और यह एक नए प्रकार के संघर्ष को जन्म देता है। यह संघर्ष कहीं युद्ध का रूप ले लेता है, तो कहीं आतंकवाद की समस्या को बढ़ा देता है। फिर युद्ध के कारण शरणार्थियों की समस्या और भी प्रबल हो जाती है। इस प्रकार ये सभी समस्याएँ एक-दूसरे से जुड़ जाती हैं।

उदाहरण के तौर पर, हम देखते हैं कि उत्तरी अफ्रीका से जनसंख्या का प्रव्रजन दक्षिणी यूरोप की तरफ होने लगा। इसने यूरोप की तथाकथित उदारवादी नीति की परीक्षा कर डाली क्योंकि शरणार्थियों के प्रति कठोर रूख अपनाने के कारण अनेक शरणार्थी भू-मध्यसागर में डूबकर मर गए। पिछले लगभग 4.5 वर्षों से भू-मध्यसागर में 'बोटमैन' (बोटमैन उन लोगों को कहा जाता है जो नावों में बैठकर भूमध्यसागर पार करके दक्षिणी यूरोप में घुसने का प्रयास करते हैं) का मुद्दा को एक ज्वलंत मुद्दा बन गया है। उधर पश्चिम एशिया में सीरिया में होने वाले संघर्ष ने यूरोप की ओर जनसंख्या के प्रव्रजन की समस्या को संकटपूर्ण बना दिया है। शरणार्थियों की चुनौती जर्मनी, ऑस्ट्रिया आदि सभी यूरोपीय देशों में उपस्थित हुई। जर्मनी में शरणार्थियों के प्रति प्रतिक्रिया ने नव-नाजीवाद को प्रोत्साहन दिया है (नव-नाजीवाद से तात्पर्य है उग्र राष्ट्रवाद)। यूरोपीय संघ के पिछड़े हुए क्षेत्रों से जनसंख्या के प्रव्रजन की चुनौती ने ब्रिटेन में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी जिससे ब्रेक्जिट की समस्या उपस्थित हो गई। उधर अमेरिकी महाद्वीप में मैक्सिको एवं लैटिन अमेरिका से जनसंख्या के प्रव्रजन ने और अमेरिकियों के छिनते हुए रोज़गार के अवसरों ने 'ट्रम्पिज़्म' को जन्म दिया है। जनसंख्या प्रव्रजन की समस्या एक सार्वभौमिक समस्या है। दक्षिण एशिया में रोहिंग्या की समस्या को भी हम इसी संदर्भ में देख सकते हैं।

जनसंख्या प्रव्रजन केवल अंतर्राष्ट्रीय चुनौती ही नहीं, बल्कि एक राष्ट्रीय चुनौती के रूप में भी उपस्थित हुई है। एक राष्ट्र के अंदर भी

अविकसित क्षेत्र से अपेक्षाकृत अधिक विकसित क्षेत्र की ओर जीविका एवं रोज़गार की खोज में जनसंख्या का प्रव्रजन भी एक चुनौती बनकर उभरा है। इसने एक प्रकार के क्षेत्रीय तनाव को जन्म दिया है। उदाहरण के लिये, भारत के अंदर बिहार, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के कुछ नगरों से मुंबई की ओर जनसंख्या के प्रवासन ने महाराष्ट्र में क्षेत्रीय पार्टियों के उग्र विरोध को प्रोत्साहन दिया है।

वर्तमान में जनसंख्या प्रव्रजन इतने बड़े अंतर्राष्ट्रीय एवं अंतर्क्षेत्रीय तनाव का कारण बना है कि एक आलोचक ने इतना तक कह दिया कि जहाँ पिछली शताब्दी में संघर्ष का मुख्य मुद्दा बुर्जुआ एवं सर्वहारा वर्ग के बीच का संघर्ष रहा था, वहीं वर्तमान में संघर्ष का मुख्य मुद्दा विश्ववाद की अवधारणा (Cosmopolitanism) तथा देशीपन की पहचान (Nativism) के बीच का होगा।

स्ट्रेन्ज रेबेल्स 1979 एंड द बर्थ ऑफ 21st सेंचुरी (Strange Rebels 1979 and the birth of 21th Century)

2013 में क्रिश्चियन सेरिल ने अपनी पुस्तक 'Strange Rebels 1979 and the birth of 21th Century' में उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाने का प्रयास किया है जिन्हें 21वीं सदी के विकास के रूप में देखा जाता है, उसकी नींव तो 1979 के वर्ष में ही पड़ चुकी थी। वस्तुतः इस वर्ष पाँच ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं जिन्होंने विश्व राजनीति एवं अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा दे दी तथा उन परिवर्तनों को जन्म दिया जो 21वीं सदी की विश्व व्यवस्था के प्रमुख लक्षण बन गए। ये घटनाएँ इस प्रकार थीं–

1. **1979 की ईरानी क्रांतिः** यह वह घटना थी जिसके परिणामस्वरूप ईरान में शाह की सरकार का पतन हुआ। यह शाह की सरकार भले ही अमेरिकी समर्थन पर टिकी हुई थी, परंतु इसने ईरान में धर्मनिरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहन दिया था। परंतु ईरान में इस धर्मनिरपेक्षता की नीति को पश्चिमी साम्राज्यवाद की नीति से जोड़ते हुए अयातुल्लाह खुमैनी नामक एक उलेमा ने इस्लाम के पुनरुत्थान का नारा दिया। फिर अमेरिकी दूतावास पर हमला कर अमेरिकी साम्राज्यवाद को प्रत्यक्ष चुनौती दी गई। यहाँ सेरिल महोदय का मानना है कि ईरानी क्रांति इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि इस कारण धार्मिक उन्माद को बल मिला और इससे प्रेरित होकर वहाबियों के एक समूह ने मक्का की मस्जिद पर कब्जा कर लिया तथा लगभग छह महीने तक उस पर अपना नियंत्रण बनाए रखा। सेरिल महोदय का विचार है कि 21वीं सदी में एक प्रमुख चुनौती बनकर उभर चुकी इस्लामिक कट्टरवाद की नीति की जड़ हमें 1979 में दिखती है।
2. **1979 में सोवियत रूस की सेना का अफगानिस्तान में प्रवेशः** इस घटना के दो परिणाम सामने आए– प्रथम, सोवियत रूस, अफगानिस्तान में एक अंतहीन युद्ध में फँस गया, जिस कारण से उसकी आर्थिक और सामरिक स्थिति कमजोर पड़ गई और फिर 1990 में शीतयुद्ध का अंत हो गया। साथ ही न केवल समाजवादी व्यवस्था का पतन हुआ, बल्कि सोवियत रूस और आगे यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया जैसे राष्ट्रों का विघटन हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम था संयुक्त राष्ट्र अमेरिका एवं पूँजीवाद की प्रगति। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि इससे इस्लामिक कट्टरवाद को प्रोत्साहन मिला। वस्तुतः सोवियत रूस के विरुद्ध संघर्ष में अनेक जनजाति एवं जिहादी संगठनों ने हिस्सा लिया। स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा भी अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिये जिहादी संगठनों को भड़काया गया था। इसमें शामिल होने वाला एक जिहादी नेता, ओसामा–बिन–लादेन भी था जिसने आगे चलकर अल–कायदा नामक आतंकवादी संगठन को स्थापित किया। इसलिये इस घटना को भी 21वीं सदी की प्रवृत्ति से जोड़ा जाता है।
3. **1979 में पोलिस मूल के एक ईसाई संत जॉन पॉल द्वितीय का पोप के रूप में चयनः** वेटिकन में पोप का चयन कार्डिनलस के द्वारा किया जाता है। पिछले लगभग 450 वर्षों में किसी गैर–इटालियन मुल्क के पोप का चयन नहीं किया गया था, परंतु जॉन पॉल द्वितीय पोलैंड से थे और पोलैंड में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी। जैसा कि हम जानते हैं कि धर्म के मामले में कम्युनिस्ट पार्टी का दृष्टिकोण नास्तिक रहा था और वहाँ धर्म को दबाया गया था, परंतु लोगों के मन की आस्था को समाप्त किया जाना संभव नहीं था। इसलिये पोलिस मूल के किसी संत के चयन का एक उद्देश्य साम्यवादी देशों में लोगों की धार्मिक आस्था को भड़काना भी था। इसलिये जब जॉन पॉल द्वितीय ने आगे पोलैंड की यात्रा की, तो लोगों की धार्मिक आस्था भड़क उठी और फिर पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी सरकारों के पतन का रास्ता और भी साफ हो गया। जैसा कि हम जानते हैं कि समाजवादी मॉडल का खात्मा 21वीं सदी की व्यवस्था का एक प्रमुख लक्षण माना जाता है, इस रूप में भी इस घटना का संबंध 21वीं सदी के विश्व से जुड़ता है।
4. **1979 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के रूप में मार्ग्रेट थैचर का चुनावः** इस चुनाव को विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जाता है। जैसा कि हमने पीछे देखा है केन्सियन अर्थशास्त्र ने आर्थिक मामले में राज्य

को बड़ी भूमिका प्रदान कर दी थी, परंतु तेल संकट ने इस विचार को धक्का पहुँचाया था। अब नई प्रधानमंत्री मार्ग्रेट थैचर ने अर्थशास्त्री फ्रेडरिक हायेक तथा मिल्टन फ्रीडमैन के विचारों से प्रभावित होकर और अमेरिकी राष्ट्रपति रॉनाल्ड रीगन के साथ मिलकर उस नीति की नींव डाली, जिसे 'वॉशिंगटन सहमति' के नाम से जाना गया तथा जिसके आधार पर विश्व अर्थव्यवस्था को खोला गया। इस प्रकार मार्ग्रेट थैचर नव-उदारवादी नीति पर आधारित विश्व व्यवस्था की प्रवर्तक बनी। इसलिये इस घटना को 21वीं सदी की विश्व व्यवस्था से जोड़ा जा सकता है।

5. **1979 में चीन के राष्ट्रपति देंग चिआओ पिंग के द्वारा चीन को आर्थिक उदारीकरण की ओर ले जाना:** वस्तुत: चीनी गणतंत्र का संस्थापक माउत्सेतुंग एक सफल क्रांतिकारी रहा था, परंतु चीन के आर्थिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम में उसे विफलता ही मिली थी। उदाहरण के लिये, उसकी 'ग्रेट लीप फॉरवर्ड नीति' (Great Leap Forward Policy) ने चीन में अकाल और भुखमरी की समस्या को जन्म दिया था। फिर उसके द्वारा जो 'सांस्कृतिक क्रांति' चलाई गई थी, वह भी एक उग्र दमन की नीति सिद्ध हुई थी, जबकि आर्थिक मोर्चे पर चीन न केवल जापान, सिंगापुर, फिलिपींस जैसे दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से, बल्कि ताइवान जैसे स्वयं अपने हिस्से से भी बहुत पिछड़ गया था। अत: जब 1978 में माउत्सेतुंग के उत्तराधिकारी के रूप में देंग चिआओ पिंग राष्ट्रपति बना, तो उसने 1979 में आर्थिक उदारीकरण की नीति आरंभ कर दी। इसके परिणामस्वरूप चीन की अर्थव्यवस्था में तेजी से प्रसार हुआ तथा चीन विश्व की दूसरी बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया। 21वीं सदी में BRI–Belt and Road Initiative के माध्यम से चीन एक वैकल्पिक विश्व व्यवस्था का संस्थापक बन गया है। इस रूप में भी 1979 की इस घटना का विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार 'क्रिश्चियन सेरिल' नामक इस विद्वान ने 1979 के वर्ष को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वर्ष घोषित किया है।

अंतर्राष्ट्रीय संबधों के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू

2009-20 के बीच विश्व के कुछ अशांत क्षेत्रों में एक क्षेत्र है पश्चिम एशिया एवं अरब क्षेत्र। 2010 के अंत में अचानक यह क्षेत्र उथल-पुथल का शिकार हो गया तथा यह उथल-पुथल ट्यूनिशिया से शुरू हुई तथा मिस्र एवं लीबिया से होते हुए सीरिया तक पहुँच गई। इसे अरब वसंत (Arab Spring) का नाम दिया गया। अरब वसंत को प्रेरित करने में भी सूचना प्रौद्योगिकी की भी अहम भूमिका रही थी। सूचना प्रौद्योगिकी ने परंपरागत अरब समाज को बाह्य विश्व के लिये खोल दिया था। अरब वसंत से बहुत बड़े बदलाव की अपेक्षा की जा रही थी, परंतु ट्यूनिशिया को छोड़कर कहीं भी महत्त्वपूर्ण बदलाव नहीं देखा गया। मिस्र, सैनिक तानाशाही का शिकार हुआ, लीबिया बाह्य आक्रमण एवं आंतरिक अशांति से ग्रस्त हो गया तथा सीरिया को एक वृहद् क्षेत्रीय संघर्ष का रूप ले लिया एवं यह पिछले 9 वर्षों से महाशक्तियों के उलझाव का अखाड़ा बना रहा है।

इस क्षेत्र में पूर्व काल से चली आ रही समस्या अरब इज़राइल संघर्ष ने नए आयाम ग्रहण किये, जब डोनाल्ड ट्रंप समर्थित इज़राइल ने वेस्ट बैंक एवं जेरूशलम जैसे फिलिस्तीनी क्षेत्र पर अपने नियंत्रण का विस्तार करना आरंभ कर दिया। दूसरी तरफ इस क्षेत्र में ईरान एवं सऊदी अरब के बीच शीतयुद्ध चल रहा है। यमन में ईरान समर्थित 'हाउथी' विद्रोहियों के साथ सऊदी अरब तथा उसके सहयोगी संघर्ष कर रहे हैं। सबसे दिलचस्प तथ्य यह है कि यूएसए के प्रोत्साहन पर सऊदी अरब एवं इज़राइल के बीच ईरान के विरुद्ध एक प्रकार के सहयोग का वातावरण तैयार हो रहा है। फिर अमेरिकी प्रेसिडेंट डोनाल्ड ट्रंप के द्वारा परमाणु हथियार के मुद्दे पर ईरान के साथ वार्ता तोड़ने एवं नए प्रकार के आर्थिक नाकेबंदी किये जाने से तनाव बढ़ गया है।

उधर सोवियत रूस में व्लादिमीर पुतिन ने भी यूएसए एवं सहयोगी देशों के आक्रामक देशों के विरुद्ध एक प्रकार का विरोधी रूख अपना रखा है। आगे व्लादिमीर पुतिन के अधीन रूस का आक्रामक नजरिया 2014 में देखा गया, जब सोवियत रूस ने यूक्रेन से क्रीमिया का भू-भाग छीन लिया। फिर पश्चिमी देश तथा रूस के बीच आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हुआ। एक तरफ पश्चिमी देशों का कहना था कि यूक्रेन को पूर्व में सुरक्षा का आश्वासन दिए जाने के बाद भी रूस ने उसके प्रति आक्रामक रूख अपनाया। दूसरी तरफ रूस का कहना था कि पूर्व आश्वासन की अवहेलना करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूर्वी यूरोप में अपना विस्तार किया।

दूसरी तरफ रूसी गणतंत्र का कहना था कि पश्चिमी देशों ने उसके साथ विश्वासघात किया है। पीछे उसे यह आश्वासन दिया गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका, पूर्व सोवियत रूस के क्षेत्र तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार नहीं करेगा, परंतु संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने पुराने आश्वासन की अवहेलना करते हुए इन राष्ट्रों को यूरोपीय यूनियन ही नहीं, बल्कि नाटो की

सदस्यता भी प्रदान की। अंत में दोनों पक्षों के बीच इतना अधिक तनाव हो गया कि जी-8 का विभाजन हो गया। फिर पश्चिमी देशों के द्वारा रूसी गणतंत्र के विरूद्ध आर्थिक नाकेबंदी भी लगा दी गई। फिर भी बराक ओबामा के काल तक स्थिति अनियंत्रित नहीं हुई, किंतु उसके पश्चात् स्थिति और भी बिगड़ गई। एक तरफ व्लादिमीर पुतिन पर यह अभियोग है कि उसने 2016 में हिलेरी क्लिंटन एवं ट्रंप के बीच चुनाव के काल में चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित किया था। इस मुद्दे पर बराक ओबामा ने रूस के विरूद्ध और भी कठोर आर्थिक नाकेबंदी लगा दी। फिर हाल में डोनाल्ड ट्रंप तथा पुतिन के बीच भी नए तनाव के बिंदु उभरकर आए। अमेरिकी सरकार का यह मानना है कि रूस अपने परमाणु हथियारों की संख्या बढ़ा रहा है। पूर्व सोवियत रूस के काल में अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत रूस के प्रेसिडेंट मिखाईल गोर्बाचेव के बीच 1987 में हस्ताक्षरित इंटरमीडिएट एवं शॉर्ट रेन्ज के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों में कटौती का जो निर्णय लिया गया था, वर्तमान में डोनाल्ड ट्रंप की सरकार ने उस संधि से बाहर आने की घोषणा की है।

फिर विश्व की भावी शांति के लिए भी यह अपशकुन का सूचक है क्योंकि सीरिया, ईरान एवं अफगानिस्तान के मुद्दों पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस के बीच बेहतर संबंध विश्व राजनीति को एक नई दिशा दे सकता था, परंतु ऐसे आसार नजर नहीं आ रहे।

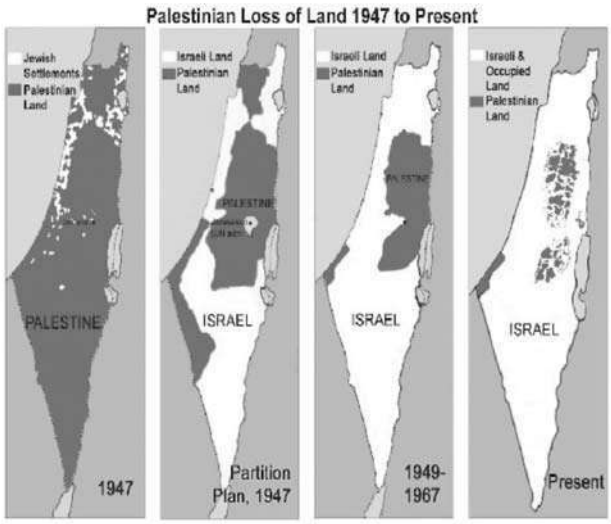

उधर एशिया-प्रशांत क्षेत्र में चीनी ड्रैगन की बढ़ती हुई शक्ति एक प्रकार की आशंका पैदा कर रही है। चीन की एक महान राष्ट्रीय उपलब्धि मानी जाती है- बेल्ट और रोड इनीशिएटिव (BRI)। इसके तहत चीन ने 'सिल्क रोड इकोनॉमिक बेल्ट' एवं 'ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी मैरीटाइम सिल्क रोड' की घोषणा की। इसे सामूहिक रूप से 'वन बेल्ट, वन रोड' (OBOR) नाम दिया गया। इसे परिवर्तित रूप में 'बेल्ट एवं रोड इनिशिएटिव' (BRI) का नाम दिया जाता है। यह आर्थिक विकास की एक बड़ी ही महत्त्वाकांक्षी योजना मानी जाती है। इसकी तुलना प्रायः द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् लाई गई कुछ अन्य महत्त्वाकांक्षी योजनाओं से की जाती है, परंतु व्यवहार में यह मार्शल योजना से कहीं बड़ी योजना है। इसका स्वरूप अंतर्महाद्वीपीय है। यह एशिया, यूरोप एवं अफ्रीका को परस्पर जोड़ती है।

सिल्क रूट अथवा रेशम मार्ग क्या है?

यह मार्ग चीन को पश्चिम में रोमन साम्राज्य से जोड़ता था। यह भूमि मार्ग एवं सामुद्रिक मार्ग दोनों का प्रतिनिधित्व करता था। यह चीन में हान वंश के काल से लगभग 130 ई.पू. से चल रहा था। भूमि मार्ग चीन से मध्य एशिया होते हुए पश्चिम में भू-मध्यसागरीय क्षेत्र तक जाता था। चीन में हान साम्राज्य, भारत के उत्तर में कुषाण साम्राज्य तथा पश्चिम में रोमन साम्राज्य इस मार्ग से होने वाले व्यापार को संरक्षण देते थे। इन मार्गों से मसाले, रेशम और कागज़ आदि सामग्रियाँ पश्चिम की ओर जाती थीं। जल मार्ग हिंद महासागर, अरब सागर, फारस की खाड़ी अथवा लाल सागर से गुजरते हुए पश्चिम की ओर जाता था। सिल्क रूट विश्व अर्थव्यवस्था में उस अवस्था को दर्शाता है, जब वैश्विक अर्थव्यवस्था के केन्द्र में चीन एवं भारत थे।

एक दृष्टिकोण यह भी है कि चीन की 'वन बेल्ट, वन रोड' योजना कहीं-न-कहीं 600 वर्ष पुरानी झेंग-हे (Jheng He) की अधूरी योजना को पूरा करने की दिशा में एक प्रयास है। 2005 में चीन की सरकार ने 'झेंग-हे' की योजना के महत्त्व को उद्घाटित किया था।

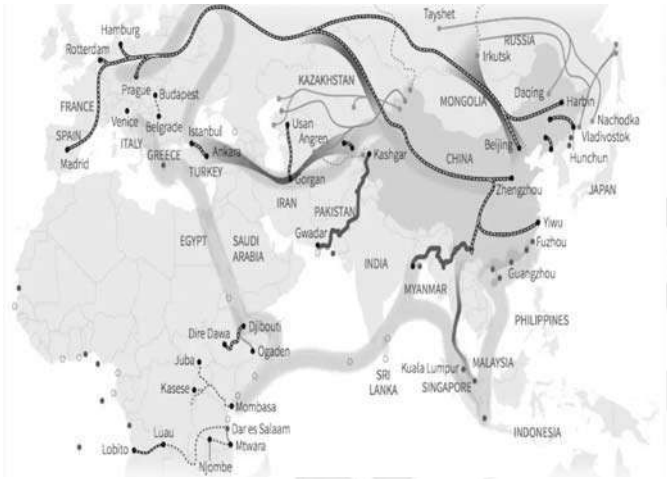

परन्तु वर्तमान विश्व व्यवस्था में इसे महज एक आर्थिक योजना के रूप में नहीं, अपितु चीन की सामरिक महत्वाकांक्षा (Strategic Ambition) से भी जोड़ा जाता है। कुछ विद्वान इसे मोतियों की माला नीति (String of pearl policy) का भी नाम देते हैं।

परंतु यही समय है कि यूएसए, तालिबान के साथ एक समझौता कर अफगानिस्तान से निकल रहा है। यहाँ प्रेसिडेंट डोनाल्ड ट्रंप की वही रणनीति दिख रही है जो वियतनाम के मामले में निक्सन की देखी गई थी। निक्सन, सुरक्षा का दायित्व दक्षिणी वियतनाम की सरकार पर डालकर स्वयं बाहर हो गया था। इसी प्रकार डोनाल्ड ट्रंप भी अफगानिस्तान से पीछे हट रहा है। जाहिर है कि अफगानिस्तान की सरकार अपनी सुरक्षा में अक्षम सिद्ध होगी तथा एक बार फिर अफगानिस्तान पर तालिबानियों का कब्जा हो सकता है। ऐसी स्थिति में न केवल अफगानिस्तान में भारत का निवेश खतरे में पड़ जाएगा, बल्कि अफगानिस्तान में एक पाकिस्तान समर्थक सरकार गठित हो सकती है। ऐसा होने पर मध्य एशिया से लेकर दक्षिण एशिया तक का क्षेत्र अशांति का शिकार बन सकता है। विशेषकर कश्मीर में भारत सरकार को और भी मुश्किलों का सामना करना पड़ सकता है।

जापान, फिलिपींस, वियतनाम एवं सिंगापुर जैसे देश भयभीत हो रहे हैं। दक्षिणी चीन सागर एवं पूर्वी चीन सागर पर चीन के रूख ने एक प्रकार का क्षेत्रीय तनाव पैदा कर रहा है। यूएसए, भारत से भी एक बड़ी भूमिका चाहता है तथा इसे एक्ट ईस्ट पॉलिसी (Act East Policy) पर जोर देने की बात करता है।

कई आलोचक चीन की योजना की तुलना द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य एशियाई देशों की विजय के पश्चात्, जो 'को-प्रॉस्पैरिटी स्फियर' (Co-prosperity sphere) स्थापित किया गया था, उससे करते हैं। अंग्रेज जिओग्राफर जॉन मैकिंडर को उद्धृत करते हुए शशि थरूर ने अपनी पुस्तक (New World Disorder) में स्पष्ट किया है कि जो देश यूरोप, एशिया एवं अफ्रीका को एक वैश्विक द्वीप (World Island) के रूप में संगठित करेगा, वह पूरी दुनिया पर शासन करेगा। फिर चीन, पाकिस्तान के ग्वादर, श्रीलंका के हंबनटोटा एवं जिबूती के बंदरगाह सभी का उपयोग आर्थिक महत्त्व के साथ-साथ सामरिक महत्त्व के लिये भी कर रहा है। इसलिये भारत एवं विश्व के अनेक देश चीन के इस कदम को संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं।

तकनीकी परिवर्तन का विश्व व्यवस्था पर प्रभाव

पीछे भी हमने देखा कि नवीन प्रौद्योगिकी, समाज पर आवश्यक प्रभाव छोड़ती है। प्रथम एवं द्वितीय औद्योगिक क्रांति ने यूरोप एवं विश्व में कई प्रकार के परिवर्तन लाए थे। तृतीय औद्योगिक क्रांति (सूचना प्रौद्योगिकी) ने तात्कालिक राजनीतिक एवं सामाजिक संबंधों में बड़ा बदलाव ला दिया। 1990 के दशक में पूर्वी यूरोप में इसने बड़ा राजनीतिक भूचाल लाया। 2010-11 में अरब वसंत के रूप में, इसने तानाशाही सरकारों के गढ़ों को हिलाकर रख दिया। इसने सरकार एवं जनता के संबंधों को भी एक नई दिशा दे दी। पहले जहाँ सूचना मुट्ठीभर लोगों तक सीमित रहती थी, वहीं अब वह जनसामान्य तक पहुँचने लगी। इंटरनेट नेटवर्क पर आधारित एक सिविल सोसाइटी अस्तित्व में आई।

मीडिया के साथ-साथ सोशल मीडिया भी प्रजातंत्र के एक गैर-औपचारिक स्तंभ के रूप में देखा जाने लगा। समाजवादी व्यवस्था के विघटन के साथ बुर्जुआ एवं सर्वहारा के बीच विभाजन का मुद्दा तो समाप्त हो गया, परंतु एक ग्लोबल कॉमन्स (Global Commons) की एक अवधारणा विकसित हुई, जहाँ मार्क्सवाद का परंपरागत नारा रहा था- 'दुनिया के मजदूरों एक हो' (Workers of the World Unite), वहीं एक नया नारा अस्तित्व में आया 'दुनिया के लोगों नेटवर्क से जुड़ो (The people of the World login)। ये वे ग्लोबल कॉमन्स (Global Commons) हैं, जो न्यूयॉर्क एवं लंदन के 'Occupy London Movement' से लेकर भारत के इंडिया गेट के कैंडल मार्च (Candle March) में शामिल दिखते हैं।

फिर हाल में चतुर्थ औद्योगिक क्रांति (Fourth Industrial Revolution) का आरंभ भी माना जाता है। यह कहीं अधिक विकसित प्रौद्योगिकी पर आधारित है; यथा- इंटरनेट आफ द थिंग्स

(Internet of the Things), बायोटेक्नोलॉजी (Biotechnology), आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (Artificial Intelligence), थ्री-डी प्रिंटर (3-D Printer)। यह विश्व अर्थव्यवस्था, राजनीति एवं समाज को किस प्रकार की दिशा देगी, यह अभी भविष्य के गर्भ में है, परंतु इस विषय में कई प्रकार की आशंकाएँ व्यक्त की जा रही हैं।

पीछे भी हमने देखा कि विज्ञान एवं तकनीकी ने समकालीन समाज को एक नई दिशा दी थी। अत: अनुमान किया जा सकता है कि चतुर्थ औद्योगिक क्रांति भी समकालीन, अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति को एक नई दिशा देगी।

रोबोटिक्स और आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के रोज़गार पर प्रभाव को लेकर प्राय: दो प्रकार के मत देखने को मिलते हैं। प्रथम मत यह है कि यह उत्पादन का केंद्रीयकरण कर श्रम को विस्थापित करेगा, वहीं एक दूसरा मत यह कहता है कि इसकी भूमिका महज अति गुणवत्तापूर्ण कार्यों में होगी, जबकि मध्यवर्ती और निचले स्तर पर श्रम की आवश्यकता बनी रहेगी, इसलिये ये तकनीकी रोज़गार का संवर्द्धन करेंगे, न कि उसे छीनेंगे। जो विशेषज्ञ यह मानकर चलते हैं कि ये उत्पादन का केंद्रीयकरण और श्रम को विस्थापित करेंगे, वे यह मानते हैं कि ये आर्थिक और सामाजिक विभाजन को बढ़ाएंगे क्योंकि एक तरफ पूंजी का संचय बढ़ेगा, वहीं दूसरी तरफ उत्पादन में मजदूरी का अंश कम होगा। अत: निम्न तबके के लोगों के आर्थिक-सामाजिक उत्थान के लिये यूनिवर्सल बेसिक इनकम को लागू करना आवश्यक हो जाएगा।

इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों के भी प्रभावित होने की आशंका व्यक्त की जा रही है। जैसा कि हमने देखा है कि तृतीय औद्योगिक क्रांति के काल में आउटसोर्सिंग और ऑफशोरिंग (Outsourcing and offshoring) के कारण पश्चिमी देशों से रोज़गार छिनकर विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाओं तक पहुँचा था। अब चौथी औद्योगिक क्रांति के पश्चात् यह संभावना व्यक्त की जा रही है कि यह रोज़गार दोबारा लौटकर पश्चिमी देशों में चला जाएगा, क्योंकि तकनीकी, जनसंख्या की कमी को पूरा कर देगी।

फिर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल विचारधारा एवं संस्थाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आता रहा है। प्रथम, औद्योगिक क्रांति के साथ आधुनिकता एवं प्रजातंत्र आदि का प्रवर्तन (Enforcement) हुआ था, परंतु क्या तृतीय औद्योगिक क्रांति और चतुर्थ औद्योगिक क्रांति के युग में 'प्रजातंत्र' (Democracy), 'सत्य' (Truth) सबका अर्थ एवं परिभाषा बदल जाएगी?

एक आम धारणा है कि हम लोग 'पोस्ट डेमोक्रेसी' युग में पहुँच चुके हैं, जहाँ प्रजातंत्र को मजबूत बनाने वाले उपकरण ही प्रजातंत्र के विनाशक की भूमिका निभाने लगे हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि जनमत प्रजातंत्र की शक्ति रही है, परंतु अत्याधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग कर दक्षिणपंथी विचारों वाली सरकारें जनमत को गुमराह कर प्रजातंत्र का विनाश करने में लगी हुई हैं। उसी तरह एक धारणा यह भी है कि हमारा समाज `Post Truth' युग में पहुँच चुका है। यह वह अवस्था है, जब Truth और Untruth के बीच विभाजन रेखा खींचना मुश्किल हो गया है। सूचना प्रौद्योगिकी और सोशल मीडिया का उपयोग कर Untruth को Truth की तरह लोगों के बीच पहुँचा दिया जाता है और लोग उसे समझ नहीं पाते हैं।

इसलिये हमारे सामने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं-

- क्या वर्तमान विश्व समुदाय पर्यावरण संकट एवं आतंकवाद जैसे विध्वंसक मुद्दे का समाधान ढूँढ़ सकेगा?
- प्रजातांत्रिक व्यवस्था का भविष्य और दिशा क्या होगी- अधिक प्रजातंत्र की ओर अथवा प्रजातंत्र के विनाश की ओर?
- क्या पूँजीवादी आर्थिक मॉडल धारणीय (Sustainable) हो सकेगा और अगर पूँजीवाद नहीं, तो फिर इसका विकल्प क्या है?

इन तमाम प्रश्नों का उत्तर आगे आने वाला समय प्रस्तुत करेगा, परंतु हम अपनी सोच में आशावादी रहें। इतिहास से हमने सीख लिया है कि पिछले लगभग तीन हजार वर्षों में मानव सभ्यता ने इस तरह की अनेक चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत किया है और आगे भी करती रहेगी।

■■■